।। कृण्वन्तो विश्वमार्यम् ।।

भारतीय संस्कृति के विश्वसंचार की रोमाञ्चकारी गाथा

डॉ. शरद हेबाळकर

प्रकाशक
श्री बाबासाहब (उमाकान्त केशव) आपटे स्मारक समिति
महाल, नागपूर - ४४० ०३२
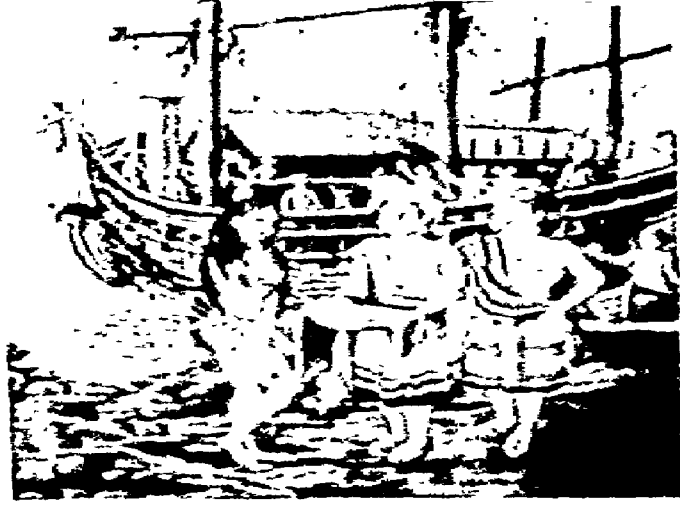
कृण्वन्तो विश्वमार्यम् ।

प्रकाशक

श्री बाबासाहब (उमाकान्त केशव) आपटे स्मारक समिति
महाल, नागपूर ४४० ००२

मुद्रक

एनलाईन डिजीटल ग्राफिक्स,
झाँसी राणी चौक, सिताबर्डी, नागपूर

लेखक

डॉ. शरद हेबाळकर
धारिणी, आदर्श कॉलनी, अंबाजोगाई (महाराष्ट्र) ४३१५१७

मुखपृष्ठ

व्ही. एम्. पंडीत
अंबाजोगाई (महाराष्ट्र)

प्रथम संस्करण युगाब्द ५१०६ (ख्रि. २००४)

मूल्य रू. १५०/-

समर्पणम्

[illegible]नामवनीतले तनुभृतां वस्तिर्यदाऽऽसीत् पुरा।
अज्ञास्ते वसनैर्विनैव सततं सृष्टौ रमन्ते स्म हे॥
आसन्नस्फुटदीनशब्दरहितास्तद् भावना केवलीः
शक्या तेषु हि कल्पनापि नच सा यत् स्वं विना जीवनम्॥

कालेऽस्मिन् भुवने तदाऽऽविरभवत् स प्रेषितो नैव हि।
न ज्ञातोऽप्यनुबन्ध जीवजडयोः स्वल्पोऽपि सृष्टिस्थयोः॥
आद्यः प्रादुरभून्नरो हिमगिरेरासेतुरस्यां भुवि।
सम्प्राक्ष्याब्धिमिलङ्घयन् गिरिगणान् स प्रस्थितो यात्रिकः॥

आयुर्मार्गदृशं सुसंस्कृतमिमं सङ्गृह्य धर्मध्वजं।
तत्स्रोतांसि हि प्रस्थितानि च ततश्चैतन्यसामर्थ्ययोः॥
जेतारो ह्यभवन्नुदङ्दिशि समालभ्याद्रिराजाशिषम्।
अब्ध्युल्लङ्घ्यगतानि प्राग्वरुणदिग्व्याप्यावशिष्टानिच॥

ज्ञाताज्ञाततथा ऽप्यगस्ति मनुगाश्चामेयवीरास्तु ये।
जाताः पुण्यभुवौ सदा समभवन् ये पुण्यभूभूषणाः॥
भोऽगस्त्यमृतसूनवः सुकवनं यश्चेतिहासोऽपि वः।
दिव्यं ते ऽर्पणमस्तुमद्भुतमिदं कार्यं महर्षे महद्॥

भूमिका

इन्द्रं वर्धन्तो असुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम्
अपघ्नन्तो अराव्णः।। (ऋ. ९ : ६३: ५)

"निध्रुवि काश्यप ऋषिने पवमान सोमरुपी देवता का आवाहन करते हुए कहा 'सोमरुपी देवता समग्र विश्व को श्रेष्ठ संस्कृति की दीक्षा प्रदान करनेवाले है। तथा इन्द्र को उत्साह देनेवाले, शत्रुनाशक एवं जलप्रेरक देवता है।"

जिस काल में सोमरुपी देवता का आवाहन करते हुए ऋषियो ने ' कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' के संकल्प को प्रकट किया उस काल का निर्धारण करने के सभी प्रयास व्यर्थ सिद्ध हुए है। परन्तु ऋग्वैदिक युग के समाप्ति का काल निश्चित हुआ है। वह लगभग कलियुगाब्द पूर्व के प्रथम सहस्त्राब्दि में अर्थात ख्रिस्तपूर्व चौथी सहस्त्राब्दि में आ जाता है। कलियुगाब्द के प्रारंभ के समय अर्थात पाँच सहस्त्र वर्ष पूर्व उत्तरवेद काल का प्रारंभ हो गया था। सिंधु संस्कृति कोई अलग संस्कृति नही, उत्तरवेद कालीन भारतीय संस्कृति है।

एशिया, आफिका, युरोप एवं अमेरिका की प्राचीन सभ्यताओं को जन्म देनेवाले, भारतीय संस्कृति से अर्थात सारस्वत सभ्यता से प्रभावित जन ही थे। अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना के गत तीस वर्षों के निरन्तर चले ऐतिहासिक अनुसन्धान के सफल प्रयास के कारण इस दृष्टिसे दो संदर्भ ग्रंथों का निर्माण भी हो चुका है। गोरखपुर के विव्दान मनीषि डॉ. शिवाजी सिंह ने 'ऋग्वेदिक आर्य और सरस्वती सिंधु सभ्यता' इस ग्रंथ व्दारा भारतीय इतिहास के आज तक के सारे भ्रमित एवं तथ्यहीन सिद्धान्तों को निर्णायक रूप में निरस्त कर दिया है। इस विषय के पाश्चात्य विव्दानों व्दारा प्रस्थापित आज तक के सभी सन्दर्भ अब तर्कहीन और तथ्यहीन सिद्ध हो गये है।

विख्यात पुरातत्त्वज्ञ डॉ. वि. श्री. वाकणकरजी के नेतृत्व में १८८५ को लुप्त सरस्वती नदी का प्रथम शोध अभियान.सम्पन्न हुआ। अब बीस वर्षों के पश्चात् डॉ. कल्याणरामण ने सरस्वती पर सात खण्डात्मक ग्रंथों व्दारा सरस्वती नदी तंत्र, सारस्वत सभ्यता, सरस्वती अभिलेख आदि विषयों के आधार पर ऋग्वेदिक संस्कृति के उज्ज्वल अतीत को उजागर कर दिया है।

विश्व के इतिहास का समान सूत्र

डॉ. शिवाजी सिंह और डॉ. कल्याण रामण इनके यह संदर्भ ग्रंथ भारतीय इतिहास लेखन को एक नयी वैज्ञानिक दृष्टि प्रदान करते है। प्रस्तुत ग्रंथ का विषय भारतीय संस्कृति के विश्वसञ्चार का है। भारतीय ऋषिओं ने विश्व की समस्त मानवजाति को कभी वर्बर, जंगली, आदिवासी नही कहा वरन् अमृतपुत्र कहा। सभी से बंधुत्व का नाता जोडकर उन्हे आर्यत्त्व प्रदान किया अर्थात् सुसंस्कृत बनाया। आज के भारतीय उन्ही प्रकाशमान ऋषिओं की आज की सन्तान है। पूर्वजों के विश्व अभियान की यह रोमांचकारी गाथा है। वाङ्मयीन साधनों के साथ साथ इस गाथा के पुरातात्विक आधार भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हो रहे है।

आज तक विश्व की प्राचीन सभ्यताओं के परिप्रेक्ष्य में भारतीय इतिहास का लेखन होता आ रहा है। परंतु अब नये नये ऐतिहासिक और पुरातत्वीय खोज भारतीय संस्कृति की ओर अंगुलिनिर्देश करते हुए इस तथ्य को प्रकट करते है कि विश्व के प्राचीन इतिहास का लेखन भारतीय इतिहास के परिप्रेक्ष्य में करनाही कालसुसंगत होगा। विश्व की प्राचीन सभ्यताएँ स्वतंत्र, अलग, अकेली नहीं थी सारी सभ्यताओं में एक समान सूत्र था। वह सूत्र था भारतीय संस्कृति का। भौतिक उन्नति के साथ आध्यात्मिक उन्नति की विचारधारा सभी सभ्यताओं में समान थी जो उन्हे भारत से प्राप्त हुई थी। प्रस्तुत ग्रंथ में इस पैलू को भी प्रकाशमान करने का प्रयास किया है।

भारतीय कालगणना (कलियुगाब्द) का उपयोग -

जिस कालगणना का उपयोग इस ग्रंथ में किया है वह भारत की अर्थात विश्व की भी सबसे प्राचीन एवं पूर्णतः खगोलशास्त्र पर आधारित वैज्ञानिक कालगणना है। विश्व की अन्य प्राचीन सभ्यताओं की अपनी कालगणनाएँ थी परंतु उन सभ्यताओं के साथ उन का भी लोप हो गया। भारत के इतिहास की महत्त्वपूर्ण ज्ञात घटना है भारतीय युद्ध की। लगभग पाँच सहस्त्र वर्ष पूर्व (ख्रि.पू. ३१०२) यह घटना हुई। युगगणना के अनुसार इस महाभारतीय युद्ध के पश्चात सातवें वैवस्वत मन्वन्तर का २८ वा महायुग और इस महायुग का चौथा युग याने कलियुग प्रारंभ हो गया। तबसे कलियुगाब्द की कालगणना का प्रचलन हुआ, जो भारत में पाँच सहस्त्र वर्षो से निरन्तर चलता आया है और आज भी भारत के सभी पंचांगों में उस का उल्लेख रहता ही है।

भारत का इतिहास भारतीय कालगणना के अनुसार लिखा जाए यही तर्कसुसंगत होगा। ख्रिस्ताब्द की कालगणना कोई वैज्ञानिक आधारपर निश्चित की हुई नही है। येशू ख्रिस्त के जन्म को विश्व की एक असाधारण घटना मानकर उसका प्रचलन अर्वाचीन काल में किया गया। भारतीय कालगणानाही एकमेव उपयुक्त कालगणना होने के कारण कलियुगाब्द का प्रयोग इस ग्रंथ में किया है। ख्रिस्ती कालगणना आज प्रचलित होने के कारण कलियुगाब्द के साथ ख्रिस्ताब्द भी दिया है।

कालरेखा -

विश्व की प्राचीन सभ्यताओं के काल पुरातात्विक आधार पर निश्चित किये हुए है। इन कालनिश्चिती में भी विश्व के सभी पुरातत्वज्ञ और इतिहासकार सहमत नही है। हर एक का अपना कोई मत होता है। कार्बन डेटिंग जो विश्वसनीय माना जाता था वह भी विव्दानों की दृष्टि से संदेह के परे नही है। ऐसी अवस्था में आज की प्रचलित मान्यताओं के आधार पर भारतीय संस्कृति और विश्व की प्राचीन सभ्यताएँ इनका तुलनात्मक कालपट प्रस्तुत ग्रंथ में दिया है।

प्राचीन एवं वर्तमानकालीन स्थलनाम -

स्थान स्थान पर कुछ मानचित्र दिये हुए है। मानचित्रों में नगरों के वर्तमान नामों के साथ प्राचीन नामों को भी निर्देशित किया है। उन का स्पष्टीकरण उस देश का विवरण जिस अध्याय में है वहाँ पर दिया है। जैसे दक्षिण अमेरिका में स्थित अन्देस पर्वतपर दस हजार फूट की उँचाई पर तितिकाका (Titicaca) सरोवर है। स्थानिक उच्चारण के अनुसार वह 'तितिक्सा' सरोवर है जो मूल स्वरूप में 'तितिक्षा' नाम हो सकता है।

जनश्रुतियाँ

जनश्रुतियों को इतिहासलेखन का ठोस आधार नहीं माना जाता फिर भी उनका उगम मूलतः किसी ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक वास्तव घटना में ही होता है। पीढी दर पीढी सहस्त्रो वर्ष जनश्रुति के माध्यम से उस घटना की स्मृति समाज के मानसपटल पर सुरक्षित रहती है। जनश्रुतियों को भी ऐतिहासिक दृष्टि से उजागर करने का प्रयास किया है।

वाङ्मयीन साधन

श्रुति एवं स्मृति वाङ्मय के साथ रामायण, महाभारत और पुराण भारतीय इतिहास लेखन के साधनग्रंथ है। इन ग्रंथों में केवल भारत भूमि के ही नही तो विश्व के भी अन्य भूप्रदेशों के इतिहास और भूगोल के संकेत प्राप्त होते है। पाश्चात्य विव्दानों ने प्रथम इन ग्रंथों को इतिहास के साधन मानने से इन्कार किया था। परन्तु अब इन ग्रंथों में उल्लेखित घटनाओं को पुरातात्विक आधार प्राप्त हो रहे हैं। उत्खननित 'व्दारका' के कालनिश्चिती पर विव्दानों की सहमती भले ही ना हो परंतु महाभारत में उल्लेखित व्दारका नगरी के वास्तव को नकारा नहीं जा सकता। दुर्भाग्य से भारतीय इतिहास और पुरातत्व की ओर विव्दान् साशंकता से ही देखते आये है। तथ्य को स्वीकार करने की मानसिकता अनेक भारतीय विव्दानों में भी अभावस्वरूप ही दिखाई देती है।

युरोप में होमर के काव्य को भी युरोपीय विव्दान कपोलकल्पित गाथा ही मानते थे। हेन्रिच श्लीमन जो कोई पुरातत्व शास्त्रज्ञ नही था उसे होमर का काव्य इतिहास होने पर विश्वास था। उसने स्वयं अपने ही साहस और आर्थिक आधार पर उत्खनन किया और अतीत की वैभवशाली सभ्यता को

उजागर किया। क्या इतिहास और पुरातत्त्व के आधार पर चलनेवाली प्रक्रिया का प्रारंभ नकारात्मक और साशंकता की मानसिकता से करना यही वैज्ञानिक दृष्टिकोण है?

संदर्भ एवं ग्रंथसूचि -

इतिहास ग्रंथ में लिखे हर एक वाक्य को वह वाक्य कौनसे ग्रंथ से उद्धृत किया है इस का संदर्भ देने की पद्धति होती है। वह स्वाभाविक ही है। परंतु आखिर वे भी तो गौण संदर्भ होते है। भारत के प्राचीन इतिहास में ग्रीक सोर्सेस को बडा महत्त्वपूर्ण माना जाता है। परंतु 'इंडिका' जैसे ग्रंथ मूलतः उपलब्धही नही है। मूल ग्रंथों के लेखन के चार पाँच सौ वर्ष के पश्चात अन्य लेखकों ने उन ग्रंथों के कुछ संदर्भ दिये, उन का संकलन करके उस विवरण को इतिहास का आधार माना गया। विद्वानों की सावध और साशंक दृष्टि इन आधारों को निर्णायक रूप में मानती है। यह प्रवंचना है। फिर भी इन दुय्यम स्तर के आधारों का कुछ मूल्य अवश्य है। इन आधारों की यह मर्यादा ध्यान में रखकर जहाँ आवश्यक हो वहाँ पर उन का संदर्भ दिया है। ग्रंथ के अंत में ग्रंथसूचि दी हुई है।

विश्व में दृग्गोचर भारतीय संस्कृति के पदचिन्ह -

भारतीय संस्कृति के जो पदचिन्ह युरोप और एशिया में दृग्गोचर होते है वे भारतीय संस्कृति का प्रभाव स्पष्ट करने की दृष्टी से पर्याप्त मात्रा में उपयुक्त सिद्ध होते है। मेक्सिको में प्राप्त महानाविक वसुलुण का ब्राह्मी अभिलेख, दक्षिण अमेरिका में प्राप्त शिव और गणेश के चित्र, बोघाजकुई के उत्खनन में प्राप्त देवी का मन्दिर, इटाली में प्राप्त रामायणकथा के चित्र आदि प्रमाणों का अन्य कोई निष्कर्ष नही हो सकता।

ईसाई एवं मुस्लिम अनुयायीओं के अनार्य प्रवृत्ति के कारण विश्व की प्राचीन सभ्यताएँ अपना परिचय खो बैठी। अफगानिस्तान से लेकर सीरिया और इजिप्त तक सभी भूप्रदेश में देवी देवताओं के मन्दिर थे। नित्य उपासना अर्चना चलती थी। येशु खिस्त के अवतरित होने के केवल तीन सौ वर्ष पश्चात ईसाई धर्म ने धर्मांध और कट्टरवादी रूप धारण किया।

खिस्ताब्द की चौथी शती के प्रारंभ में ईसाई पादरी ग्रेगरी ने आरमीनिया में मन्दिर और देवताओं की मूर्तियाँ तोडने का ही अभियान चलाया था। मन्दिर को तोडकर गिरीजाघर बनाना यह प्रथा आज तक चलती आयी है। मुस्लीम कट्टरता ने तो सारे विश्व को ही घिनौनी चुनौती दी। मूर्तियाँ तोडकर वहाँ पर क्रॉस खडा करना और मूर्तियाँ तोडकर मन्दिर को मस्जिद बनाना यह ईसाई और मुस्लीम सभ्यता का प्रारंभ से आज तक का व्यवहार रहा है।

इस प्रकार के धार्मिक और साथ में राजनैतिक आक्रमणों से भारत दो सहस्त्र वर्षों से लगातार संघर्ष करता आया और संघर्ष में विजयी भी रहा जिस के फलस्वरूप भारत में आज भी उसी प्राचीन वैदिक संस्कृति की धारा अखण्डित प्रवाहित होती दिखाई देती है। इसी परिप्रेक्ष्य में

भारतीय संस्कृति के विश्वसंचार की गाथा को उजागर करना यही इस ग्रंथलेखन का उद्देश्य है।

ऋणनिर्देश -

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के आद्य प्रचारक कै. श्री. बाबासाहब आपटे, जिनकी प्रेरणा से अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना के कार्य का प्रारंभ हुआ उन के जन्मशताब्दी के वर्ष में इस ग्रंथ का प्रकाशन हो रहा है। यह मेरे लिये सौभाग्य की बात है। इस विषय का अभ्यास मैंने १९७५ में आपात्काल में नासिकरोड जेल में मैं स्थानबद्ध था तब प्रारंभ किया था। उस के फलस्वरूप 'भारतीय संस्कृति का विश्वसञ्चार' इस पुस्तक का प्रकाशन दिल्ली के सुरुचि प्रकाशन व्दारा हुआ था। पद्मश्री डॉ. विष्णु श्रीधर वाकणकरजी की प्रस्तावना उस ग्रंथ को प्राप्त हुई थी। आज वे नहीं है। लगभग १९६५ से मुझे निरन्तर प्रेरित करनेवाले मार्गदर्शक श्री. मोरोपंतजी पिंगळे भी नही रहे। इन ऋषितुल्य व्यक्तिओं ने समाज के अनगिनत व्यक्तिओं को प्रेरणा दी। उन में से एक मैं भी हूँ।

अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना के मा. अध्यक्ष डॉ. ठाकूरप्रसादजी वर्मा प्राचीन भारतीय इतिहास के क्षेत्र में अधिकारी व्यक्ति है। उन्होंने एक एक अध्याय का अवलोकन करके आवश्यक सूचनाएँ दी। मंदिर स्थापत्य एवं मूर्तिविज्ञान के विख्यात तज्ञ डॉ. गो.बं. देगलूरकरजी ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि से ग्रंथ का अवलोकन करके मार्गदर्शन किया। इस ग्रंथ में दिये हुए सुंदर छायाचित्र भी उन्होंने ही उपलब्ध कराएँ। इन दोनों के मार्गदर्शन के कारण ही इस ग्रंथ को अधिकृतता प्राप्त हो गयी है। मा. श्री. सुरेशजी सोनी अ.भा.इ. संकलन योजना के मार्गदर्शी है। 'हाँ शरदजी, कहाँ तक आया आपका विश्वसञ्चार' यह उन के शब्द अभी भी कानों में गूँजते है। हंसते खेलते तनावमुक्त कार्य की प्रेरणा देने की उन की शैली के कारण कई बार निराशा के संकट से मैं बचता रहा। अखिल भारतीय संघटनमंत्री श्री हरिभाऊजी वझे, जिन के संपर्क में मैं सातत्य से रहता आया हूँ, उन के सामने ही यह लेखनप्रक्रिया चलती रही। अनेक विषयों पर उन से खुलकर चर्चा करके उन का मार्गदर्शन प्राप्त करता था।

इन सभी का ऋण व्यक्त करना शब्दों में संभव नही है। इन्होंने मुझ से यह करवाया है। मै केवल निमित्त हूँ।

नागपूर के विश्व संवाद केंद्र के श्री. सुधीरजी वऱ्हाडपांडे प्रारंभ से ही मेरे साथ रहे। अनेकानेक कार्यों में पूरी तरह व्यस्त होते हुए भी, पता नही कैसे मेरे काम के लिए भी वे समय निकालते रहे। डी.टी.पी. करवाने से लेकर लोकार्पण की सुंदर प्रती तैयार होने तक की सारी व्यवस्थाओं का उत्तरदायित्व उन्होने ही निभाया। साथ में ही निकट स्नेह की अनुभूती दी। मेरे एक स्नेही संस्कृत के विव्दान श्री. पटवारी महोदय ने मेरे मूल मराठी समर्पणकाव्य का संस्कृतानुवाद किया उन का भी मैं आभारी हूँ।

प्रा. डॉ. सुभाष तोष्णीवाल जीने हिंदी भाषा की दृष्टि से पूरे ग्रंथ का सूक्ष्मावलोकन किया उनका भी मैं आभारी हूँ।

लेखक के ग्रंथ को मूर्त रूप देकर पाठको के सामने उसको आकर्षक स्वरुप में उपस्थित करना यह केवल परिश्रम का और तांत्रिक कार्य नही होता। लेखक की भावना और विचारो के साथ एकरुपता होनेपर ही यह हो सकता है। इमेज स्कॅन के सञ्चालक श्री उमेशजी महाजन एवं उनके सहकारी इन्होंने इस ग्रंथ को मुद्रित किया। वे केवल धन्यवाद के नही अपितु अभिनन्दन के पात्र है।

इस ग्रंथ के विषयवस्तु की व्याप्ति विशाल है। कितनेही देशों के इतिहास का समावेश इस ग्रंथ में मैं नही कर सका। कुछ त्रुटियाँ भी होगी। पाठक बन्धुओ से मेरी प्रार्थना है कि त्रुटियो के लिये वे क्षमा करें और अपना अभिप्राय प्रेषित करें जिससे दूसरे संस्करण में मैं उनकी सूचनाओं का आदर कर सकूँ।

डॉ. शरद हेबाळकर
धारिणी, आदर्श कॉलनी
अंबाजोगाई (महाराष्ट्र) ४३१५१७

||ॐ||

उतिष्ठत! जाग्रत!!

यह विश्व का सर्वमान्य सिध्दान्त है कि, उपलब्ध वाङ्मय में ऋग्वेद सरस्वती की वीणा का प्रथम झंकार है। प्राचीन भारतीय ऋषियोंने ऋग्वेद मंत्रों का साक्षात्कार किया और महर्षि वेदव्यासजी ने उनका संकलन किया। ऋग्वेद में जिस संस्कृति का और समाज जीवन का वर्णन है वह मानव जीवन की अति-उच्च अवस्था है। वैदिक वाङ्मय के साथ उसी के अंगभूत उपनिषदों का भी विचार जब किया जाता है, तो एक समर्थ, उदार, अजेय एवं प्रज्ञासंपन्न, विश्वहितैषि मानव समूह का चित्र अंतःश्चक्षुओं के समक्ष उभरता है। प्राचीनतम भारतीय संस्कृति का यह मूल स्वरुप है। उसके पश्चात् भारतीय समाज में जो भी दिखता है वह वेदप्रणीत विचारदर्शन अथवा कालक्रम से उसमें आयी हुई विकृतियों के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वरुप जागृत विचारधाराएँ। इन क्रिया-प्रतिक्रियाओं के प्रवाह का परिणाम ही वर्तमान भारतीय संस्कृति का स्वरुप है।

इस भारतीय संस्कृति के मुख्य मूलाधार दो हैं - भारत वर्ष की भूमि और वैदिक वाङ्मय। भारत वर्ष की महत्ता का वर्णन करते हुए श्रीमद् भागवत में परमवीतराग संत श्री शुकदेव जी ने कहा -

अहो अमीषां किमकारि शोभनं
प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे
मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः।

'देवता भी भारतवर्ष में उत्पन्न हुए मनुष्यों की इस प्रकार महिमा गाते हैं, 'अहा! जिन जीवों ने भारत वर्ष में भगवान् की सेवा के योग्य मनुष्य - जन्म प्राप्त किया है, उन्होंने ऐसा क्या पुण्य किया है? अथवा इनपर स्वयं श्रीहरि ही प्रसन्न हो गये है? इस परम सौभाग्य के लिये तो निरन्तर हम भी तरसते रहते हैं।

महाभारत में महर्षि वेदव्यास जी भी उद्घोष करते हैं कि, भारत सभी का प्रिय राष्ट्र है - 'सर्वेषामेव राजेन्द्र प्रियं भारत भारतम्'। प्राचीन भारत वर्ष की इस प्रकार महिमा देश-विदेश

के साहित्य मे प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध होती है। यह स्वाभाविक भी है। क्योंकि, धन-धान्य से संपन्न यह देश सुवर्णभूमि कहलाता था। पुरुषार्थी वीरो के कारण यह अजेय था। यहाँ की प्रज्ञा एवं प्रतिभा संसार का सर्वोत्कृष्ट साहित्य सृजन कर रही थी। परिश्रमी एवं निष्ठावान कलाकार अपने अप्रतिम कौशल्य से महत्तम मंदिरो का निर्माण कर रहे थे। प्रजा सदाचार संपन्न, शांत एवं सुखी थी।

परिवर्तनशील संसार में घुमते हुए कालचक्र ने अभ्युदय के शिखरपर विराजमान इस महान देश को अवनति की ओर अग्रसारित किया और वर्वर आक्रमकों का ध्यान इस सुवर्णभूमि की ओर गया। इतने संपन्न समाज को लूटने के लिये उनका मन ललचाया और अनेक शताब्दियों तक यह सुवर्णभूमि पाशवी आक्रांताओं से लुटती रही। प्रदीर्घ काल प्रवाह में यहाँ के जनजीवन में भी स्वाभाविक मानवीय विकारों के कारण अनेक दोषों का प्रादुर्भाव को चुका था। उन अनेकविध कमजोरियों के कारण यद्यपि यह राष्ट्र आक्रमकों का भक्ष्य बनता रहा फिर भी लगभग एक सहस्त्राब्दितक इन भीषण आक्रमणों का यथाशक्ति प्रतिकार भारतीयों ने किया। और आक्रमण के झंझावात में भी अपनी प्राचीन संस्कृति एवं धर्म साधना का संरक्षण भी पूर्णतः नहीं तो भी बहुत बडी मात्रा में इस समाज ने किया।

वर्वर एवं संस्कृतिहीन मुघलों के आक्रमण से भी अधिक मूलगामी आक्रमण इस देश की संस्कृतिपर अंग्रेजों ने किया। आर्य चाणक्य के -

शस्त्रैर्हतास्तु रिपवो न हता भवन्ति
प्रज्ञाहतास्तु रिपवो सुहता भवन्ति

'शस्त्रों के द्वारा मारे गये शत्रु पूरी तरह नहीं मरते हैं, उनका सर्वनाश तभी हो सकता हैं जव वे प्रज्ञाहत हो याने उनकी वुद्धि मारी जाए।' इस उक्ति की जन्मघूँटी पीकर ही मानो यहां अंग्रेज राज्यकर्ता आये थे। उन्होंने व्यापार का माध्यम वनाकर धीरेधीरे यहां का राजतंत्र तो अपने हाथ में ले ही लिया किन्तु, ईसाइ धर्म के प्रचार हेतु ऐसे शैक्षणिक षड्यंत्र रचे जिनसे इस देश का भविष्यकालीन सारा विचार तंत्र भी उनके अनुकूल हो जाए। इसी दृष्टि से इ.स. १८३४ में भारत में शिक्षा प्रमुख वनतेही लॉर्ड मेकॉले ने पारंपरिक संस्कृत पाठशालाओं के अनुदान वंद करके, कॉलेज के तथाकथित संस्कृत अध्ययन को प्रोत्साहित किया। अपने पिता को लिखे हुए पत्र में (दि. १०-१२-१८३६) उन्होंने लिखा है -

"मैंने वनायी पद्धति से यहां शिक्षा क्रम चलता रहा, तो आगामी तीस वर्षो में वंगाल में एक भी हिंदू नही वचेगा, सारे ख्रिस्ती वन जायेंगे या फिर केवल पॉलिसी के लिए नाममात्र हिंदू (पॉलिटिकल हिंदू) वने रहेंगे। धर्मपर या वेदोंपर उनका विश्वास कतिपय नही रहेगा।

"स्पष्ट रुपसे हिंदू धर्म में हस्तक्षेप न करते हुए भी, वाह्यतः उनकी धार्मिक स्वतंत्रता

को कायम रखते हुए भी, हमारा उद्दिष्ट सफल होगा।"

तत्पश्चात् इ. स. १८५४ में अठ्ठाइस साल के युवा मॅक्समुल्लर को ईसाई धर्म के प्रसार हेतु वेदों का अनुवाद करने को प्रवृत्त किया जो उसने इ.स. १८५५ में आरंभ किया। मॅक्समुल्लर के द्वारा किया गया वेदानुसंधान कार्य परिश्रमजन्य एवं अध्ययन पूर्ण होनेपर भी उसका मूल हेतु वेद श्रद्धा को नष्ट करना यह रहा है। उसने अपनी पत्नी को पत्र में लिखा - "तीन हजार वर्षों से हिंदु हृदयों पर एकाधिकार रखनवाले वेदों को यदि समूल उखाड फेंकना हो, तो उसका एक मात्र उपाय है वेदों का अनुवाद करना।" (दि. ९-१२-१८६६) प्रो. टी. बी. मॅक्स्मुल्लरने अन्यत्र कहा है -

"India has been conquered once, but India must be conquered again and the second conquest should be a conquest by education" ...

अपने इस घृणित उद्देश्य को सफल बनाने हेतु अंग्रेजों ने पाँच अत्यंत गलत धारणाओं का चतुराई के साथ सिद्धान्तों के रुप में निर्माण एवं प्रचार, प्रसार किया। सामान्यतया ये अपसिद्धान्त निम्नानुसार है -

१) पृथ्वी का सारा इतिहास गत लगभग पाँच हजार वर्षों का ही है।

२) भारत के मूल निवासी द्रविड हैं और आर्य भारत में बाहरसे आये हुए आक्रांता हैं।

३) 'आर्य' शब्द वंशवाचक है।

४) वेद एवं वैदिक वाङ्मय गडरियों के गीतों जैसे सामान्य उद्गार तथा प्रकृतिसे भयभीत वन्य मानवों की प्रार्थना जैसे है।

५) अंग्रेजों के आगमन से पूर्व भारत सभ्यताहीन अविकसित देश रहा। यहां की जनता को सभ्यता एवं शिक्षा पद्धति अंग्रेजों ने प्रदान की।

प्रायः पाश्चात्य विद्वानों एवं इतिहास विदोंने जो कुछ लिखा उसमें ये धारणाएं गृहीत सिद्धान्तों के रुप में मूलभूत रही। इन धारणाओं को प्रमाणित एवं स्पष्ट करने के लिए अंग्रेज लेखकों ने परिश्रमपूर्वक अध्ययन किया और तथाकथित प्रमाण जोड-तोडकर भी जुटाने का प्रयास किया। कभी उन्होंने अज्ञानवश ऐसा किया किन्तु प्रायः भारतीय युवकों के मन में अपनी प्राचीन परंपराके लिए आदर न रहें और पाश्चात्य सभ्यता की तुलना में प्राचीन भारतीय संस्कृति उन्हें हलकी लगें, वे अंग्रेजों का गुणगान करें, उन्ही के अनुकरण में गौरव मानें और ईसायत के लिए उनके मन में अनुकूलता का भाव हो जाय यही इन लेखकों का प्रधान उद्देश्य रहा।

राजनीति में सफलता और कुटिलताभरी चालाकी के कारण अंग्रेज अपने उद्देश्य में सफल रहे। स्वामी विवेकानन्द के शिकागो भाषण के पूर्व का भारत और विशेष रुपसे बंगाल इसका ज्वलंत प्रमाण है। ब्राह्मो समाज, प्रार्थना समाज तथा अन्य भी शिक्षित भारतीयों में

सास्कृतिक हीन भावना कितनी भर गई होगी इसका अनुमान इसीसे लगा सकते हैं कि, योगी अरविंद के पिता श्री कृष्णधन घोष ने अपने दोनो वालको को वचपनमें ही इसलिए विलायत भेज दिया कि उनमें भारतीयता की वू न आवे। सभी नव शिक्षितोकी प्रायः यही अवस्था थी। पूरा राष्ट्र आत्मविस्मृति की गहरी खाई में गिर चुका था।

किन्तु गीता के 'सम्भवामि युगे युगे ....' इस वचनके अनुसार भगवद् अंश स्वरुप ठाकूर श्री रामकृष्ण देव, स्वामी विवेकानंद, स्वामी दयानंद सरस्वती, संत श्री गुलावराव महाराज, योगी अरविंद, आदि अनेक महापुरुषों ने इस भीषण तमिस्त्रा में प्रकाश का पथ दिखाया। भारत के पुनर्जागरण की मंगल प्रभात के ये अग्रदूत हैं। ये सत्पुरुष और ऐसे अन्य भी महापुरुषोंने अपनी साधना, तपस्या एवं आध्यात्मिक वलपर भारत की प्रसुप्त चेतना को जागृत करने का महान् कार्य किया। उसका अनेकों में संचार किया। और उपरोक्त पाँच अपसिद्धान्तों के काल्पनिक महल टूटने लगे। राष्ट्रीय अस्मिता का नया प्रवाह अस्खलित वह चला। डॉ. गाईल्स, नेहरिंग, वेम्फे, डॉ. वॅरिन, मॅक्समुल्लर, आदि पश्चिमी तथा उनके सदृश अन्य कुछ भारतीय विद्वानों के द्वारा प्रतिपादित आर्यो के वाहरसे भारत में आने के अपसिद्धान्त को श्री. पावगीशास्त्री, डॉ. संपूर्णानंद, अविनाशचंद्र दास, डॉ. राजवली पांडेय, के. एम्. मुन्शी, डॉ. पुसाळकर, दीनानाथ शास्त्री, चुलट, डॉ. फतेहसिंग, डॉ. पु. ना. ओक, डॉ. वि.श्री. वाकणकर, आदि विद्वानों ने पूरी तरह ध्वस्त कर दिया। संत श्री गुलावराव महाराज जी ने तो सारे विश्व में ही एकमात्र आर्य वैदिक संस्कृति फैली हुई थी इसका प्रखर प्रतिपादन किया। आर्य आगमन का सिद्धान्त गलत, अनैतिहासिक एवं अनुचित है। प्रत्युत् संसार की सभी जातियां मूलरुप से आर्य थी, संस्कार लोप के फलस्वरुप उन्हें म्लेंच्छत्त्व प्राप्त हुआ यह उनका प्रतिपादन रहा।

शनकैस्तु क्रियालोपात् इमाः क्षत्रिय जातयः।
वृषलत्वं गता लोके व्राह्मणानामदर्शनात् ।।

आर्य शव्द को वंशवाचक ठहराकर भारतीयों में फूट निर्माण करने का अंग्रेजों का षड्यंत्र भी टिक नहीं पाया। आर्य शव्द वंशवाचक नहीं किन्तु गुणवाचक है। आर्य का अर्थ सुसंस्कृत अथवा सदाचारी मनुष्य ऐसा ही है। यह वात श्री. गुलावराव महाराज ने तो कही ही थी। डॉ. आंवेडकर जी ने भी अपने - 'Who were the Shudras' इस ग्रंथ में आर्य शव्द के वंशवाचकत्व का समूल खंडन करके कहा कि, 'आर्य वंश के संदर्भ में यूरोपीय ग्रंथकारों का सिद्धान्त इतना मूर्खतापूर्ण है कि, उसे वहुत पहले ही नष्ट हो जाना चाहिए था।' इस तरह अनेक विद्वानों के अध्यवसायपूर्वक उपरोक्त सभी अपसिद्धान्तों का पूर्ण खंडन किया।

राष्ट्र चेतना की जागृति के इस पावन प्रवाह के अंतर्गत मा. डॉ. शरद हेवाळकरजी द्वारा लिखित 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' यह नूतन ग्रंथ राष्ट्र उत्थान के कार्य के नूतन आयाम तथा

विलक्षण प्रेरणा प्रदान करनेवाला सिद्ध होगा ऐसा मुझे दृढ विश्वास हैं। अपने इस अमूल्य योगदान से विश्व-संस्कृति का अध्ययन करनेवाले अभ्यासकों में वे हलचल निर्माण कर देंगे। पर्याप्त प्रमाणों के साथ अत्यंत परिश्रमपूर्वक एक ऐतिहासिक तथ्य विद्वानों के समक्ष विनय पूर्वक रखकर संस्कृति की अपूर्व सेवा उन्होंने की है। डॉ. हेबाळकर जी ने अपनी भूमिका विशद करते हुए लिखा है, 'आज तक विश्व की प्राचीन सभ्यताओं के परिप्रेक्ष्य में भारतीय इतिहास का लेखन होता आ रहा है। परंतु अब नये ऐतिहासिक और पुरातत्वीय खोज भारतीय संस्कृति की ओर अंगुलीनिर्देश करते हुए इस तथ्य को प्रकट करते है कि, विश्व की प्राचीन सभ्यताएं स्वतंत्र, अलग, अकेली नही थी। सारी सभ्यताओं में एक समान सूत्र था। वह सूत्र था भारतीय संस्कृति का।....' उनका यह विचार अत्यंत नवीन और भारतीय युवकों के दृष्टिकोन में क्रांतिकारी परिवर्तन लानेवाला प्रतीत होता है।

अपनी संस्कृति की ओर देखने का एक नया दृष्टिकोन इस ग्रंथ से प्राप्त होता है और अपने पुरुषार्थी पूर्वजों के लिए अंतःकरण में गौरव जागृत होता है। पराक्रम की प्रबल प्रेरणा इससे सहज प्राप्त होती है जो वर्तमान की मांग है।

इस ग्रंथ से केवल अपनी सांस्कृतिक महत्ता ही अनुभव नही होती, अपितु अन्य अनेक देशों का पूर्वेतिहास, उनका परिवर्तन, आदिकी जानकारी भी प्राप्त होती है। विभिन्न देशों का भारतीय संस्कृति से जो साम्य अथवा मेलजोल है उसका भी सुंदर विवेचन डॉ. हेबाळकरजीने किया है। इन देशों की विशेषताएं, स्थलवर्णन, प्रचलित नामोंका इतिहास, प्रसिद्ध व्यक्तित्व, आदि लगभग हर पहलूपर उन्होंने विस्तारसे निवेदन किया है। लेखक महोदय की अवलोकन क्षमता, परिश्रमपूर्ण व्यासंग, विषय के साथ तादात्म्य और निश्चित भूमिका देखकर मन प्रसन्न होता है। ब्रह्मदेश की जानकारी देते हुए महान सुवर्ण बुद्ध मंदिर, प्राचीन नगरी वैशाली, आध्यात्मिक जीवन की आत्मा पगोडा, पगाननगर (भूतपूर्व अरिमर्दनपूर) - ताम्रदीपोंका देश, इत्यादि बहुतस्थानों को संक्षेप में परिचित कराते हुए आवश्यकतानुसार वास्तु, शिल्प, आदि के फोटोग्राफ देते हुए पाठकों को वे एक अलग विश्व में ले जाते है। इसी प्रकार उन्होंने कम्बोडिया, थायलंड, लाओस, व्हिएतनाम, मलेशिया, इन्डोनेशिया, आदि बीस प्रदेशों की संस्कृति अपनी भारतीय संस्कृति से समानता रखती है इसलिए वे सभी देश भारत के घटक देश ही है ऐसा जो कहा वह गलत नहीं। यह प्राचीन बृहत्तर भारत का विहंगम दर्शन है। सभी का जो पुराना सम्बन्ध भारतीय संस्कृति से जुडा हुआ है उसका सुंदर प्रतिपादन यहां उपलब्ध है।

'वेस्टर्न आर्यस्थान' इस स्व. वसंतराव काणे लिखित अनुसंधान पुस्तिका में जिस तरहसे भारत से लोग बाहर गये और उन्होंने वहां वसाहत करके नगर निर्माण किये इसकी जानकारी देनेवाला मानचित्र मुद्रित किया था उसी प्रकार इस ग्रंथ में डॉ. हेबाळकरजीने 'भारतीय

संस्कृतिका विश्वसंचार' नाम से जो मानचित्र प्रस्तुत किया है उससे भारतीय लोगों की यात्रा करने की प्रवृत्ती तथा यात्रा के मार्ग वहुत कुछ वताते हैं। यहां का समाज संचार करके विभिन्न स्थानोंपर गया, वहां उसने निवास करके नगर निर्माण किये इसके पूरे प्रमाण मिलते हैं। भारतीय संस्कृति के विस्तार मार्ग से कहां कहां भारतीय संस्कृति का संवंध है उसकी जानकारी मिलती है। उन देशोंका भारत से कितना पुराना एवं सांस्कृतिक संवंध है यह पता चलता है। वहुतसे देशों में आज भी संस्कृत शब्दों का उनकी वोली में जो प्रयोग हो रहा है उसके कारण का पता चलता है।

विद्वान लेखक ने जिस तरह से स्थान वर्णन कराके वहां की संस्कृति का परिचय कराया उसी प्रकार हरेक देश के महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्वों का भी संक्षेप में परिचय करवा के अपनी संस्कृति संवंधी जानकारी प्रदान की है। इन व्यक्तित्वों का परिचय कराते समय उनका काल भी दिया हुआ है। इससे संस्कृति एवं शब्द माध्यम के वदलते हुए रुप ध्यान में आते हैं। वदलाव के कारण का भी पता लगता है। साथ ही साथ पुराने जमाने में 'भारतीय संस्कृति' से मेलजोल रखनेवाला वही समाज किस परिस्थिति में अपनी संस्कृति से विछुड गया इसका भी ज्ञान होता है।

डॉ. हेवाळकरजी का यह ग्रंथ विश्व का सांस्कृतिक परिचय कराने के साथ भारतीय संस्कृति का मूलस्त्रोत और उसका वेदों से जुडा हुआ संवंध इसका पूर्ण परिचय करने में सफल हुआ है। हमारे पूर्वजोंपर, वेदोंपर हमें गर्व करना चाहिए। साथ ही वेदों का रक्षण करना कितनी महत्त्वपूर्ण राष्ट्रसेवा है इस संवंधमें भी इसमें वहुत मार्गदर्शन मिलता है। डॉ. हेवाळकरजी का यह अनुसंधान किसी अभिनिवेशसे नही हुआ अपितु अपना कुछ नैतिक दायित्व है, कर्तव्य है इस भावना से उन्होने यह स्वदेश सेवा का कार्य किया है। लुप्त सरस्वती नदी और सारस्वत सभ्यता इस विषयपर मा. स्व. डॉ. विष्णुजी वाकणकर के नेतृत्व में जो मौलिक अनुसंधान कार्य आरंभ हुआ उसकी अगली कडी के रुप में यह ग्रंथ अत्यंत स्वागतार्ह है।

इस ग्रंथ का नाम 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' है। आर्य शब्द का अर्थ संत श्री गुलावराव महाराज ने -

कर्तव्यमाचरन् कार्य, अकर्तव्यमनाचरन् ।
तिष्ठति प्रकृताचारे स वै आर्य इति स्मृतः।।

'ऋ' धातु गति वाचक.तथा ज्ञानवाचक है। अतः आर्य याने ज्ञानसम्पन्न, पूजनीय, कर्तव्यों का पालन करते हुए निषिद्ध कृत्यों से वचनेवाला, धर्म का विचार करते हुए अज्ञान की ओर से ज्ञान की ओर वढनेवाला व्यक्ति ही आर्य है।' तदनुसार समस्त विश्वको आर्य वनाने का अर्थ सभी को सदाचार संपन्न एवं उन्नत वनाना है। यह भारत वर्ष का नियति के द्वारा निर्धारित कार्य है। और यह क्षमता भी इस देश के विचारोंमे ही है। इसीलिए राजर्षि मनुने घोषणा की कि,

पृथ्वी के सारे लोग इस देश के लोगों से अपना अपना चरित्र सीखें। प्रश्न उठता है कि, यह कार्य कैसे किया जाय? इसका मार्मिक विवेचन महाभारत के शांतिपर्व में उपलब्ध है। असंस्कृत जीवन जीनेवाले दस्युओं को संस्कृति संपन्न कैसे बनाया जाय ऐसा प्रश्न सम्राट मांधाता ने पूछा है और उसके उत्तर में विष्णुरुपधारि इंद्र ने उन्हे आर्य संस्कृति का अंग बनाने के लिए कुछ सूत्र दिये। प्रथम उन्हें माता-पिता एवं गुरु की सेवा का महत्व समझाया जाय। वैदिक कर्मकांडके जो सरल स्वरुप है उनके अनुसार उनसे धर्म कर्म कराया जाय। जनहित के लिए उन्हें कुएँ, बावडी, घाट, प्याऊं, इत्यादि बनाने की प्रेरणा दी जाय। अहिंसा, सत्य, अक्रोध, शौच, इत्यादि नैतिक एवं चारित्रिक व्रतोंका महत्त्व उन्हें समझाया जाय, इत्यादि। संक्षेप में उनके साथ आर्यो का सामाजिक अभिसरण हो। इस समरसतासेही सद्‌गुणोंका संक्रमण संभव होता है।

सभी को आर्य बनाने के लिए इस देश के युवकों को प्रथम स्वयं आर्य बनना होगा। जीवन को सदाचारमय एवं उन्नत बनाना होगा। विदेशियों की ओर देखनेसे पहले हमारे ही समाज के उपेक्षित अंगों को समरसता के माध्यमसे हिंदुत्व बोध कराना होगा। आज इसकी नितांत आवश्यकता है। इस महत् कार्य के लिए आवश्यक पर्याप्त जानकारी एवं प्रेरणा प्रस्तुत ग्रंथ में उपलब्ध है।

'श्रृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः' इस पवित्र वेदवाणी के साथ लय मिलाकर 'पठन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः' - हे मृत्युंजय संस्कृति के सुपुत्रो इस ग्रंथ को अवश्य पढिए ऐसा कहने का जिस ग्रंथ को देखकर वार बार मन होता है ऐसी यह मा. डॉ. शरद हेबाळकर जी की कृति प्रकाशित करके अ.भा. इतिहास संकलन समिति ने एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय कार्य संपन्न किया है। परमदेशभक्त स्व. पू. बाबासाहेब आपटे जी के जन्मशताब्दि निमित्त उनकी पुण्यस्मृति में यह अत्यंत औचित्यपूर्ण श्रद्धांजलि अर्पित करने के उपलक्ष्यमें समारोह समितिका हार्दिक अभिनंदन। इति ।

धर्मश्री, पुणे
दि. १/६/२००४
श्री शिवराज्यभिषेक दिन

भारतमाता की सेवा में
किशोर व्यास

अनुक्रम

कृण्वन्तो विश्वमार्यम्। चित्रसूचि।

अ.क्र.	अध्याय

२९. विजय (विन्हदिन्ह) (विएतनाम)
३०. चण्डी लारा जोग्रांग, शिव (प्रम्बनन-जावा)
३१. चण्डी सेवु (प्रम्बनन-जावा)
३२. चण्डी लारा जोग्रांग (प्रम्बनन-जावा)
३३. चण्डी कलसन् (प्रम्बनन-जावा)
३४. महिषासुर मर्दिनी दुर्गा, चण्डी सिंगासरी (प्रम्बनन-जावा)
३५. गणेश (प्रम्बनन, जावा)
३६. चण्डी किडाल, चण्डी सिंगासरी (प्रम्बनन-जावा)
३७. चण्डी वेन्तार मन्दिर (वालीद्वीप)
३८. विष्णु (जावा-इन्डोनेशिया)
३९. व्रह्मा (जावा-इन्डोनेशिया)
४०. वोरोवुदूर (जावा-इन्डोनेशिया)
४१. वोरोवुदूर के शिल्प (जावा-इन्डोनेशिया)
४२. हिन्दू पूजा पध्दति (वालीद्वीप)
४३. शिव (तिव्वत)
४४ यमान्तक शक्ति (तिव्वत)
४५. गायत्री मंत्र (तिव्वत)
४६. वुध्द (मंगोलिया)
४७. अक्षरमाला (मंगोलिया)
४८. व्रह्मा (चीन)
४९. कार्तिकेय (चीन)
५०. गणेश (चीन)
५१. महेश (चीन)
५२. वोधिसत्त्व (चीन)
५३. वुध्द (चीन)
५४. वुध्द (जापान)
५५. भारव्दाज (जापान)
५६. शिव (जापान)
५७. व्रह्मा (जापान)
५८. वीणावादिनी (जापान)
५९. उपासक (जापान)
६०. वसिष्ठ (जापान)
६१. मैत्रेय (जापान)

---

६२. बोधिसत्त्व (अफगानिस्तान)
६३. बुध्द (खोतान)
६४. योगी (क्विझिल)
६५. देव (बझाक्लिक)
६६. बुध्द (तुर्कस्तान)
६७. अवलोकितेश्वर (तुर्कस्तान)
६८. ब्राह्मी लेख - कुसे बंदर (लाल सागर)
६९. माहेश्वरी लेख (बाबिलोन)
७०. तेफ्रा (ग्रीस) प्राचीन नगर
७१. कोर्सिका द्वीप - प्राचीन ग्राम
७२. माल्टा - प्राचीन मन्दिर
७३. यक्षिणी - (इटाली)
७४. अ. समाधि पात्र से प्राप्त चित्र राम सीता लक्ष्मण (इटाली)
७५. धनुर्धारी पथक (ग्रीस)
७६ प्रवेशव्दार, माचू पिचू (द. अमेरिका)
७७. इंका राजाओं का स्थान (द. अमेरिका)
७८. इंका गढ.(पिझाक) (द. अमेरिका)
७९. पचकुटी इंका उपांकी
८०. अंतिम इंका नरेश - अतवाल्प
८१. मय प्रासाद पर्लेके (मेक्सिको)
८२. तेवतिवाकाननगर (मेक्सिको)
८३. मन्दिर एवं वेधशाला पर्लेके, (मेक्सिको)
८४. मन्दिर एवं वेधशाला चिचेन इत्सा (मेक्सिको)
८५. हलक उनिक (मेक्सिको)
८६. गणेश (मेक्सिको)
८७. सूर्य मन्दिर वेगराक्रुज (मध्य अमेरिका)
८८. शवपेटिका पर चित्र (मेक्सिको)
८९. सोने की नौका (कोलम्बिया)
९०. हाथी और स्वार (होन्दुरास)
९१ शिव और गणेश (ग्वातेमाला)
९२. व्दारपाल (होन्दुरास)
९३ हनुमान (होन्दुरास)

कृण्वन्तो विश्वमार्यम् । मानचित्र सूचि

मानचित्र क्रमांक

भारत, नाविकों का देश
समुद्रवलयांकित भूमि के 'अमृत पुत्र'

पच्चीस शताब्दियाँ वीत गयीं। रौद्ररुप सागर तब भी ऐसा ही था। धरती पर अनेक स्थानों पर छोटे-बड़े गुटों में मानव-समूह रहते ही थे।

परन्तु सच्चे अर्थों में सुसंस्कृत और विजिगीषु समाज इसी पुण्यभूमि भारत पर गौरवपूर्ण एवं सम्पन्न जीवन जी रहा था।

पुण्यभूमि के इन अमृत-पुत्रों को फिर भी सन्तोष नहीं था।

सहस्त्र योजन पर्यन्त सागर से वेष्टित इस भूमि के पुत्र कभी-कभी अशान्त हो उठते थे। इस सागर के उस पार क्या है? पश्चिम, पूर्व, दक्षिण में जहाँ सागर की अथाह तरंगे समाप्त होती हों, वहाँ क्या है?

वहाँ भी मानव-समूह होगा... स्यात् असंस्कृत.... प्रकृति से डरने वाला... पंच महाभूतों का रौद्र रूप देखकर चौंकने वाला ...।

अमृत-पुत्र सोचते... यह हमारा दायित्व है, इन सागरों को लांघकर जाना होगा। विश्व के सभी मानवों को सुसंस्कृत बनाना होगा, आर्य (श्रेष्ठ) बनाना होगा। उन्होंने निश्चय किया और प्राचीन समाघोष का पुनः उद्घोष किया : "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्"।

और फिर चल पड़ा साहसी भारतीय वीरों का अविरत, अखण्ड प्रवाह!

लहरों से जूझते हुए अनेक वीर सागर-पार गये। कौण्डिन्य नामक वीर ने फूनान की संस्कृति का निर्माण किया। कम्बु स्वयंभुव कम्बोडिया में पहुँचा। चम्पा और अनाम के बलाढ्य हिन्दु-राज्य उदित हुए। सुमात्रा में श्रीविजय राज्य वैभव के शिखर पर पहुँच गया।

अश्ववर्मन नामक साहसी वीर और आगे जाकर बोर्निओ पहुँचा। वहाँ से दक्षिण अमरिका मानो एक पुकार पर दिखाई देता था।

साहसी नाविकों की नौकाएँ अमरिका के तट पर भी लग गयीं। वहाँ आस्तिक अथवा मय संस्कृति का उदय हुआ।

पाँच सहस्र वर्ष पूर्व के पत्तन (बन्दरगाह)

असंख्य साहसी वीर, महत्वाकांक्षी युवक, व्यापारी, ऋषि, आचार्य उस काल में मातृभूमि से इतने दूर, इतने कष्ट सहकर कैसे गये?

भारतीय संस्कृति की प्रेरणा भी निराली है। इसी प्रेरणा में से फिर उसकी पूर्ति के लिए आवश्यक विज्ञान भी विकसित हुआ। पाँच हजार वर्ष पूर्व से भारतीयों की इस प्रगति को देख मन आश्चर्यचकित होता है। सिन्धु संस्कृति सबसे प्राचीन संस्कृति। निश्चित ही कम-से-कम पाँच हजार वर्ष पूर्व की। उत्खनन से प्राप्त हुए हड़प्पा, मोहन-जो-दड़ो में प्राचीन नगरों के अवशेष यहीं के है। (अब विभाजन के बाद पाकिस्तान में रह गये)।

इतिहास के अध्येताओं के लिए यह बात अशान्त करने वाली थी। उन्होंने प्रयास आरम्भ किये और उस सिन्धु संस्कृति के अनेक अवशेष खोज निकाले।

सौराष्ट्र का लोथल था ऐसा ही एक उत्खनन में प्राप्त नगर। कलियुगाब्द आठवी शती (ख्रि.पू. २४ वी शती) में निर्मित उत्कृष्ट समुद्रपत्तन (बन्दरगाह)। नितान्त शास्त्रशुद्ध प्रणाली से बना।

मिस्र, मेसापोटेमिया, ईरान आदि देशों के साथ इस समुद्रपत्तन से व्यापार चलता था। विविध देशों की रंगबिरंगी मालवाही नौकाएँ घाट पर खड़ी रहती थीं। मुम्बई अथवा विशाखापत्तन का घाट आज जितना बड़ा है, उतना ही लोथल का था। ७५४ फीट लम्बे और १२६ फीट चौड़े, ६० से ७५ टन माल ढोकर ले जाने वाले जलपोत अनायास सीधे घाट तक आ जाते थे। उसके लिए पूर्व - पश्चिम १४०० फीट लम्बी दीवार खड़ी कर सागर की तरंगों को अवरुद्ध करके ऐसा प्रबन्ध किया गया था कि भाटे के समय भी पोतों के लिए आवश्यक गहराई तक पानी बना रहे। नब्बे - सौ फीट लम्बे जो जलपोत लोथल के समुद्रपत्तन पर आते थे उनके जीर्णोद्धार एवं छोटी नौकाएँ बनाने की कर्मशाला भी वहां थी। भारत तीन सागरों की कोख में बसा हुआ है। पौने दो हजार कोस लम्बा पूर्व, पश्चिम और दक्षिण तट।

साहित्य में प्राप्त उल्लेख

लोथल से पत्तनों की जो मालिका आरम्भ होती थी वह कन्याकुमारी का चक्कर लगाकर ठेठ बंगाल के ताम्रलिप्ति समुद्रपत्तन तक थी। पश्चिम तट के सोपारा और भरुच के पत्तन भी विख्यात थे। सोपारा अर्थात् प्राचीन शूर्पारक और भरुच अर्थात् भृगुकच्छ। दो सहस्त्र वर्षों पूर्व का पेरिप्लस ऑफ द एरिथ्रिअस सी' नामक ग्रंथ है। उसका लेखक अपने ग्रन्थ में चोल, दाभोल, राजापुर, मालवण, गोवा, चेन्नानूर, कोट्टायम, कन्याकुमारी, कोणार्क, मसुलीपत्तन, नागपट्टम, कावेरीपट्टम आदि कितने ही समुद्रपत्तनों की जानकारी देता है। भरुच पत्तन का उल्लेख हरिवंश

में भृगुतीर्थ के नाम से हुआ है। भगवान श्रीकृष्ण के अपने अनेक गुरुबन्धुओं और गुरुवर्य आचार्य सान्दीपनि के साथ भृगुतीर्थ से सागर-मार्ग द्वारा प्रभासपत्तन जाने की घटना हरिवंश में आती है। द्वारिका, यादवों की राजधानी। वह तो समुद्र-तट पर ही थी। आज हम भूल से जिसे अरब सागर कहते हैं, उसका प्राचीन नाम रत्नाकर था। बंगाल की खाड़ी का नाम था महोदधि। प्राचीन साहित्य में समुद्र और उससे प्राप्त होने वाले हीरे, माणिक, मोती, समुद्र-मार्ग, जलयात्रा आदि के विषय में असंख्य रम्य कथाएँ यत्र-तत्र बिखरी पड़ी हैं। जातक में सैकड़ों यात्रियों को ले जाने वाले जलपोतों का उल्लेख है। दक्षिण के संगम साहित्य में, पुराणों और संस्कृत काव्यों में सर्वत्र पाल वाले जलपोतों के उल्लेख मिलते हैं।

शिल्प एवं चित्र

सिन्धु-संस्कृति के स्थानों में प्राप्त मुद्राओं एवं पात्रों पर जलपोतों के चित्र हैं। गोवा के पुराण वस्तु-संग्रहालय में एक शिल्प है। उसमें सद्योजात (नये बने) जलपोत को उसके अधिकारी को समर्पित किये जाने का प्रसंग शिल्पित किया गया है। उल्लेखनीय बात है कि वह जलपोत पहियों वाले वाहन पर रखा हुआ है।

भरहुत के शिल्प में चप्पू वाला पोत चित्रित है। साँची के स्तूप पर उत्कीर्ण शिल्प में अन्तर्गृह (केबिन) वाली नौका है।

अजिंठा (अजन्ता) के शिल्पचित्रों में तो भारतीय संस्कृति के प्राचीन इतिहास का साक्षात. दर्शन होता हे। पहली गुफा में ही मण्डपयुक्त राजनौका चित्रित मिलती है, तो दूसरी गुफा में तीन पालों वाले पोत का चित्र है। सत्रहवीं गुफा में एक युद्धपोत का चित्र हे। वह घोड़े और हाथी ले जाने वाला पोत है, जिस पर धनुर्धारी सैनिक भी हैं।

प्राचीन काल का प्रतिष्ठान के सातवाहनों का शासन तो स्वर्णयुग था। गौतमीपुत्र श्री सातकर्णी उस कुल का अति पराक्रमी सम्राट था। नासिक के शिलालेख में उसकी माता ने उसका गौरव किया है 'त्रिसमुद्रतोयपीतवाहन' कहकर, अर्थात् जिसके घोड़े तीनों समुद्रों का पानी पिये हैं, ऐसा श्री सातकर्णी!

इसी कुल के अश्वमेध यज्ञ करने वाले राजा यज्ञश्री श्रीसातकर्णी की रजत मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं, जिन पर दो पालों के जलपोत का चित्र है। तीनों सागरों पर स्वामित्व रखने वाले सम्राट के नौसैनिक सामर्थ्य का वह एक प्रतीक ही है।

पोत-निर्माण, एक प्रगत शास्त्र

इन सब प्राचीन उल्लेखों को देखने से कल्पना आती है कि उस काल में नौकानयन

वहुत आजकल का हुआ। उसके पूर्व कम से कम डेढ़ हजार वर्ष से भारतीय नाविक छः-छः मास सागर पर संचार करते थे। 'सिंहलावदान' नामक वौद्ध ग्रन्थ में राजपुत्र विजय और उसके सात सौ सेवकों के ताम्रलिप्ति से सिंहलद्वीप, अर्थात् श्रीलंका तक सागर-मार्ग से जाने का वर्णन है। हजारों मील की जल - यात्रा कर दक्षिण भारत के सैकड़ो वीर कम्बोडिया, वोर्निओ, फिलिपाइन्स तक पहुँचे थे, तव यह शास्त्र अपेक्षतया कितना प्रगत रहा होगा!

युक्तिकल्पतरु

काल की धारा से हम तक पहुँचा नौकाशास्त्र का एकमेव ग्रन्थ है धारा नगरी (धार) के राजा भोज द्वारा लिखित 'युक्तिकल्पतरु'। उसमें दी हुई जानकारी भी प्राचीन भारतीय शास्त्रज्ञों के विषय में समादर वृद्धिंगत करती है। उसमें वताया गया है कि नदी एवं सागर में परिवहन हेतु किस-किस प्रकार की नौकाएँ होनी चाहिए और उन्हें कैसे वनाया जाता है।

नौकाओं के दो प्रकार - साधारण नौका और विशेष नौका। विशेष नौकाओं में भी दीर्घ नौका और उन्नत नौका और फिर इन भिन्न-भिन्न नौकाओं के निर्माण का शास्त्र। दस प्रकार की साधारण नौकाओं, दस प्रकार की दीर्घ नौकाओं एवं पाँच प्रकार की उन्नत नौकाओं के निर्माण का विवरण उसमें मिलता है।

नौकाओं के लिए कौन-सी लकड़ी अच्छी, उसे किस वन से प्राप्त किया जाय, कैसे उसे सुखाया जाय, यहाँ से लेकर नौका के आकार तक की समग्र जानकारी उसमें है। नदी में यातायात के लिए २४ फीट X ६ फीट से लेकर १८० फीट X ९० फीट तक के आकार की नौकाएँ प्रयोग में थीं। सवसे छोटी दीर्घ नौका का माप ४८ फीट X ६ फीट वताया है। समुद्र - यात्रा के लिए प्रयुक्त वड़े जलपोत की लम्बाई २६४ फीट, चौड़ाई ३३ फीट और ऊँचाई २६ फीट वतायी है।

किस काम के लिए किस प्रकार की नौका वनवायें, इसका भी एक तन्त्र था। केवल नौकानयन अथवा जल-क्रिड़ा के लिए प्रयुक्त छोटे आकार की सुगठित नौका को 'मध्य मन्दिर नौका' कहते थे। राज-महिषियों की यात्रा अथवा राज-कोष, हाथी आदि को ढोने के लिए प्रयुक्त पोतों को 'सर्व मन्दिर जलपोत' कहा जाता था। शुष्क ऋतुओं, युद्ध - प्रसंगों अथवा नौसैनिक अभियान में जो विशेष नौकाएँ प्रयुक्त होती थीं, उन्हें 'अग्रदि पोत' कहा जाता था। इन सव पोतों पर आवश्यकतानुसार एक या अनेक कक्ष (केविन्स) वनाये जाते थे। वड़े पोत के चारों ओर वेलवूटेदार कटघरा होता था। पाल श्वेत-शुभ्र मोटे कपड़े के चौकोर रहते थे। आवश्यकतानुसार उन्हें ढीला करने, तानने या पूर्णतया उतार रखने के लिए रस्सियों और वाँस की सहायता से प्रवन्ध किया होता था। पोत-मुख का आकार सिंह, सर्प, हाथी आदि प्राणियों की मुखाकृति का

बनाया जाता था। इसके अतिरिक्त विविध प्रकार के पोतों को पहचानने हेतु उन्हें नीला, लाल पीला आदि रंग दिया जाता था। समुद्र-तरंगों के भीषण ताण्डव को सहने योग्य टिकाऊ बनावट के इन पोतों पर दीर्घकालीन प्रवास के लिए अति आवश्यक सभी सुख-सुविधाएँ रहती थीं। मीठे पानी का संचय, संकट-प्रसंग में उपयोगी छोटी सुरक्षा-नौकाएँ, अतिरिक्त रस्सियाँ और पाल-वस्त्र, खाद्य-सामग्री आदि अनेकानेक बातों का विचार किया जाता था।

'युक्तिकल्पतरु' में नौका-निर्माण का अति सूक्ष्म विचार किया हुआ दिखता है। समुद्र में छिपे हुए प्रस्तर अनेक बार अत्यन्त घातक रहते हैं। उनमें आकर्षण शक्ति, चुम्बकत्व रहता है। इस संकट से बचने के लिए नौका बनाते समय लोहे की कीलों का प्रयोग टालना चाहिए। दृढ़ रस्सियों का ही प्रयोग करना चाहिए। अन्यथा लोहे की कीलों से जुड़ा पोत किसी अज्ञात प्रस्तर पर टकराकर विदीर्ण हो जायेगा, ऐसी चेतावनी प्राचीन नौकाशास्त्र में दी गयी है।

दिशा-ज्ञान

संसार में शास्त्रशुद्ध ज्योतिर्विज्ञान एवं खगोल-विज्ञान का श्रीगणेश सर्वप्रथम भारत में हुआ। पृथ्वी की गति, ग्रह एवं तारों की गति और भ्रमण-पथ आदि का उत्कृष्ट ज्ञान प्राचीन भारतीयों को था। वेद एवं तैत्तिरीय ब्राम्हण में उसका विवेचन है। दिशा जानने के लिए वे इस ज्ञान का उपयोग करते थे।

'मत्स्य यन्त्र' अथवा 'लोह मत्स्य' (मैरिनर्स कम्पास) नामक एक उपकरण का उल्लेख कुछ स्थानों पर मिलता है। उससे लगता है कि चुम्बक सूची (मॅग्नेटिक नीडल) से बने किसी उपकरण का प्रयोग वे करते होंगे। भारतीय नाविक लोह मत्स्य का प्रयोग करते थे, ऐसा उल्लेख कुछ अरब यात्रियों ने किया है।

वर्षा-वातों एवं ऋतु-वातों का रहस्य

इसमें कोई सन्देह नहीं कि तीनों सागरों में सर्वदिक् अप्रतिहत संचार करने वाले नाविकों को वर्षा-वातों एवं ऋतु-वातों (मौसमी हवाओं) का पूर्ण ज्ञान था। किस काल में किस दिशा में यात्रा सम्भव है और वहाँ से वापस लौटने के लिए विपरीत वात कब चालू होते हैं, प्रचण्ड वेग के कारण संकट में डालने वाले वात कौन-से, लहरों की दिशा में साथ देने वाले मन्द वात कौन-से आदि का अचूक ज्ञान उन्हें था। नाविकों की प्राचीन परम्परा में ऐसे सोलह प्रकार के वातों की जानकारी का पता चलता है। बरसते पानी में पोत को सागर में एक स्थान पर स्थिर रखकर वर्षा के मीठे जल का संचय करने की प्रक्रिया उन्हें ज्ञात थी। झंझावात और तूफान के कारण निर्मित होने वाली भयंकर लहरों का सामना करना मानो उनके जीवन का दैनन्दिन प्रसंग था।

अनेक वर्षों और सैकड़ो नाविकों के अनुभवों में से यह शास्त्र विकसित हुआ था। नाविक

जहाँ भी जाते थे, वहाँ की पूरी जानकारी लेकर आते थे। उसके द्वारा निकटवर्ती और अल्पतर संकट के सागरीय मार्गों का निश्चय हुआ था। इन मार्गों के आलेख भी वे बनाते थे। आज दुर्भाग्य से वे आलेख और उनके अनुभव अद्यावधि प्रत्यक्ष उपलब्ध नहीं हैं। परन्तु स्ट्रैबो, मेगास्थेनिस, प्लिनी आदि प्राचीन इतिहासकार अथवा यात्री उसका प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। सातवीं शती में भारत आये हुए चीनी यात्री इत्सिंग ने अपना यात्रा-वृत्त लिख रखा है। वह चीन के कैण्टोन बन्दरगाह से चलकर श्रीविजय अर्थात् सुमात्रा द्वीप में आया। वहाँ से पुनः भारतीय जलपोत से उसने श्रीलंका की यात्रा की और श्रीलंका से समुद्र-मार्ग से ही वह ताम्रलिप्ति आया।

तीनों सागरों पर संचार

नाविकोंकी पश्चिम की ओर यात्रा मुख्यतः व्यापार हेतु होती थी, किन्तु वे जहाँ भी जाते, अपना धर्म और संस्कृति साथ ले जाते । मिस्त्र और यूनान मे भारतीय व्यापारियों ने अपने उपनिवेश स्थापित किये थे। हस्तिदन्त, हीरे, माणिक, मूल्यवान कौशेय (रेशमी) और सूती वस्त्र, चावल, काली मिर्च, इलायची, लौंग, दालचीनी, बेलबूटेदार पात्र आदि वस्तुओं का निर्यात होता था। उनका मूल्य शुद्ध स्वर्ण के रूप मे भारत में आता था। दक्षिण के वनों की चन्दन, सागौन और शीशम की लकड़ी भी प्रभूत मात्रा में विदेशों में जाती थी। यूनान, रोम आदि में उत्खनन में जो भवनों के अवशेष मिले हैं, उनमें भारत की लकड़ी प्रयुक्त हुई पायी गयी है। इसके अतिरिक्त मोती, कछुए के अण्डे, बड़े शंख और सीप, विविध प्रकार के भूषण, अलंकार आदि का भी निर्यात होता था। पश्चिम में मिस्त्र, यूनान, ईरान, और पूर्व में जापान, कोरिया, कम्बोडिया, इण्डोनेशिया आदि सब स्थानों को बड़ी मात्रा में वस्तुओं का निर्यात होता था।

रोमन महिलाएँ भारतीय वस्त्रो पर टूट पड़ती थीं। भारतीय बनावट की वस्तुओं का प्रयोग करना प्रतिष्ठा का लक्षण माना जाता था। वस्त्रों का निर्यात इतना अधिक था कि तत्कालीन रोमन विधायिका (सीनेट) ने अधिनियम बनाकर आयात पर बन्धन डाले थे, क्योंकि उन्हे अपनी अर्थव्यवस्था के प्रभावित होने का भय हो गया था।

परन्तु भारत वृत्ति से व्यापारी कभी नही रहा। भारतीयो ने व्यापार को प्रधान लक्ष्य कभी भी नहीं माना। उनका लक्ष्य था भारतीय संस्कृति का प्रसार। इस प्रसार-कार्य की भी उनकी अपनी एक प्रणाली थी। शस्त्र - बल से बलात् मतान्तर करने का विचार भी कभी उनके मन में नहीं आया।

मूल बात यह है कि जब भारतीय वीर अपनी संस्कृति का शुभ सन्देश लेकर चले, तब ईसा मसीह का जन्म भी नहीं हुआ था। पैगम्बर मुहम्मद का जन्म तो तब से सैकड़ों वर्ष बाद हुआ।

इतने प्राचीन काल में भारतीय संस्कृति का पूर्ण विकसित रूप प्रकट हो चुका था। उसका समुचित गौरव और स्वाभिमान धारण कर उसके सुपुत्र असंस्कृत मानव बन्धुओं के उद्धारार्थ दौड़ते थे।

बाधाएँ बहुत थीं, पर दो सहस्र वर्ष पूर्व के ये अगस्त्य समुद्र का उल्लंघन कर गये। उनके ये प्रयास वर्तमान और भावी भारतीयों के लिऐ चिरन्तन प्रेरणा के स्रोत है।

इस कार्य के लिए आवश्यक विज्ञान, शोध, साहस, इच्छा सबकुछ उनके पास था। घर-द्वार छोड़कर सेवा-वृत्ति को स्वीकार करनेवाले कार्यकतो थे, बाधाओं को पार करने वाले नाविक थे, शास्त्रों को जानने वाले मनीषी थे, समाज-रचना का विवेचन करने वाले तत्त्वज्ञ थे, अध्यात्म के अधिकारी महर्षि थे, भौतिकवाद का व्यवहार्य आसरा लेने वाले विज्ञानवेत्ता थे और इन सबको एक सूत्र में रखने वाला धर्माधिष्ठित शासन भी था। उस समय रूक्ष विधी-नियम नहीं थे, प्रत्युत् निर्मल संकेत थे। धर्म था और वह समाज की धारणा करने वाला था। चीनी यात्री फाहियान के शब्दों में नीति-नियमों का वर्णन करना हो तो ताला नाम की वस्तु की खोज अभी होनी थी, क्योंकि उसकी कभी आवश्यकता नहीं पड़ती थी।

एवंगुणविशिष्ट आदर्श राष्ट्रजीवन के उत्तराधिकारी इतना महान कार्य कर सके, इसमें क्या आश्चर्य? विक्रम-पूर्व दूसरी-तीसरी शती में उनका शासन, समाज-व्यवस्था, प्रबन्ध आदि सभी कुछ आदर्शभूत था। वास्तव में वह शासन था ही नहीं, वह था 'अनुशासन'। समाज का प्रत्येक घटक अपना दायित्व जानता था, पहचानता था। महर्षि व्यास जी की प्रेरणा से वर्णन करना हो तो महाभारत में कहे अनुसार "स्वधर्मेण प्रजास्तावत् रक्षन्ति स्म परस्परम् " ऐसी स्थिति थी।

नाविकों के संगठन

जीवन संगठित था। नाविकों के भी संगठन थे। उनका भी एक पृथक् शासन था। वे जानते थे कि विज्ञान के विकास के साथ-साथ अपने-अपने क्षेत्र में कार्य की दृष्टि से रचना करनी होती है। अतः भारत के बाहर गये हुए साहसी वीर समाज बनकर गये। मौर्यकाल के और उससे भी पूर्व के नौ-दलों के संगठन का विवरण मेगास्थेनीस आदि विदेशियों ने लिख रखा है। सैकड़ो नौकाओं का समूह जब सागर पर चलता था, तो नावाध्यक्ष उस समूह का प्रमुख अधिकारी होता था। प्रत्येक नौका के प्रमुख को 'कर्णधार' किंवा 'महासार्थ' कहा जाता था। नौकाओं में भी ध्वज-नौका, शस्त्रागार-नौका, राज-नौका ऐसे विविध प्रकार रहते थे। जलपोत की पतवार संभालने का काम 'नियामक' की ओर रहता था। जलपोतों का प्राण था उत्तम पाल; उसके प्रबन्ध के लिए स्वतन्त्र अधिकारी रहते थे, जिन्हें 'दत्ररश्मिग्राहक' कहते थे। पोत सदैव उत्तम

दशा में रहे, उसकी आवश्यक मरम्मत यथासमय तुरन्त हो, इसके लिये अधिकारी और उसके अधीनस्थ उत्तम कारीगर रहते थे। अनुभवी, कुशल और कर्तव्यतत्पर युवकों का चयन अधिकार-पदों पर होता था।

भारतीय संस्कृति के अग्रदूत

ये साहसी वीर अपने साथ भारतीय दर्शन ले गये, भारतीय विज्ञान ले गये, गणित, ज्योतिष, वैद्यक, स्थापत्य आदि शास्त्र ले गये, युद्धशास्त्र, नीतिशास्त्र, संगीत और षोडश कलाएँ वे ले गये। संस्कृत, काव्य, नाटक आदि सर्वविध साहित्य उन्होंने प्रसृत किया। वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् की छाप वे ले गये।

इण्डोनेशिया, कम्बोडिया, इण्डोचायना, बोर्निओ आदि स्थानों पर प्राप्त हुए सैकड़ों संस्कृत भाषा के शिलालेख इसके प्रमाण हैं। जावा में अभी भी प्रचलित शक कालगणना भारत से अपना प्रत्यक्ष नाता बताती है। इन सभी देशों मे प्रचलित वर्तमान साहित्य रामायण-महाभारत से अपना सख्य दर्शाता है। स्थान-स्थान के शिव, विष्णु और बुद्ध के मन्दिर वहाँ के समाज का हिन्दू धर्म से निकटका सम्बन्ध प्रकट करते हैं। अंगकोरवाट (कम्बोडिया) तथा बोरोबुदूर (इन्डोनेशिया) के भव्य शिल्प अजिंठा और वेरूल (अजन्ता और एलोरा) के शिल्प से सामीप्य बताते हैं। इन देशों के अनेक विधि-विधान भारत की स्मृतियों से पाल्य-पालक सम्बन्ध दर्शाते हैं। उनकी समाज-रचना कई बार भारतीय समाज-रचना के मार्ग से ही पदन्यास करती हुई दिखाई देती है। चम्पा, अनाम, पाण्डुरंग, बाली, कलिंग जैसे नगरों या राम, वर्मा आदि व्यक्तियों के अनेकविध नाम भारतीय परम्परा से अपना अटूट सम्बन्ध दर्शाते हैं।

उनका रहन-सहन, परम्परा, पूजा-पद्धति, शास्त्रविधि, निति-कल्पना, आचार- व्यवहार सबके पीछे से भारतीय परम्परा झाँकती है।

यह कैसे घटित हुआ? किसके द्वारा घटित हुआ?...

उसका यह चमत्कार पूर्ण इतिहास है !! ...

म्यॉंमा (ब्रह्मदेश)

म्यॉंमा अर्थात् ब्रह्मदेश का पगान नगर के समीपस्थ नत्लांग परिसर ..., अतीत की रम्य स्मृतियाँ जगानेवाला ...वहुत वर्ष पूर्व के पूर्वजों का स्मरण करा देनेवाला ... सहस्त्र वर्ष पीछे गूढ रहस्यमय वायुमण्डल में खींच कर ले जानेवाला ... आसपास झाड-झंखाड़ बढ़ा हुआ ... थूहड और बबूल के कॉंटो से भरे वीरान भूभाग, बीच बीच में दिखाई देनेवाली सामयिक हरियाली। सॉंप, गिरगिट की निर्भय सरसराहट! पर इसी उदास भूमि पर एक प्राचीन विष्णु मन्दिर के अवशेष खडे दिखाई देते हैं। निर्जन प्रदेश की नीरव शान्ति की पार्श्वभूमि पर सदियों से खडा यह खण्डहर रुप मन्दिर अन्तःकरण में एक अनामिक अस्वस्थता निर्माण करता है।

विश्व के कालक्रम में प्राकृतिक और मानवीय विपदाओं से संघर्ष करता हुआ सैंकडो वर्षों से खडा हुआ मन्दिर भारतीय संस्कृति के इतिहास का प्रत्यक्ष दर्शी है। ...दीवारें ढह चुकी है ... शिखर की ईंटे उखड चुकी हैं। ... सभा मण्डप की तो मात्र नींव ही बची है। कोई भी शिल्प अभंग नही रहा है ...पत्थर उखडकर आस पास के परिसर में यहाँ वहाँ पडे है। कतिपय सुन्दर मूर्तियाँ धरती की गोद में समा गयी है। केवल एक आस मन में ले कर यह मन्दिर फिर भी खडा है ... जिन भारतीय सपूतों ने कभी 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' की प्रेरणा से विश्व में सञ्चार किया ... अपने पराक्रम, पौरुष से भारतीय उपनिवेश स्थापित किये ... उन् असाधारण पूर्वजों की गाथा आज के पीढ़ी तक पहुँचाने की आस।

म्यॉंमा का प्राचीन विष्णुमन्दिर -

"नास्था धर्मे न वसुनिचये नैवकामोपभोगे
यद् यद्भाव्यं भवतु भगवन् पूर्वकर्मानुरुपम् ।
एतत् प्रार्थ्यं मम बहुतमं जन्मजन्मान्तरेऽपि
त्वत्पादाम्भो सहृयुगगता निश्चला भक्तिरस्तु।।

पगान से लगभग दो किलोमीटर दूरी पर यह अभिलेख प्राप्त हुआ। अभिलेख का प्रारंभ इस श्लोक से होता है। केरल के प्रख्यात प्राचीन कवि कुलशेखर की मुकुन्दमाला की प्रार्थना है। कलियुगाब्द की ४४ वी (खि.१३) शती में केरल का एक श्रेष्ठी (व्यापारी) म्यॉंमा गया था, जब उसने इस प्राचीन विष्णु - मन्दिर का दर्शन किया, मन्दिर में एक सभामण्डप बनवाया, एक द्वार

लगवाया, और मन्दिर में एक नन्दादीप की स्थापना की। नन्दादीप के लिऐ दैनंदिन आवश्यक घृत और नियमित रुप से दीप लगानेवाला सेवक इन के खर्चे के लिये एक धनराशि वहाँ के अधिकोष में रखी जिस के व्याज से खर्चा चल सके। हजारो कोस की दूरी से आकर उस श्रेष्ठी ने अपनी स्मृति अभिलेख के रुप में रखी है।

पाँच फूट उँचे अधिष्ठान पर यह मन्दिर खडा है। दीवारें और शिखर भुनी ईटों के वने हैं। दर्शनी दीवार के माथे पर भव्य प्रवेशद्वार है। गर्भगृह में स्थित भगवान विष्णु की मूर्ति इतनी सुन्दर है कि देखनेवाला सुध बुध खो वैठे। विष्णु का वाहन गरुड ... मानव देहधारी गरुड पंख फैलाये दो पैरों पर वैठा है एक हाथ अभय मुद्रा में सम्मुख किया है और मुद्रा पर ऐसे भाव है मानो अभी अभी वैकुंठ से भगवान विष्णु को ले आये हैं। मस्तक पर किरीट है और पीठ पर कमलासन। भगवान विष्णु पद्मासन लगाये कमलासन पर स्थित हैं। मस्तक पर रत्नजड़ित किरीट, *गले में मोतीयों की माला, कानों में कुण्डल, भुजाओं पर भुजवन्ध, माणिवन्ध और पैरों में* स्वर्ण कड़्कण है। पीताम्वर धारण किये है। सामने की ओर वक्ष तक उठे हुए दाहिने हाथ में मातुलिड़्ग है। अन्य हाथों में शड़्ख एवं चक्र है। मुद्रा प्रसन्न है। मन्दिर के जंघा भाग (बाहरी दीवारों पर अधिष्ठान एवं शिखर के मध्य भाग) पर दशावतारों की मूर्तियाँ उत्कीर्ण है।

चीन के मोगल वंशिय सम्राट कुवलई खाँ के आक्रमण के समय मन्दिर का विध्वंस हुआ फिर भी वच कर टिके हुए कतिपय अवशेष प्राचीन शिल्पकारों के कलाकौशल का प्रमाण देते है। पूर्व दिशा के देवप्रकोष्ठ में किरीटधारी सूर्य है। दक्षिण दिशा के प्रकोष्ठ में नरसिंहावतार का दर्शन होता है। वराह अवतार की भग्नमूर्ति में कमलासन और वाम स्कन्ध पर आरुढ भूदेवी स्पष्ट दिखाई देती है। नरसिंह अवतार में भगवान का सिंहमुख और जांघोपर विदीर्ण-उदर हिरण्यकश्यपु की आकृति के भग्न अवशेष भी अपना ध्यान वॉट लेते है। राम अवतार में रामप्रभु एक हाथ में धनुष और दूसरे हाथ में बाण लेकर खडे है। परशुराम अवतार की मूर्ति कमलासन पर स्थित है, मस्तक पर मुकुट .. एक हाथ में परशु ... दूसरे हाथ में खड्ग उठा रखा है। वामनावतार की भगवत्प्रतिमा पूर्ण खिले कमल के आसनपर खडी है ... दाहिने हाथ में कमण्डलु ... बाये हाथ में दण्ड.... सिरपर जटाजूट... कौपीन वस्त्र और कटिमेखला परिधान की हुई है। एक कोने में खड्गधारी कल्कि अवतार मूर्ति के अवशेष है। दुर्भाग्य से अन्य मूर्तियाँ पूर्णतः नष्ट हुई है।

सुवर्ण भूमि -

भारत के प्राचीन साहित्य में म्याँमा का विशेषण दिया गया है सुवर्णभूमि। म्याँमा में प्राचीन काल से तीन प्रमुख जनजातियाँ रहती आयी हैं। प्यु, मोन और ब्रम्म। तीनो जातियाँ

लगभग २२०० वर्ष पूर्व ही भारतीय संस्कृति को स्वीकार चुकी थीं। प्यू जाति चीन और भारत के सम्पर्क में आयी, परन्तु प्रभाव भारत का ही रहा। मोन जाति के पूर्वज तैलड्.थे जो तेलङ्गणा याने वर्तमान आन्ध्र प्रदेश से म्याँमा में गये। भ्रम्म जाति अर्थात् ब्रहम जाति के कारण म्याँमा ब्रह्मदेश के नाम से विख्यात हुआ।

इस सुवर्णभूमि का क्षेत्रफल ६,३६,५५२ वर्ग किलोमीटर है। पश्चिम सीमा में भारत की पर्वतशृङ्खलाएँ हैं। उत्तर में भी हिमाद्रि की फैली हुई पहाडियाँ एवं चीन के दक्षिण के पर्वत स्पर्श करते हैं। भारत की महान नदी ब्रह्मपुत्र असम से ब्रह्मदेश में प्रवेश करती है और फिरसे भारत में प्रवेश कर पवित्र गङ्गा नदी से मिलती है। इरावती म्याँमा की महत्वपूर्ण नदी लगभग १६०० किलोमीटर दूरी तक जलमार्ग प्रदान करती हुई महोदधि (बंगाल की खाड़ी) में जा गिरती है। दूसरी नदी सालवीन दक्षिण म्याँमा के भूप्रदेश को सुजलाम् सुफलाम् बनाती है। भारतीयों का प्रथम उपनिवेश दक्षिण म्याँमा में सालवीन की घाटी में ही स्थापित हुआ था।

म्याँमा में नदियाँ, पर्वत, नगर के सब नाम शुध्द भारतीय थे। रंगून का नाम था ओक्कल अर्थात् उत्कल (ओरिसा) रंगून के समीप ही रामावती तथा उक्कल नगर थे। वर्तमान वसीन कुसिमनगर है। पेगू का नाम हंसावती था। प्रोम प्राचीन काल में श्री क्षेत्र था। बंगाल अर्थात् गौड देश से म्याँमा में आवागमन सरल था। म्याँमा में गौड उपनिवेश था। वर्तमान मोलमीन प्राचीन रामपुर था, वर्तमान मार्ताबान मुत्तिम, मण्डल था।

दक्षिण चीन के युन्नान प्रान्त में भारतीय उपनिवेश थे। युन्नात का नाम था गान्धार। इस प्रकार भारत के उत्तर पश्चिम में एक गान्धार (अफगाणिस्थान) था तो सुदूर उत्तर पूर्व में म्याँमा के आगे भी दूसरा गान्धार था। गान्धार से म्याँमा में आवागमन था। मार्ग पर जितने भी शासक थे सब भारतीय थे। चीन की वस्तुएँ म्याँमा में निर्यात होती थीं, वहाँसे मणिपुर ... उत्तर प्रदेश... कपिसा (गांधार) बमियान (अफगाणिस्थान) मार्ग से बलख तक जा पहुँचती थीं। कलियुगाब्द २९६४ (ख्रि. पूर्व १३८) के इस महत्वपूर्ण व्यापारी मार्ग का ऐतिहासिक विवरण उपलब्ध है। रोमन साम्राज्य के दूत युंग चांग में गये थे तो इसी मार्ग से गये थे। म्याँमा का इतिहास उस से भी प्राचीन है।

म्याँमा का पारम्पारिक इतिहास -

भारत और म्याँमा के सम्बन्ध का क्रमबध्द इतिहास बौध्दयुग से और सम्राट अशोक के काल से आरम्भ होता है। परन्तु बुध्द पूर्व काल का भी इतिहास गाथाओं में सुरक्षित है।

कपिलवस्तु के शाक्यवंशीय अभिराज ने उत्तरी म्याँमा में अपनी सेना के साथ प्रवेश किया। उसने 'संकिसा' (टगौं) नगर की स्थापना की। उस के दो पुत्र थे। अभिराज के मृत्यु के

पश्चात ज्येष्ठ पुत्र ने अराकान में राज्य प्रस्थापित किया। कनिष्ठ पुत्र संकिसा (टगौं) में अभिषिक्त हुआ। उस के वंशधरों ने ३१ पीढ़ीयों तक राज्य किया। भगवान बुध्द के समय ३१ वा राजा राज्य कर रहा था। अर्थात् लगभग कलियुगाब्द १९०२ में याने आज से लगभग ३००० वर्ष पूर्व म्यॉंमा में भारतीय संस्कृति प्रचलित हो गयी थी। म्यॉंमा में एक कहावत प्रसिद्ध है,

"म्यॉंमा असा टगौं गा, टगौं असा इण्डिया गा।

(म्यॉंमा का प्रारंभ टगौं से, टगौं का प्रारंभ भारत से)

फिर गङ्गा की उपत्यका से 'दास' नामक राजा के नेतृत्व में एक क्षत्रिय दल ने म्यॉंमा में प्रवेश किया। दास ने संकिसा पर अधिकार किया। दास के वंश ने १६ पीढ़ी तक राज्य किया। विदेशी आक्रमणों के कारण राज्य का लोप हो गया। अन्तिम राजा का ज्येष्ठ पुत्र बचकर निकल गया। उस ने वर्तमान प्रोम के समीप नवीन राज्य स्थापित किया। उस के पुत्र डो टर्पो ने श्री क्षेत्र नगर की स्थापना की। डो टर्पो के वंश ने १८ पीढ़ी तक राज्य किया।

सुधम्मावती का वंश -

किवदंतीयों के अनुसार आंध्र के कृष्णा तथा गोदावरी के निपात क्षेत्र से तलैङ् के नेतृत्व में भारतीय यात्रा पर निकले। जलमार्ग से उन्होने म्यॉंमा में प्रवेश किया। मर्तबन की खाड़ी में वर्तमान तठों में उन्हो ने सागर तट पर अपनी राजधानी बसाई। तलांय याने तेलंगी जो वर्तमान आन्ध्र के तेलंगाना के निवासी थे। दक्षिण म्यॉंमा के मोन वंशीय लोगों को तलांय ने भारतीय संस्कृति की दीक्षा दी। मोन और तेलंगी एक से हो गये। शीघ्र ही एक शक्तिशाली राज्य खड़ा हुआ। जनश्रुति के अनुसार प्रथम राजा सिंहराज था। सम्भवतः तलांय ने ही अभिषिक्त होकर सिंहराज नाम धारण किया। तैलङ् के वंश के ५९ राजाओं ने थातोन पर राज्य किया। राजधानी का निर्माण करनेपर तलांय ने उस का नामकरण किया था सुधम्मावती। उस का वंश ही सुधम्मावती वंश कहलाया। राज्यका परम्परा में विख्यात नाम है रामण्ण देश।

हंसावती -

सुधम्मावती के राजा के दो पुत्र थे, श्यामल तथा विमल। उन्हे राज्य के उत्तराधिकार से वञ्चित किया गया था। अपने कुछ अनुयायिओं को लेकर वे सुधम्मावती के उत्तर पश्चिम दिशा में बढ़े। समृध्द भूप्रदेश देख कर उन्होंने वहाँ पर नवीन नगर स्थापित किया। नाम रखा हंसावती। यही वर्तमान पेगू है, और प्राचीन मोन राज्य की राजधानी है।

पश्चिम में घने जंगलोसे आच्छादित पेगू पर्वत और पूर्व में कलकल करती हुई पेगू नदी के मध्य में हंसावती नगरी थी। नगर के चारो ओर खाई बनाकर पेगू नदी का पानी उस में छोड

दिया गया था। नगर का प्राकार (तट) चौकोर ढाई किलोमीटर था। नगर के मध्य में पगोडा (बुद्ध मन्दिर) बना हुआ था।

मौन इतिहास की परम्परा के अनुसार हंसावती की स्थापना कलियुगाब्द ३६७५ (ख्रि. ५७३) में हुई। विमल एवं श्यामल दोनो भाईयों में श्यामल राजा बना और विमल को उस ने युवराज पद दिया। विमल अध्ययन करने हेतु तक्षशिला चला गया। वह वापस आया तब श्यामल को पुत्र हुआ था जिसके कारण उस की नीति बदल गयी थी। इस पर गृहयुध्द छिड गया। श्यामल मारा गया और विमल राजा बना। विमल के पश्चात् श्यामल का पुत्र ही राजा बन गया। उस के वंश मे १७ राजा हुए। अंतिम राजा 'तिस्स' कलियुगाब्द ४१४५ (ख्रि. १०४३) में राजा हुआ।

एक सुन्दर जनश्रुति है। हंसावती नगरी में भद्रा नामक एक अत्यंन्त रुपवती वणिक कन्या थी। वह भगवान बुद्ध की उपासिका थी। एक बार सरोवर में स्नान करने गयी। जल में उस के पैरों से एक मूर्ति का स्पर्श हो गया। वह बुद्ध की धातु मूर्ति थी। उस ने उस मूर्ति को विहार में स्थापित किया। राजा तिस्स भद्रा की दृढ़ भक्ति से प्रभावित हुआ और उसने उसे अपनी राजमहिषी बनाया।

मोन राज्य का धर्म 'बौद्ध' था। भारत से निरन्तर भिक्षु आते रहते थे। मोन भिक्षु भारत में नालंदा एवं विक्रमशिला विश्वविद्यालयों में जाते रहते थे। श्यामल के वंश में विमल, अथ, अरिन्दम, अन्तथ, अनुयम, उप्पल, तिस्स सब राजाओं ने बुद्ध धर्म की महत्ता को वृध्दींगत किया।

विश्व का महान सुवर्ण बुध्द मन्दिर, म्याँमा की अस्मिता।

कलियुगाब्द ४०९६ (ख्रि. ९९४) में मृगदीपंक (मिगदीपग्ग) राजा था। उस के काल में हंसावती (पेगू) में विशाल पगोडा का निर्माण हुआ। पगोडा याने चैत्य या बुध्दमन्दिर। विशाल अधिष्ठान पर २८८ फूट उँचे शिखर से युक्त इस मन्दिर को म्याँमा के राष्ट्रजीवन में विशेष महत्व है। पगोडा का शिखर सुवर्ण का बना था। तथागत भगवान के दो बाल इस पगोडा के स्तूप में है ऐसी म्याँमावासियों की श्रध्दा है। इस चैत्य को 'श्वे मॉडॉ' पगोडा कहते है।

केवल ७५ वर्ष पूर्व (मई ख्रि. १९३०) पेगू प्रदेश में भयंकर भूकम्प हुआ। रात को लगभग पौने नौ बजे पगोडा हिला, लडखडाता गिर गया। ईंटो और पत्थरों का ढेर मात्र रह गया। स्वतंत्रता प्राप्त करने के पश्चात् स्वतंत्र म्याँमा के राष्ट्रपती जब पेगू गये तब उस के पुननिर्माण का निर्णय हुआ। पाँच वर्ष के अन्दर पगोडा का पुननिर्माण सिध्द हुआ।

कलियुगाब्द ५०५६ (ख्रि. मार्च १९५४) में बडे धूमधाम से राजकीय सम्मान के साथ पगोडा पर छत्र लगाया गया।

पेगू नगर के पश्चिम में भगवान बुध्द की १८१ फूट लम्बी सिंह शय्या पर लेटी मूर्ति है। भगवान बुध्द निर्वाण मुद्रा में हैं। मूर्तिपर सुवर्ण का असली रंग किया गया है। सिंह शय्या २५५ फूट लम्बी और ८ फूट चौडी है। तथागत भगवान दाहिनी हथेली पर मस्तक रख कर दाहिने करवट पर सोये हैं।

पेगू में और तीन प्रसिद्ध पगोडा हैं, महाजेडी श्वेगुगाले और चायेकपियेन। कलियुगाब्द ४५७४ (ख्रि. १४७२) में भिक्षु धम्मजेडी ने मोन देश में बुध्द धर्म के अन्दर चैतन्य का संचार किया। सहस्त्रों लोगों को धम्म में दीक्षित किया। 'कल्याणी सीमा' याने पवित्र दीक्षा गृह का निर्माण किया। दस अभिलेखों में इस सम्बन्ध का इतिहास प्राप्त हुआ हैं।

श्री क्षेत्र -

कलियुगाब्द ३७४० (ख्रि. ६३८) में दक्षिण म्यॉंमा में ही और एक राज्य का उदय हुआ। पेगू के उत्तर में प्यू जनजाति का निवास था। इरावती नदी के घाटी में वे फैले थे। सम्भवतः ख्मेर (कम्बुज) जाति से उन्हे हिन्दु संस्कृति का परीस स्पर्श हो गया था।

कलियुगाब्द ३७४० (ख्रि. ६३८) में प्यू संवत् प्रारंभ होता है। परन्तु यह संवत् किस राजासे आरम्भ हुआ यह प्राप्त इतिहास में अभी अनुपलब्ध हैं। प्रोम से आठ किलोमीटर ही दूरीपर प्यू राज्य की राजधानी 'श्री क्षेत्र' के ध्वंसावशेष प्राप्त हुए हैं और उस स्थानपर याने वर्तमान हमौजा में उत्खनन हुआ है। भगवान बुध्द की एक मूर्ति पर संस्कृत श्लोक उत्कीर्ण है। वह मूर्ति इसी काल की है। पंचधातु के अस्थिपात्र मिले है जिन पर ७ अभिलेख है। उस से पता चलता है कि प्यू राजा अपने नाम के साथ वर्मा और विक्रम अभिधान लगाते थे।

अस्थिपात्र अभिलेख पर तीन राजाओं के नाम है राजा हरिविक्रम - मृत्यु ४१ वर्ष की आयुमें कलियुगाब्द ३७७७ (ख्रि. ६७५) राजा सूर्यविक्रम - मृत्यु ६४ वर्ष की आयुमें कलियुगाब्द ३७९० (ख्रि. ६८८) राजा शिव विक्रम - मृत्यु ४४ वर्ष की आयुमें कलियुगाब्द ३८२० (ख्रि. ७१८)

सम्भवतः कलियुगाब्द ३७४० (ख्रि. ६३८) में हरिविक्रम के पिताने राज्य स्थापना की और संवत् भी प्रारंभ किया।

श्री क्षेत्र का यह राज्य समृद्ध एवं शक्तिशाली था। राजा को महाराज और मुख्य अमात्य को महासेना कहा जाता था। राजा सुवर्ण शिबिका पर बाहर निकलता था। दूर जाना हो तो हाथी की सवारी होती थी। १८ राज्य और ९ महानगर 'श्री क्षेत्र' राज्य में समाविष्ट थे। 'श्री क्षेत्र' राजधानी का नगर था और ४७ वर्ग किलोमीटर के क्षेत्र में फैला हुआ था। नगर को परकोट था

और बारह तोरणद्वार थे। नगर के चार कोनोंपर चार बुद्ध मन्दिर थे जो लगभग १५० फूट उँचे शिखर के थे। राजप्रासाद के प्रवेशद्वार के सम्मुख १०० फूट उँची श्वेत हाथी की प्रतिमा थी। श्वेत हाथी राज्य की प्रतिष्ठा एवं वैभव का प्रतीक था। यही परम्परा आज भी प्रचलित है। राजा का धर्म बौध्द था। सैंकडो विहार थे। विहार, निवासस्थान यहाँ तक की नगर की पूरी प्राचीर चमकिले ईंटों की बनायी हुई थी।

सात वर्ष की आयु में पुत्र एवं कन्या दोनों का मुण्डन संस्कार होता था। फिर विहार में भेजते थे जहाँ बच्चे संघ में सम्मिलित हो जाते थे। बीस वर्ष की आयु में यदि उन के ज्ञानचक्षु नही खुलते तो लौट कर गृहस्थ जीवन का स्वीकार करते थे। संस्कृत भाषा के साथ पाली भाषा का प्रयोग होता था। अभिलेख पर ब्राह्मी, नागरी और कदम्ब लिपि उपलब्ध हुई है।

श्रीक्षेत्र की स्थापना के पश्चात् एक सौ वर्ष में ही प्यू एवं मोन जातियाँ एक सी हो गयी। कलियुगाब्द कीं ४३ (ख्रि. १२) वी शताब्दि तक श्री क्षेत्र एक वैभवसम्पन्न राज्य था।

वैशाली -

अराकान के क्षेत्र में म्रोहाङ् के निकट वैभवशाली अतीत का स्मरण करानेवाले और एक प्राचीन नगरी के खण्डहर दिखाई देते हैं। नगर के प्राचीर के ध्वस्त अवशेष एवं प्राचीर को घेरती हुई खाई... उखडे हुए वृक्ष और घास से ढके राजमार्ग... गिरी हुई दीवारों की ईंटों के ढेर से आच्छादित घरों के अधिष्ठान... चारो ओर जङ्गल बना है। जगह जगह पर पत्थर की खण्डित मूर्तियाँ पडी हैं।

कलियुगाब्द ३८९१ (ख्रि. ७८९) में टगौं वंश के सूर्यकेतु का पुत्र महातेनचन्द्र ने वैशाली नगरी का निर्माण किया था। फिर चन्द्र वंश ने१९ पीढ़ीयों तक राज्य किया। स्तम्भ पर के अभिलेख में उन के शुद्ध हिन्दु नाम उत्कीर्ण है। बालचन्द्र, देवचन्द्र, यज्ञचन्द्र, दीपचन्द्र, प्रीतिचन्द्र, नीतिचन्द्र, महावीर, धर्मासुर श्री धर्मविजय, नरेन्द्रविजय, नरेन्द्रचन्द्र और आनन्दचन्द्र। स्तम्भ बनवाया था आनन्दचन्द्र ने। उस ने अनेक बुद्ध मन्दिर बनवाये। पचास ब्राह्मणों को भूमिदान दिया। आर्य संघ के लिये अनेक स्थानों पर शालाएँ बनवाई।

आनन्दचन्द्र की राजमुद्रा पर शिव तथा विष्णु की प्रतिमाएँ है। उसे ताम्रपत्तन का अधिराज कहा है। वर्तमान अराकान क्षेत्र ही प्राचीन ताम्रपत्तन है।

श्री क्षेत्र का श्वेसदान पगोडा जिस के घेरे में ८३ मन्दिर है प्यू रानीने बनवाया था।

वैशाली का राजवंश सूर्यकेतु से आरम्भ हुआ था। सूर्यकेतु इस के पहले 'ध्यानावती' में राज्य करता था। ध्यानावती में राज्य स्थापना के पूर्व इस वंश का सम्बन्ध रामावती नगरी के

राजवंश से था। और अन्तिमतः राजवंशो का मूल सीधा काशी के भारतीय राजवंश तक जाता है। रामावती में काशी के राजपुत्र ने भारतीय उपनिवेश स्थापित किया था।

पगोडा का देश -

पगोडा म्याँमा के आध्यात्मिक जीवन की आत्मा है। लक्ष लक्ष पगोडा का देश है म्याँमा। जातक कथाओं ने इसे सुवर्णभूमि कहा।

म्याँमा की भूमि को बौध्द धर्म का प्रथम स्पर्श २३०० वर्ष पूर्व सम्राट अशोक के काल में हुआ। मोगलीपुत्त तिस्स की अध्यक्षता में बौध्द परिषद थी। सत्य और अहिंसा के अधिष्ठान पर उभरी विश्व संस्कृति की प्रेरणा लेकर सैंकडो भिक्षु त्रिपिटक साथ लिये विश्व भर में फैले। परन्तु म्याँमा की गाथाएँ वहाँ के बौद्ध धर्म को और पीछे ले जाती है।

"तथागत भगवान बुद्ध बोधिवृक्ष की छाया में थे। समाधि से उठे तो मुचलिंद तालाव से राजपतन वृक्ष के समीप आये जहाँ एक सप्ताह तक एकासीन रहे। उत्कल देश के दो वणिक् थे, तपस्सु और भल्लिक अंतःप्रेरणा से एवं भक्ति भाव से वे मट्ठा और मधुपिण्ड (लड्डू) सहित भगवान् के समीप गये और बोले "भन्ते! ग्रहण करे!"

भगवान के पास पात्र नही था। वे पत्थर के पात्र ढूँढ लाये। वणिक् द्वय पुनः बोले "भन्ते, पात्र द्वारा ग्रहण करें।" भगवान् ने ग्रहण किया और वे बोले,

"बुद्ध शरणं गच्छामि, धर्मं शरणं गच्छामि।"

विश्व में दोनो वणिक् द्विवचनीय प्रथम उपासक हुए। संघ की स्थापना नही हुई थी। संघ के शरण जाने का प्रश्न उत्पन्न नही होता था। भगवान् उन को भूले नही। श्रावस्ती में विहार कर रहे थे तब बोले, "भिक्षुओं, मेरे उपासक श्रावकों में तपस्सु और भल्लिक वणिक् अग्र है।

गाथा कहती है, भगवान ने उन्हे अपने चार बाल दिये। चारो केशों के साथ वणिक् श्रावक म्याँमा में आये। उत्कल के वणिक् थे, जहाँ प्रथम पाँव रखा उस भूमि का नाम पडा उक्कल। बाद में असितनगर और फोक्करवती (पुष्करवती) दो अन्य नाम विख्यात हुए।

भगवान के केश रखने के लिये स्थान ढूँढना आरम्भ हुआ। इन्द्र लोक से स्वयं इन्द्र देव स्थान ढूँढने के लिये उक्कल आये। उक्कल के पास सिंगुत्तरा पहाडी थी। वहाँ पर पूर्व काल के तीन बुध्द के दण्ड, कमण्डलु तथा स्नानवस्त्र पहले ही गाड दिये थे। वहाँ खोदकर उसी के साथ केश भी रखे गये। उस पर एक के उपर एक सुवर्ण, रजत, अयस, शीश और संगमरमर के पगोडा बने। संगमरमर के पगोडा पर ईंटों का पगोडा बना।

यही है म्याँमा का प्रथम स्तूप 'श्वे डगों' पगोडा। २००० वर्ष पूर्व उस का निर्माण हुआ

तब वह ६० फूट उँचा था। कलियुगाब्द ४६ वी शती में (ख्रि. १४५३-१४७२) रानी शिनशनाबू ने उसे ३०२ फूट उँचा बनाया। अपने वजन के इतना स्वर्ण दे कर सुवर्ण का मुलम्मा कराया। फिर रानी ने राज धम्यजेदी (धर्मचैत्य) को दिया और स्वयं पगोडा में रह कर सात्विक जीवन व्यतीत करने लगी। अन्तिम अवस्था में पगोडा के समीप शय्या लगाई और पवित्र पगोडा का दर्शन करते हुए अन्तिम श्वास लिया।

राजा धम्यजेदी ने (कलियुगाब्द ४५७४-४५९६ ख्रि. १४७२-१४९४) पगोडा सम्बन्धि गाथाएँ लेखा बध्द की। अपनी रानी के साथ चार तुलादान के सुवर्ण से पगोडा सुसज्जित किया। २९ टन वजन की घण्टा ढलवाकर लगा दी। कलियुगाब्द ४८७६ (ख्रि. १७७४) में रतनपूर (वर्तमान ऐंवा) के 'शोंब्यू से' राजा ने पगोडा को ३२६ फूट उँचा किया। उस का पुत्र दाबा सिंगू ने २५ टन की महागण्ड घण्टा बनवाई। बाद में अंग्रेज इस घण्टा को विजय के प्रतीक स्वरुप इंग्लंड ले जाना चाहते थे। परन्तु नही ले जा सके। कलियुगाब्द ४९४३ (ख्रि. १८४१) में राजा थर्रावदी ने ८ फूट उँची ४२ टन की 'तिस्सद गण्ड घण्टा' बनायी।

यह पगोडा म्याँमा के बौध्द धर्म एवं आध्यात्मिकता का चलचित्रित इतिहास ही है। १४२० फूट के घेरे में यह बना है। चारो और ६४ छोटे स्तूप हैं। पगोडा तक पहुँचने के लिये चारो दिशाओं से सीढीयाँ धरातल से ऊठती ऊपर तक गयी हैं प्रवेशद्वार पर ३० फूट उँचे दो सिंह हैं।

यह श्रध्दाकेन्द्र है। म्याँमा की स्त्रियाँ अपने सुन्दर रेशम जैसे केशों को वर्षो से बढाती रहती है, पूर्णतया बढने पर काटकर भगवान को अर्पित करती हैं। पगोडा के एक तरफ बडा शकुन का पत्थर है। काम होगा या नही, मन में धारण कर व्यक्ति आसन लगा कर बैठता है। पत्थर उठाता है। यदि काम हो जायेगा तो पत्थर हलका लगता है, असफलता होने पर वही पत्थर भारी लगता है।

सुन्दर झील के किनारे यह पगोडा दो सहस्त्र वर्षो से भी अधिक काल से म्याँमा की श्रध्दा जागृत रखता आया है।

यह प्राचीन ओक्कल नगरी ही वर्तमान रंगून है। कलियुगाब्द ४८५७ (ख्रि. १७५५) में राजा अलौङ्पा ने इस का नाम याङ्गोन रखा। याङ्गोन का अर्थ है संघर्ष का अन्त अर्थात् शान्ति नगर। याङ्गोन का अंगेजी भ्रष्ट रुप हो गया रंगून। म्याँमा में याङ्गोन नाम का ही प्रयोग होता है। म्याँमा इस शब्द में म्याँ का ब्रहमी उच्चारण म्याम् होता है जो भ्रम्म का ही अपभ्रंश रुप है। माँ का ब्रह्मी उच्चारण मॉङ् होता है जिसका अर्थ है 'श्रेष्ठ' या बडा। इस प्रकार म्याँमा का भी अर्थ 'श्रेष्ठ ब्रह्म' ही होता है। इस में भ्रम्म या ब्रह्म शब्द इस देश के मूल निवासी जाति या वंश का निर्देशक है।

रंगून-पगोडा की नगरी -

रंगून के प्रत्येक पगोडा के साथ प्राचीन इतिहास की स्मृतियाँ गाथा के रुप में जुडी हुई है। 'श्वे डगोन' पगोडा से लगभग तीन किलोमीटर दूरी पर एक पगोडा है। इसे 'सुले' पगोडा कहते हैं। सुले याने जिस में पवित्र केश रखे हैं। शोण एवं उत्तर काशी के रहने वाले थे। तथागत भगवान ने उन्हे प्रेरणा दी। साक्षात्कार हुआ। भगवान् बुध्द का केश तथा अन्य स्मारक उन्हे प्राप्त हुए। २२०० वर्ष पूर्व की वात है यह। इस समय 'शिहदीप' (सिंहदीप) सुवर्ण भूमि (म्याँमा) का राजा था महाथुरा (महासुर) उस का अमात्य था शोण और उत्तर का राजाने सम्मान किया। राजाने सुले पगोडा वनवाया।

महाथुरा ने भी एक पहाडीपर पवित्र केश रखकर विशाल पगोडा खडा किया। पगोडा का नाम पडा थुराजेदी याने सुरचैत्य। इस पगोडा की उँचाई १५७ फूट है।

इसी काल में याने २२०० वर्ष पूर्व भारत से बौध्द भिक्षु शिनपथ म्याँमा में आये। उन के साथ भगवान वुध्द के आठ केश थे। ३२ धातु की मूर्तियाँ थी। भिक्षु शिनपथ तठौं (सुधम्मावती) में आये। थातोन के राजा को उन्होंने ये पवित्र वस्तुएँ दीं। राजा ने रंगून से आठ किलोमीटर की दूरी पर तिंगाजूँ नामक ग्राम में पगोडा वनवाया। उस में बुध्द के छह बाल और १० धातु रखे गये। राजा ने शेष पवित्र वस्तुओं को मन्त्रियों में बाँट दिया। तिंगाजूँ का मन्दिर 'चायकसान' पगोडा कहलाता है।

मंत्रियों ने श्वे डगोन पगोडा के चारो ओर पगोडे वना कर उस में धातु रख दिये। एक मंत्री ने डगोन पगोडा से लगभग २ किलो मीटर की दूरी पर नदी के किनारे एक पहाड पर पगोडा का निर्माण किया। इस मंत्री को प्राप्त एक केश और २ धातुओंको उसने इस पगोडा में स्थापित किया। इस पगोडा का नाम है 'बोटा ठाँव' पगोडा।

इस पगोडा की अगली कहानी जितनी रोचक उतनी ही इतिहास की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। कलियुगाब्द ५०४५ में (८ नवंबर १९४३ को) दूसरे विश्व युध्द के काल में मित्र राष्ट्रों की बमबारी से पगोडा उध्वस्त हो गया। अवशेषों में एक मंजुषा मिली। साथ में भगवान् बुद्ध की चाँदी, कांस्य तथा प्रस्तर की मूर्तियाँ और खजाना मिला। सब से आश्चर्यजनक बात यह थी, कि मंजुषा में भगवान् का पवित्र केश और २ धातुएँ मिली। भगवान् के जीवन तथा बुध्द धर्म के प्रचार सम्बन्धि गाथाएँ और भारतीयोंका विश्व भर में जा कर धर्म प्रचार करना इन बातों को ठोस ऐतिहासिक प्रमाण प्राप्त हुआ।

ये तो सब प्राचीन पगोडा है। म्याँमा वर्तमान में भी बुध्दोपासक देश है। कलियुगाब्द ५००७ (८ अगस्त १९०५) में एक विशाल एवं सुन्दर पगोडा का निर्माण हुआ। इसे 'अतुल

दीप्ति महामुनि शाक्य' पगोडा कहा जाता है। प्रसिद्ध श्वे डॉगां पगोडा से निकट ही यह पगोडा है। भगवान् बुध्द की ६५ फूट उँची मूर्ति हैं। मूर्ति के नीचे स्वर्ण की रत्नजडित मंजूषा में भगवान् तथा अन्य अरहतों की धातु रखी है। और भी कतिपय सुवर्ण, रजत, मोती तथा अन्य रत्नों की बनी बुद्धमूर्तियाँ इस पगोडा में रखी है।

म्याँमा की संवेदना - विश्वशान्ति पगोडा -

कलियुगाब्द ५०५४ में अर्थात केवल ५२ वर्ष पूर्व म्याँमा की स्वतंत्रता के पश्चात् म्याँमा के प्रधानमंत्री द्वारा एक पगोडा का निर्माण हुआ। इसे 'गबाए' पगोडा अर्थात् विश्वशान्ति पगोडा कहते हैं। रंगून से ११ किलोमीटर दूरी पर येगू नामक स्थान पर कोकाइन सरोवर के समीप यह पगोडा खडा है। प्राचीन और अर्वाचीन स्थापत्य का संगम यहाँ दिखाई देता है। पगोडा का अधिष्ठान ११७ फूट वृत्ताकार है। मध्य में पगोडा का शिखर है जो ११२ फूट उँचा है।

द्वितीय विश्वयुध्द के पश्चात् म्यान्मार में चाँदी की खानें प्राप्त हुई। खनन कार्य में प्राप्त चाँदी से सर्व प्रथम भगवान् की विशाल रजत मूर्ति ढाली गयी। और इस देश की प्रथम चाँदी की खान से बनी मूर्ति को विश्वशान्ति पगोडा में स्थापित किया गया। पेगू का सुवर्ण बुद्ध पगोडा म्याँमा के अस्मिता का प्रतीक है तो विश्वशान्ति पगोडा देश की संवेदनाका स्पन्दन है।

म्याँमा का राजकीय इतिहास तेजस्वी बौध्द धर्मीय राजाओं के कार्यकाल का इतिहास है। परन्तु साथ ही प्यू, करेन, मोन और ब्रम्म वंशीयों के आपसी सघर्षों और सत्ता संघर्षो से भरा हुआ है। एक तो पडोसी देशों के साथ संघर्ष चलते रहते थे। चीन, थायलंड और पश्चिम सीमा पर मणिपुर से युद्ध होते रहते थे। दक्षिण, मध्य, तथा उत्तर भाग में अलग अलग जातियों का प्रभुत्व था जिस के परिणाम स्वरूप राजकीय प्रभुसत्ता स्थापित करने हेतु आपसी युध्द निरन्तर चलते रहते थे। कलियुगाब्द ४२ वी (ख्रि. ११ वी) शती में पगान में एक शक्तिशाली राज्य का उदय हुआ। राजकीय दृष्टि से यह महत्वपूर्ण घटना थी। आज के म्याँमा की राजकीय एकीकरण की प्रक्रिया पगान के राज्य ने प्रारंभ की।

अरिमर्दनपुर (पगान) -

वर्तमान पगान नगर का मूल नाम अरिमर्दनपुर है। इस भू प्रदेश को 'ताम्रदीप' कहा जाता था। 'अरि' नामक सम्प्रदायी यहाँ रहते थे। ताम्रदीप प्रदेश में लगभग ३० अरि सरदारों का स्थान था। लगभग ६० सहस्त्र उन के अनुयायी थे। 'अरि' एक भ्रष्ट तांत्रिक सम्प्रदाय था। बुद्ध और शक्ति की उपासना वे करते थे। जटाजूट रखते थे। काले कपडे पहनते थे। मांस तथा मदिरा सेवन करते थे। सदा युध्दरत रहते थे। बुद्ध के नाम पर यह सम्प्रदाय कलंक ही था।

राजा अनिरुद्ध ने भिक्षु धर्मदर्शी की सहायता से अरिशक्ति को छिन्न भिन्न कर दिया। यह अरि-मर्दन था। सम्भवतः नगरी का नामाभिधान हुआ अरिमर्दनपुर।

वर्तमान पगान से लगभग ८ किलोमीटर की दूरीपर सैंकडो वर्ग किलोमीटर की भूमि पर इस प्राचीन वैभवशाली नगरी के खण्डहर फैले हुए है। खण्डहरों में से उभरती है काल के उदर में लुप्त अतीत की एक स्वप्न नगरी।

गिनती निरर्थक सिध्द होगी। लगभग चार पाँच हजार पगोडाओं के अवशेष इस भूमि में बिखरे पडे है। घने जङ्गलोंके वृक्षों-वनस्पतियों से व्याप्त भुमि पर... उखडे हुए प्रशस्त राजमार्ग ...ईंट पत्थर के ढेर में परिवर्तित विशाल प्रासाद व अट्टालिकाएँ ... अधिकारी एवं श्रेष्ठियों के भव्य निवासस्थानों के उजडे हुए अधिष्ठान... वन्य प्राणियों के निवास में परिवर्तित विशाल परन्तु सूखे हुए झील... बुद्ध, अवलोकितेश्वर, तारा, विष्णु, व्रह्मा, ऐसे कतिपय देवताओं की भंगित उदास मूर्तियाँ...।

कलियुगाब्द ३९६१ में आज से ११४२ वर्ष पूर्व प्यङपा नामक राजाने ताम्रदीप प्रदेश के इस प्राचीन नगरी की स्थापना की थी। कलियुगाब्द ४१४२ (ख्रि. १०४०) में अनिरुद्ध (अनौरथ) अरिमर्दनपुर का राजा बना।

सम्राट अनिरुद्ध -

अनिरुद्ध के राज्यभिषेक से म्याँमा का क्रमबद्ध इतिहास प्राप्त होता है परन्तु अनिरुद्ध के पूर्व इतिहास के सम्बन्ध में अभिलेख भी कुछ नही बताते। पौराणिक गाथाएँ अवश्य कुछ कहती है। अभिलेख में एक राजा का उल्लेख है। 'सा-रहन' अरिमर्दनपुर का राजा था। एक बार वह अरण्य में भ्रमण कर रहा था। एक कृषक से उसका झगडा हुआ तो कृषक ने उस की हत्या की। विधवा रानी की कृपा से वह स्वयं राजा बना। सा-रहन के दो पुत्र थे, उन्हों ने कृषक को राजत्व से हटा दिया। अपने पुत्र अनिरुध्द को साथ लिये कृषक वन में चला गया। कुछ काल के पश्चात् अनिरुद्ध ने सा-रहन के कनिष्ठ पुत्र को मल्लयुद्ध के लिये ललकारा। उसे मार कर अनिरुद्ध ने राजपद प्राप्त किया।

शिन अर्हन् नामक ब्राह्मण बौद्ध भिक्षु था। उस का नाम था धर्मदर्शी परन्तु वह शिन् अर्हन् कहा जाता था। उस ने अनिरुद्ध को शुद्ध बौद्ध धर्म में दीक्षित किया। भ्रष्ट तांत्रिक अरि सम्प्रदाय को नष्ट करने की प्रेरणा दी। अनिरुद्ध ने दक्षिण म्याँमा की मोन जाति का राज्य भी नष्ट किया और उत्तर में अराकान पर प्रभुत्व स्थापित करके उत्तरी सीमापर ४३ सैनिक चौकियाँ स्थापित की।

शिन् अर्हन् ने अनिरुद्ध को त्रिपिटक का शुद्ध पाठ प्राप्त करने के लिये कहा। मोन राजा

मनुहा दक्षिण में थातोन में राज्य करता था। वहाँ त्रिपिटक का मूल ग्रंथ उपलब्ध था। अनिरुद्ध ने राजा मनुहा के पास अपना दूत भेजकर उसे धर्मग्रंथ भेजने का अनुरोध किया। राजा मनुहा ने उत्तर दिया,

"केसरसिंह राजरस वसा सुवण्णपातियं येव न मत्तिभाजने।"

(सिंहराज केसरी की वसा (चरबी) सुवर्ण पात्र में ही रखी जा सकती है। मिट्टी के पात्र में नही।) तुम्हारे जैसे मिथ्या दृष्टिवाले व्यक्ति के पास त्रिपिटक नही भेजे जा सकते।" थातोन के राजा का उत्तर सुनकर अनिरुद्ध क्रोधित हुआ। शक्तिशाली सेना लेकर उस ने थातोन पर आक्रमण किया। तीन मास के घेराबन्दी के पश्चात् थातोन का पतन हुआ। राजा मनोहर को बन्दी बना दिया गया। ३२ ऐरावतों (श्वेतहाथियों) पर त्रिपिटक तथा बौद्ध धर्म के अनेक संस्मारक आदि रखकर पगान लाये गये। मार्ग में उस ने प्यू की राजधानी श्री क्षेत्र पर भी आक्रमण किया। वहाँ के पगोडा में रखी हुई पवित्र वस्तुओं को भी पगान भेज दिया।

अब अनिरुद्ध के राज्य की सीमा उत्तर पूर्व में युन्नान तक पूर्व में थायलंड तक उत्तर पश्चिम में त्रिपुरा जिला के पट्टिकरा तक और दक्षिण में बंगाल की खाडी तक पहुँच गयी। प्यू और मोन जातियों ने भारतीय संस्कृति को आत्मसात किया हुआ था। अनिरुद्ध ने उन की भाषा, लिपी, साहित्य तथा धर्म संस्कृति का स्वीकार किया। यथावकाश प्यू और मोन भ्रम्म जाति के अभिन्न अंग बन गये। अनिरुद्ध भ्रम्म जाति का था।

अनिरुद्ध केवल विजेता ही नही था। देश की समृद्धि के लिये उस ने कृषि एवं व्यापार के क्षेत्र में व्यवस्था लायी। पगान को हनियान के सर्वास्तिवाद का केन्द्र बनाया। देश विदेश के विद्वान भिक्षुओं को राजाश्रय दिया। ग्रंथालयों तथा शिक्षा केन्द्रों का निर्माण किया।

भारत के उत्तरी बिहार में वैशाली का वंश प्राचीन एवं प्रतिष्ठित था। वैशाली की राजकन्या के साथ अनिरुद्ध का विवाह हुआ। अनिरुद्ध और राजकन्या पञ्चकल्याणी के सम्बन्ध में कितनी ही रोचक गाथाएँ म्याँमा के प्राचीन साहित्य में है।

बौध्द धर्म के प्रबल समर्थक एवं संरक्षक होने के नाते, सिंहल (श्रीलंका) का राजा विजयबाहु ने अनिरुद्ध से मित्रता सम्पादित की। विजयबाहुने चोल सेना को परास्त तो किया परन्तु सिंहल में बौध्द धर्म को भारी क्षति पहुँची। अनिरुद्ध ने बहुत से भिक्षु तथा धर्मग्रंथ सिंहल में भेजे। बदले में उसने भगवान के दन्त धातु के लिये इच्छा प्रकट की। सिंहल के राजाने इसे स्वीकार किया। अनिरुद्ध ने इस दन्त धातुपर खोजिगोन का महास्तूप बनवाना प्रारंभ किया जो बाद में उस के पुत्र चांसेता द्वारा पूर्ण हुआ। कलियुगाब्द ४१४९ (ख्रि. १०७७) में अनिरुद्ध की मृत्यु हुई। संस्कृत अभिलेख में उसे अनिरुद्ध देव कहा गया है।

श्री त्रिभुवनादित्य धर्मराज -

अनिरुद्ध के पश्चात उस का ज्येष्ठ पुत्र सवलु (शल्य) सिंहासन पर वैठा। परन्तु पेगू में मोन लोगों ने विद्रोह किया। सवलु की हत्या हो गयी। अनिरुद्ध का दूसरा पुत्र चांसेता उत्तरी म्यॉंमा में भाग गया था। उस ने लौट कर विद्रोहियों को परास्त किया। कलियुगाब्द ४१८६ (ख्रि. १०८४) में उस ने राजमुकुट धारण किया। चांसेता भारतीय राजकन्या वैशाली पञ्चकल्याणी का पुत्र था। हिन्दू रीति के अुनसार राज्यभिषेक कर के उसने 'श्री त्रिभुवनादित्य धर्मराज' पदवी को धारण किया। चांसेता अपनी कन्या का विवाह पट्टिकेरा (माणिपुर राज्य) के राजकुमार के साथ करना चाहता था। परन्तु उस के मंत्रियों ने विवाह का विरोध किया। राजकुमार राजकन्या से इतना अधिक प्रेम करता था कि उसने आत्महत्या करली। म्यॉंमा के साहित्य में इस आख्यायिका के आधार पर अनेक नाटक तथा गाथाएँ लिखी गयी हैं। आज भी म्यॉंमा में नाटक खेले जाते हैं।

म्यॉंमा के इतिहास में चांसेता का स्थान अत्यन्त महत्व का है। उस ने भारत से निकट सम्बन्ध प्रस्थापित किया। वहुत से वैष्णव तथा वौध्द भारत से म्यॉंमा में आकर स्थायिक हुए। जनश्रुतियाँ कहती हैं कि उसने निरन्तर तीन मास तक भारत के आठ भिक्षुओं को और साधुओं को अपने हाथ से भोजन कराया। भारत के विहारों एवं मन्दिरों के विषय में ज्ञान प्राप्त किया। उसके मन में महान् मन्दिर बनाने की कल्पना उदित हुई। और विश्व की अद्‌भुत कलाकृति पगान के आनंद विहार का निर्माण हुआ।

मन्दिर का परिसर लगभग ५७५ फूट वर्गाकार है। मुख्य मन्दिर की लम्बाई चारो ओर १७० फूट की है। प्रत्येक दिशा की मध्य में ६० फूट की तिकोनी छत की बरसाती है। मन्दिर के मध्य स्थित गर्भगृह में ८ फूट उँचे अधिष्ठान पर लगभग ३२ फूट उँचाई की सुंदर बुद्ध प्रतिमा स्थापित है। मन्दिर का प्रार्थना कक्ष शान्त एवं अलंकृत है जहाँ सूर्य की किरणे नही स्पर्श करती। प्रथम परिक्रमा में अस्सी गवाक्ष हैं। भगवान् बुद्ध की जीवन लीला परिक्रमा मार्ग से चलते ही साकार हो उठती है। भगवान के जीवन के १४७२ प्रसंग दीवारों पर उत्कीर्ण हैं।

चारो कोनों पर चार उँचे स्तूप हैं। मध्य में भी मन्दिर स्तूपाकार होते हुए उपर पतले लोहे के शिखर में परिवर्तित होता हुआ उभरता जाता है। शब्दों में वर्णन संभव नही। बाह्य रुप पूरा मन्दिर सुवर्ण एवं रजत से और रत्नों से अलंकृत है। सूर्य की किरणों से जगमगा उठता है। यह भारतीय स्थापत्य का अलौकिक आविष्कार सम्भवतः उत्कल (भारत) के कलाकारों का विश्व के लिये अमूल्य उपहार है।

इसी काल में बोध गया का मन्दिर जीर्ण हुआ था। चांसेता ने जब ये सुना तो उसने उसके जीर्णोद्धार की व्यवस्था की। नानाविध रत्नों को एकत्रित कर उन्हे गया के पवित्र मन्दिर के

पुनर्निर्माण के लिये भेजा। मन्दिर में अखण्ड ज्योति जलती रहने के लिये प्रबन्ध किया। भूतकाल में सम्राट अशोक द्वारा निर्मित भवन जीर्ण होकर गिर गये थे। उन का भी निर्माण करवाया।

दक्षिण भारत के चोल वंशीय राजकुमारी के साथ चांसेता का विवाह हुआ था। कलियुगाब्द ४२१४ (खि. १११२) में इस महान् राजा की मृत्यु हुई।

राजर्षि नृपतिसिन्धु -

चांसेता के पश्चात् अलौङ् सितु राजा बना। उसे नरपति सिन्धु या नृपति सिन्धु भी कहा जाता है। दक्षिण अराकान में इस समय विद्रोह हुआ। अलौङ् ने उस विद्रोह का दमन किया। उत्तरी अराकान में अराजकता फैली हुई थी। वहाँ के राजाने सहायता माँगी। अलौङ् ने जल सेना और थल सेना भेजी। वास्तविक उत्तराधिकारी को अराकान के गद्दीपर बिठाया।

बोध गया का जीर्णोध्दार पूरा नही हुआ था। अराकान का राजा उपकार का ऋण चुकाना चाहता था। अलौङ् ने उसे वह कार्य पूरा करने का उत्तरदायित्व सौंपा। अराकान के राजाने इस कार्य के लिये भारत में व्यक्ति और धनराशी भेजकर जीर्णोद्धार का कार्य पूर्णरुप से सपन्न किया। पेगू के दक्षिण में मपाजेदी पगोडा है। वहाँ पर ब्रह्मी, पाली, ख्यू एवं मोन भाषा के अभिलेख उपलब्ध हुए जिस में इस का स्पष्ट वर्णन है।

पगान में अलौङ् (नृपति-सिन्धु) ने थताचिनु मन्दिर का निर्माण किया। ५५ वर्ष के प्रदीर्घ राज्य काल के बाद उस के कनिष्ठ पुत्र नरत्थु के हाथों उस की दुर्भाग्यपूर्ण हत्या हुई। हत्यारे नरत्थु ने सारे देश में अशान्ति पैदा की। कलियुगाब्द ४४०१ (खि. १२९९) तक अनेक राजा हुए। इस काल में चीन के मुगल सम्राट कुब्लाई खाँ का प्रपौत्र तैमूर ने पगान को ध्वस्त किया। पगान खून और आग में नहाकर भुन उठा।

दो सौ पचास वर्षो का गौरवमयी इतिहास देखते देखते अतीत में खो गया। तीन शान सरदारों के हाथ में शासन था। राजा की हत्या करके उन्होंने नगर में आग लगा दी। भारत में भी इस्लामी आक्रमण से विध्वंस और अत्याचार का भयंकर अध्याय आरंभ हो गया गया। अफगाणिस्तान से ले कर बंगाल तक के प्रदेश में बौध्द विहार, मन्दिर, विश्वविद्यालय, सारा कुछ नष्ट हो गया था। संघर्ष चल रहा था परन्तु कोई एकछत्री शक्तिशाली हिन्दु सत्ता नही थी जो राष्ट्रीय वृत्ति के आधार पर इस्लाम के आक्रमण का प्रतिरोध करें।

शानजाति का प्रभुत्व -

शान जाति थायलंड में थी। पूर्वोत्तर म्याँमा में उन के उपनिवेश थे जो कभी छोटे राज्यों मे परिवर्तित हो गये। लडाकू जाति थी। पगान के पतन के पश्चात् शान जाति ने परिस्थिति का लाभ उठाते हुए स्वतंत्र राज्य स्थापित किया। दो पीढीयों के पश्चात पगान छोडकर ऐंवा में उन्हों ने नयी राजधानी बसायी। चीन के साथ कडा संघर्ष किया जिस के फलस्वरुप चीन ने शान

सत्ता को स्वीकृति दे दी। वर्तमान माण्डले के पास इरावती के पूर्व तट पर ऐंवा नगरी थी। युगाब्द ४४६६ (ख्रि. १३६४) से ४७३६ (ख्रि. १६३४) तक यह नगर सत्ता का केन्द्र था। तुङ्ग वंश ने भी कुछ काल यहाँ पर राज्य किया।

इस काल के मध्य संघर्ष चलते रहे। तुङ्ग वंशीय राज्य टवेंश्वेठी ने म्याँमा के एकीकरण का प्रयास किया। शान राज्यों के साथ कडा संघर्ष हुआ। थायलंड (श्याम देश) के साथ भी युध्द करना पडा। एकीकरण के प्रयास सफल नही हुए। कलियुगाब्द ४८ (ख्रि. १७) की शती में पुर्तुगीज, डच, तथा ब्रिटीश इन युरोपीय सत्ताओं का हस्तक्षेप प्रारंभ हुआ। अब राजकीय दृष्टि से म्याँमा संघटित नही था। कलियुगाब्द ४८८५ (ख्रि. १७८३) से ४९५९ (ख्रि. १८५७) तक ऐंवा के पास ही अमरपूर नामक राजधानी सत्ता केन्द्र रहा। उस के बाद वर्तमान 'माण्डले' नगर सत्ता का केन्द्र बन गया। परन्तु ब्रिटीशों के साथ संघर्ष करने की क्षमता अंतिम राजा तीबो में नही थी। कलियुगाब्द ४९०७ (ख्रि. १८८५) में उस को पराजित कर के ब्रिटीश सेना माण्डलें में प्रवेश कर गयी। म्यान्मार के राजा तीबो को बन्दी बनाकर भारत में रत्नागिरी नामक अरबी सागर के तट पर के गाँव में रखा गया।

भारत के समान म्याँमा भी परतंत्र हो गया।

वर्तमान म्याँमा -

म्याँमा आज भी बौध्दधर्मी है। उसके तीर्थक्षेत्र भारत में है। म्याँमा में पाली भाषा का अध्ययन एवं अध्यापन होता है। पाली भाषा और साहित्य का विकास वहाँ पर दो हजार वर्षो से हो रहा है। कलियुगाब्द ४५४४ (ख्रि. १४४२) के एक अभिलेख में शासनाधिकारी तथा उस के पत्नी द्वारा बौद्ध संघ को दिये गये दान का उल्लेख है। उसने उद्यान, खेत, दास के अतिरिक्त २९५ पाली व संस्कृत ग्रंथ दान दिये, उन की सूचि अभिलेख में दी है। म्याँमा की राजनीति और विधि (कानून) जिसपर आधारित है वे ग्रंथ है 'धम्मसथ'। इन की रचना मनु, नारद और याज्ञवल्यक्य आदि के धर्मशास्त्रो के आधारपर पाली भाषा में की गई थी। दूसरी विधि सम्बन्धि रचना है मनुसार। इस की रचना मनुस्मृति के आधार पर की गई थी।

कलियुगाब्द ५०५६ (ख्रि. १९५४) में विश्वशान्ति पगोडा के समीप मंगला पठार पर षष्ठ संगायन (बौध्द परिषद) का आयोजन म्यान्मार में हुआ था। सहस्त्रों भिक्षु विश्व के कोने कोने से आकर इस में सम्मिलित हुए थे। बौध्द धर्मी होने के कारण म्याँमा आज भी भारतीय संस्कृति से उतना ही जुडा हुआ है जितना दो हजार वर्ष पूर्व था।

म्यांमा
(ब्रह्मदेश)
भारत
दिग्बोई
कोहिमा
खासी पर्वत
ची
इंद सरोवर
बांगलादेश
पगान
(अरिमर्दनपुर)
रामरी
द्वीप
प्रोम
(श्रीक्षेत्र)
पेगु
हंसावती
रंगून
मार्तावान
आखात
मौलमीन
(रामपुर)
ला ओ स
थाईलँड
बंगकोक
अं द मा न
सा ग र
तेनासरीम
उ.

मानचित्र क. २
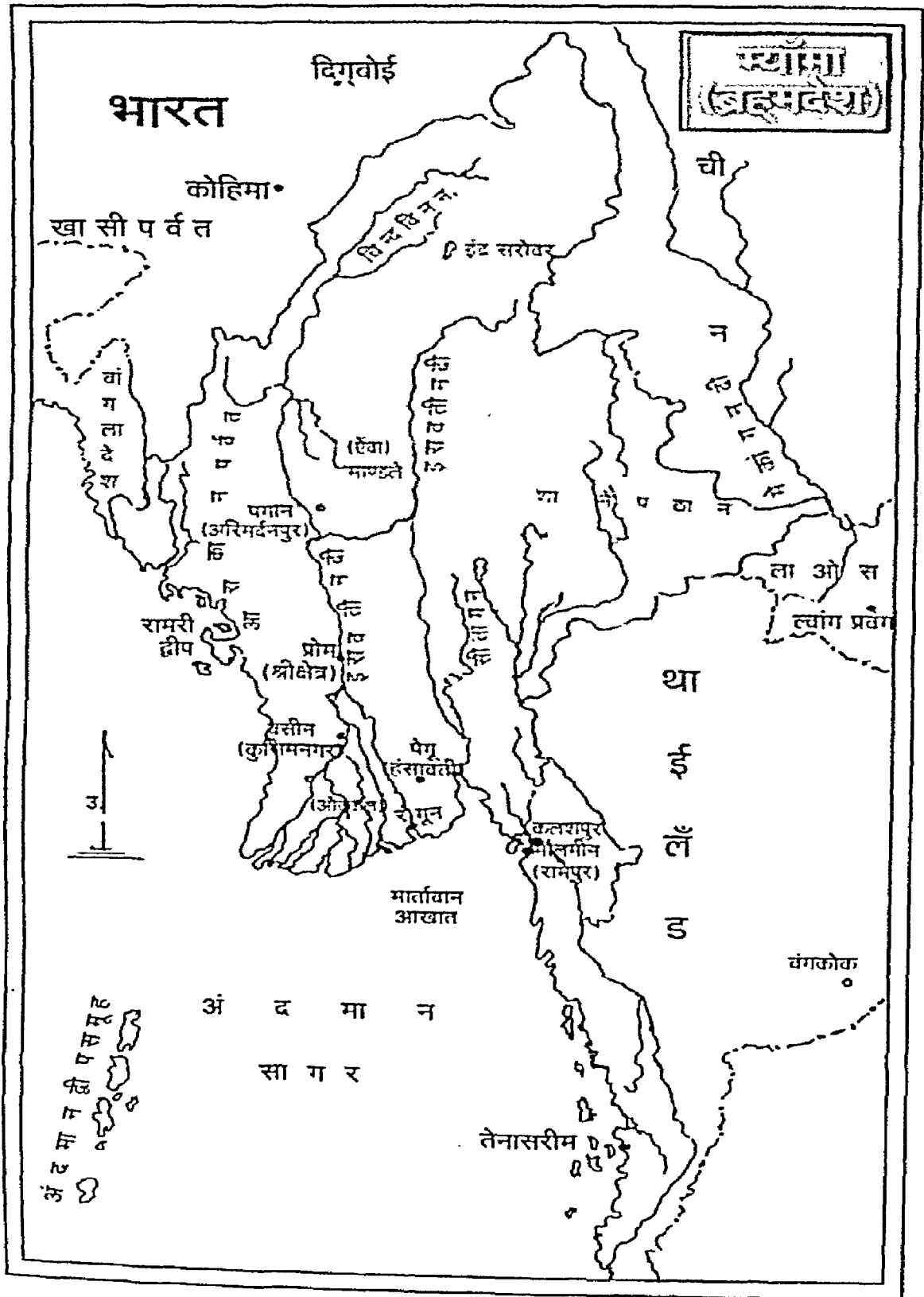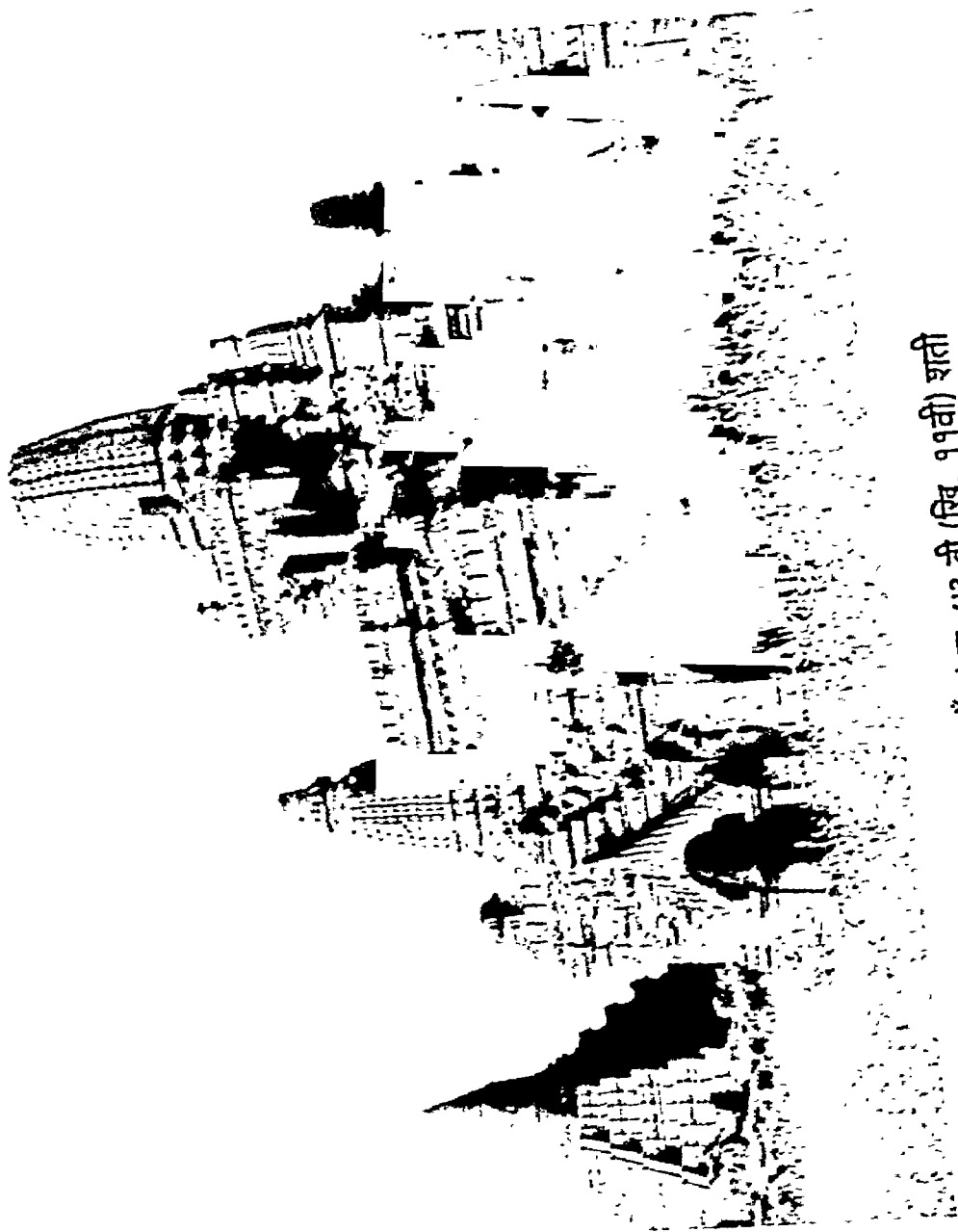
१. पगान (म्याँमा) क. ४३ वी (ख्रि. ११वी) शती

२. मन्दिर के अंदर के शिल्प - पगान (म्यॉंमा)

३. मन्दिर का शिखर - पगान (म्याँमा)

कम्बोडिया (कम्बुज देश)

वस्त्रों के रुप में भारतीय संस्कृति का प्रदान

कलियुगाब्द की वत्तीस वी (खिस्ताब्द प्रथम सदी) शती की घटना। एशिया में आग्नेय (दक्षिण पूर्व) दिशा की ओर सागर में असंख्य द्वीप हैं। भारत से लगा हुआ पूर्वी पर्वतीय प्रदेश लांघ कर हम यदि म्याँमा (ब्रह्मदेश) में प्रवेश करें तो उससे भी आगे वडा द्वीपकल्प दिखाई देता है। इस द्वीपकल्प का क्षेत्रफल है २२ लाख ६७ हजार वर्ग किलोमीटर। श्याम, कंबोडिया, लाओस, वियतनाम आदि देशों का समावेश इस द्वीपकल्प में होता है। वहाँ से नीचे दक्षिण की ओर मलाया से लेकर आस्ट्रेलिया, न्यूगिनी तक हजारो द्वीपों की एक लंबी शृंखला दूर तक फैली हुई है।

दो हजार वर्ष पूर्व इस समग्र भूमि पर बीहड वन थे। कही कही वीरान, निर्जन प्रदेश था। कंबोडिया की भूमि समुद्र से लगी हुई थी। तटवर्ती प्रदेश के आगे जंगल था। छोटे बडे वृक्षों से आच्छादित पहाडियाँ और अन्धाधुन्द वर्षा के कारण मनमाने ढंग से बहनेवाले कलकल करते निर्झर'... कही विस्तीर्ण सरोवर ... निर्वैर विचरण करनेवाले मदमत्त हाथिओं के झुंड ...

ऐसे इस प्रदेश में नाग वंश के लोग रहते थे। भाला और तीर-कमान की सहाय्यता से शिकार करना, मिट्टी के बर्तनों में पकाना, सहज धरती में जो उगे उसे उखाड़ लेना ... प्रकृति के चमत्कारों को भयचकित दृष्टी से देखना... पेडों के लकडियों को खड़ी कर बाँस मिट्टी की दीवार से आसरा बनाना... यह था उन का स्वच्छन्द जीवन..। अपने से अन्यत्र किसी संसार की उन्हे जानकारी नही थी। समाज था पर उस की कोई रचना नही थी। भावनाएँ थी पर उन की अभिव्यक्ति नही थी।

और ऐसे इस समूह की स्वामिनी थी एक नागकन्या 'सोमा'। रानी होने पर भी वह ऐसी ही थी, अपनी प्रजा जैसी ... उस की प्रजा को वस्त्रों का प्रयोग करना पता नही था।

ऐसी इस नाग जनजाति के स्वच्छन्द जीवन में एक असाधारण घटना घटित हुई।... एक प्रचण्ड जलपोत में अनेक अपरिचित मनुष्य तट की दिशा में आ रहे थे। उन की मुद्राएँ तेजस्वी थी। उन की कमर में और कन्धोंपर रंग बिरंगे वस्त्र थे। हाथों में बडे धनुष्य और कमर में परशु थे।

सोमा रानी को समाचार मिला तो वह अपनी सेना लेकर प्रतिकार के लिये सिध्द हुई।

परंतु शीघ्र ही उसे पता चला कि आये हुए ये अजनबी लोग लडने के लिये नही आये है... दास बनाने नही आये हैं .... लूटने नही आये है। वह असमंजस में पड गयी।

जलपोत का नायक शैलराज कौंडिन्य जब सामने आया तो उसे भी आश्चर्य हुआ। नाग जाति की स्वामिनी उस के सामने प्रकृतिदत्त अवस्था में खडी थी। कौडिन्य ने अपने सैनिक को संकेत किया और वस्त्र मँगवाया।

सोमाने वस्त्र हाथ में तो लिया परन्तु उस की अवस्था संभ्रमित थी। वस्त्र कैसे पहना जाता है, उसे पता नही था। अन्ततः उसकी स्त्रीसुलभ लज्जा जागृत हुई और उसने वस्त्र शरीरपर लपेट लिया।

अनजाने में नाग जाति की यह रानी दूरस्थ भारत से आये हुए उस साहसी वीर के हृदय की भी स्वामिनी बन गयी।

वस्त्र के माध्यम से भारत ने कंबुज देश को अपनी संस्कृति प्रदान की।

फूनान का हिन्दू साम्राज्य

मायसोन में प्राप्त, चम्पा नरेश प्रकाश धर्म का शालीवाहन शक ५७९ (क.यु. ३८५९, ख्रि. ७५७) का संस्कृत शिला लेख है। इस लेख में शैलराज कौंडिन्य और नागकन्या सोमा इन के विवाह का तथा राज्य स्थापना का वृत्त आता है।

(तत्र) स्थापितवान् शूलं कौंडिन्यस्तद्द्विजर्षभः।
अश्वत्थामो द्विजश्रेष्ठाद् द्रोणपुत्रादवाप्य तं...।।
... कुलासीद् भुजगेन्द्र कन्या, सोमेति सा वंशकरी पृथिव्यां।
आश्रित्यभावेतिविशेषवस्तु, या मानुषावासमुवास ....।।
कौण्डिन्यमाम्ना द्विजपुङ्गवेन कार्यार्थपत्नीत्वमनायि यामि।
भविष्यतोर्थस्य निमित्तभावे विधेरचिन्त्यं खलु चेष्टितं हि।।

द्रोणाचार्य के चिरंजीव पुत्र अश्वत्थामा ने कोण्डिन्य को अभिमंत्रित भाला दिया था। कोण्डिन्य ने उस भाले को घुमाकर दूर फेका, वह जहाँ गिर पडा, वहीं राज्य की राजधानी बसायी गयी। द्विजश्रेष्ठ कोण्डिन्य ने भुजगेन्द्र कन्या 'सोमा से विवाह किया। भविष्यकाल में जो विशेष कार्य (अर्थात् हिन्दू राज्य की स्थापना) होना था उस के लिये ईश्वर ने इन दोनों को निमित्त बनाया।

राजधानी का नाम 'व्याधपूर' रखा गया। कौण्डिन्य ने देशवासियों को सभ्यता दी।

जनता को वस्त्र पहनना, लज्जा करना, पढना और मानवीय जीवनयापन सिखाया। भारतीय धर्म, मनुस्मृती की व्यवस्था एवं रीतिरिवाज कायम किया।

इस प्राचीन इतिहास के दो साक्षी है। एक तो है विविध स्थानों पर फैले हुए शिलालेख और दूसरा साक्षी है चीन। चीनी इतिहासकारों ने बहुतेरी जानकारी सँभालकर रखी है। कम्बोडिया में कौण्डिन्य द्वारा स्थापित राज्य का चीनी इतिहास में नाम है, "फूनान का साम्राज्य"। कौण्डिन्य के पीछे पीछे सैंकडों साहसी हिन्दु वीर बाद में इस कम्बुज देश में आये। वहाँ के जीवन के साथ एकरुप हुए। नागवंशीय कन्याओं के साथ उन्होंने विवाह किये। अपने साथ वे संस्कृत भाषा भी वहाँ ले गये।

व्याधपूर सागरतट से लगभग १५० किलोमीटर अन्दर था। कम्बुज देश प्रकृति की दृष्टी से विचित्र ... भरपूर वर्षा, पर एक बार पानी बरस गया कि भूमि पुनः रुक्ष। कौण्डिन्य ने यह देखकर पानी रोकने की योजना बनायी। छोटे वडे बाँध बनवाकर धान की खेती आरंभ की। अब तक हुए उत्खनन से पता चलता है कि समुद्र तट के अकेओ बन्दरगाह से तो व्याधपूर तक नहरे फैली थी।

शनैः शनैः इस प्रदेश का सहज स्वाभाविक भारतीयकरण हुआ। उत्खनन से प्राप्त अवशेष, शिलालेख, चीनी बखर आदि की सहायता से जो भी चित्र सम्मुख आता है, वह अति विलक्षण है। कौडिन्य द्वारा स्थापित यह हिन्दु साम्राज्य छः सौ वर्ष बना रहा था। कौडिन्य के अनन्तर दो सौ वर्ष के काल में यह फूनान साम्राज्य दक्षिण में समुद्र से लेकर उत्तर में चीन की सीमान्त तक फैल गया था।

फूनान के सम्राटों का चीन से अधिक सम्बंध आता था। फूनान के राजदूत चीन के सम्राट के लिये भेंट लेकर जाते थे। चीन के प्रतिनिधी भी उपहार लेकर व्याधपूर आते थे।

कंबोडिया के राजदूत भारत में - कलियुगाब्द ३३४५ (इस्वी २४३)

कौण्डिन्य का वंश शैलेन्द्र कहलाता था। कलियुगाब्द की ३४ वी शती में (ख्रिस्ताब्द तीसरी शती) चंद्रवर्मा शैलेन्द्र वंश का नरेश था। चीनी विवरण में उसे फान् चन् कहा गया है। चंद्रवर्मा के शासन काल में एक भारतीय व्यापारी फूनान में आया था। उससे चंद्रवर्मा को भारत की अपार धन सम्पत्ति, रहन-सहन, खान-पान, व्यवहार और रिति-रिवाज - आदि के सम्बन्ध में बहुत सी नई बाते ज्ञात हुई। उसने यह भी बताया कि भारत में जा कर वापस आने के लिये तीन या चार साल लग जाएँगे।

चन्द्रवर्मा ने 'सू वू' को (कम्बोडियाई राजदूत का चीनी नाम) भारत भेजा। यही समय है जब भारत में गुप्त वंश के मूल पुरुष ' श्री गुप्त ने शक गुरुण्डों पर विजय पाकर पाटली पुत्र में सुवर्णयुगीन गुप्त साम्राज्य की नींव डाली थी। यद्यपि उस के अधिकार में बहुत छोटा क्षेत्र था -

फिर भी भविष्य में एक महान् भारतीय सत्ता का वह आरम्भ था। उस के पुत्र युवराज घटोत्कच ने महाराज की उपाधि धारण करके गुप्त शासन के क्षेत्र का विस्तार किया। तीसरी पीढी के ही चन्द्रगुप्त प्रथम ने तो गुप्त सम्वत् आरंभ किया।

सू वू कंबोडिया से मलयद्वीप में तकोला बंदरगाहपर गया। वहाँ से बंगाल की खाड़ी पार करके गंगा के मुहाने ताम्रलिप्ति पहुँचा। वहाँ से गंगा नदी के साथ साथ उपर की ओर जलयात्रा करते हुए वह राजधानी में पहुँचा। संभवत यह राजधानी पाटलीपुत्र थी। चीनी विवरण के अनुसार भारत के राजा ने सू वू का उत्साह से स्वागत किया। भारत भ्रमण की सब सुविधाएं उसे प्रदान की। जब सू वू वापस गया तब भारत के राजा ने अपने दो दूत उस के साथ फूनान भेजे। फूनान के राजा के लिये चार सुंदर अश्व भी राजदूतों के साथ भेज दिये।

चंद्रवर्मा (फान् चन) के बाद चन्दनवर्मा (चन् तन्) का नाम शासनकर्ता के रुप में प्राप्त होता है। जब भारत के राजदूत व्याधपूर पहुँचे तब चन्दनवर्मा ने उन का सत्कार किया। चीन के राजदूत भी फूनान में आते थे। साथ में बहुमूल्य उपहार लाते थे। फूनान के बारे में चीनी राजदूतों द्वारा लिखा हुआ सुंदर विवरण उपलब्ध है। उस में लिखा है कि,

"फूनान का राज्य वैभवसम्पन्न था। कर देने के लिये प्रजा सोना, चाँदी, मोती का प्रयोग करती थी। लोग घर में चाँदी के पात्र प्रयोग में लाते थें। लोग अत्यन्त सत्यनिष्ठ एवं शान्त स्वभाव के थे। वे स्वर्गीय देवताओं की उपासना करते थे। काँसे की मूर्तियाँ ढालते थे। प्रातः - स्नान अनिवार्य था। स्नान के पश्चात् पाठ एवं पूजा करते थे। लेखन में भारतीय लिपि का प्रयोग होता था। देश में अनेक स्थानों पर पुस्तकालय थे। ग्रंथभाण्डार को व्यवस्थित रखने एवं उस के उपयोग हेतु स्वतन्त्र संस्थाएँ बनी थी। कराधान, प्रजा-हित के कार्यो एवं कृषि के लिये स्वतन्त्र अधिकारी नियुक्त थे। सब बातों के विधिवत् अभिलेख शासन की ओर से रखे जाते थे।

कलियुगाब्द की ३६ वी शती में (खिस्ताब्द ५ वी सदी) फूनान के राज्य में अव्यवस्था उत्पन्न हुई थी। उस समय भारत से साहसी वीरों का एक दल कंबोडिया में पहुँचा। इस दल का नेतृत्व करनेवाले का नाम भी कौंडिन्य था।चीनी विवरण के अनुसार वह ब्राह्मण था। उसे भी दैवी साक्षात्कार से प्रेरणा प्राप्त हुई थी। फूनान के लोगों ने उस का उत्साहपूर्ण स्वागत किया और उस को अपने देश का राजा बना दिया। इस कौण्डिन्य के कारण भारतीय संस्कृति अधिक सुदृढ रुप में स्थापित हुई।

सम्राट जयवर्मा (प्रथम) युगाब्द ३५८०-३६१६ (ख्रि. ४७८ - ५१४)

कौण्डिन्य के वंश में तीसरी पीढी में जयवर्मा सिंहासनाधीश हुआ। उसने मलयद्वीप (मलाया) पादाक्रान्त कर के अपने साम्राज्य का विस्तार किया। चीन के साथ व्यापार में वृद्धि

की। जयवर्मा शैव संप्रदाय का उपासक था। बौध्द मत का भी आदर करता था। संघपाल एवं मंद्रसेन नामक दो भिक्षु जयवर्मा के काल में चीन गये थे। वे अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे। सोलह वर्ष - चीन मे रहकर उन्होने अनेक बौध्द ग्रंथ चीनी भाषा में अनुवादित किये।

जयवर्मा की पटरानी थी कुलप्रभावती। वह वैष्णव सम्प्रदायी थी। कुरुम्बनगर में उसने विष्णू की एक मूर्ति प्रतिष्ठापित करायी थी। उस के साथ एक तडाग तथा विश्रामगृह का निर्माण किया था। कंबोडिया से प्राप्त सबसे प्राचीन अभिलेख जयवर्मा का है। क्षीरसमुद्र में शयन करनेवाले एवं भुजङ्ग के फन को पर्यङ्क (पलंग) के रुप में प्रयुक्त करनेवाले भगवान् विष्णू की स्तुति इस अभिलेख में इन शब्दों में की गयी है।

युञ्जन् योगमतर्कितङ्गमपि यः क्षीरोदशय्यागृहे
शेते शेषभुजङ्गभोग रचनापर्यङ्कपृष्ठाश्रितः।
कुक्षिप्रान्त समाश्रित त्रिभुवनो नाभ्युत्थिताम्भोरुहो
राज्ञीं श्रीजयवर्म्मणोग्रमहिषीं स स्वामिनी रक्षतु।।

सम्राट जयवर्मा एवं महारानी कुलप्रभावती का पुत्र था गुणवर्मा।दूसरे एक अभिलेख में गुणवर्मा द्वारा चक्रतीर्थ स्वामी विष्णू के मंदिर को दिये गये दान का उल्लेख है। इस अभिलेख का एक श्लोक विष्णू भक्ति का साक्षात्कार कराता है।

तद्भक्तोऽधिवसेत् विशेदपिच वा तुष्टान्तरात्माजनो।
मुक्तो दुष्कृतकर्मणस्म परमं गच्छेत् पदं वैष्णवम् ।।

"विष्णू का जो भक्त उस के मन्दिर में निवास करता है या उसमें प्रवेश भी कर लेता है, उसकी अन्तरात्मा सन्तुष्ट हो जाती है। दुष्कर्मों से वह मुक्त हो जाता है। परम्वैष्णव पद को प्राप्त कर लेता है।" विष्णू की मूर्तियाँ ऐसे ब्राह्मणों द्वारा प्रतिष्ठापित की गयी थी जो वेदों, उपवेदों एवं वेदांगों में पारंगत थे।

जयवर्म्मा ने साम्राज्य के सुदृढ नौदल का भी निर्माण किया। ९० फूट लम्बी नौकाओं का समावेश नौदल में था। फूनान को उसने महान समुद्र सत्ता का रुप दिया।

समग्र राजपरिवार के साथ हाथीपर सँवार होकर जयवर्म्मा प्रतिदिन सुबह समारोह पूर्वक शिव का पूजन करने निकलता था। अमात्य, सेनापती आदि प्रमुख अधिकारी भी विविध उत्सव प्रसंग में अपने अपने हाथियों पर शोभायात्रा में सम्मिलित होते थे। राजप्रसाद और अन्य सरदारों के भवन लकडी की सुंदर बनावट के थे। लोगों के आवास, भवन सुरेखित एवं योजना से बनाये थे।

संस्कृत भाषा और पौराणिक हिन्दु धर्म के साथ-साथ पौराणिक अनुश्रुति तथा प्राचीन

भारतीय मान्यताओं का भी प्रभुत्व इस काल में प्रस्थापित हुआ था। संस्कृत के एक अभिलेख में रानी कुलप्रभावती के सम्बन्ध में लिखा है, "शत्रु के लिये शची का, अग्नि के लिये स्वाहा का हर के लिये रुद्राणी का और श्रीपति के लिये श्री का जो स्थान है, वही जयवर्म्मा के लिये कुलप्रभावती का था।

शासन कर्ता कैसा हो इस के सम्बन्ध में भी एक अभिलेख में सुंदर संकेत प्राप्त होता हैं। जयवर्म्मा के दूसरे पुत्र रुद्रवर्मा की प्रशंसा में अभिलेख कहता है,

एकस्थम् अखिलान् नराधिपगुणान् उद्यच्चते वेक्षितुं
धात्रा निर्मित एक एव स भुवि श्रीरुद्रवर्म्मा नृपः।
सर्वं सच्चरितं कृतं नृपतिना नेतातिधर्मार्थिना
लोकानुग्रहसाधनं प्रति न च क्षत्रव्रतं खण्डितम्।।

"भगवान ने श्री रुद्रवर्मा को ऐसे बनाया था, जिससे कि राजा के योग्य सब गुण उसमें एक स्थानपर एकत्र हो गये थे। धर्म के साधन की अभिलाषा से उसने सब सत्कृत्य किये थे। पर साथ ही उसने क्षत्रियों के उन कर्तव्यों का परित्याग नही कर दिया था जिन द्वारा जनता का हित-कल्याण होता हैं।"

कंबु स्वयंभुव

आज का कम्बोडिया नाम वस्तुतः मूल 'कम्बुज' का पाश्चात्य रुप है। उत्तरी फूनान में आरंभ में कम्बुज केवल एक रियासत थी।

एक प्राचीन जनश्रुति के अनुसार इन्द्रप्रस्थ का राजा आदित्यवंश अपने पुत्र से रुष्ट हो गया और उसने उसे राज्य से निर्वासित कर दिया। इंद्रप्रस्थ से निर्वासित राजपुत्र कोकलोक नामक राज्य में चला गया। वहाँ के राजा को परास्त कर वह उस देश का स्वामी बन गया। एक बार की बात है, कि समुद्रतट पर घूमते हुए उसे वही रात वितानी पडी। रात के समय एक अत्यन्त सुंदर नागकन्या दिखाई दी, जिस के रुप पर वह मुग्ध हो गया। उसके साथ उसने विवाह का निश्चय किया। नागराज भी प्रसन्न थे। विवाह संपन्न हुआ। नागराज की सहायता से राजपुत्र के राज्य का क्षेत्र विस्तृत हुआ। राजपुत्र का नाम था कम्बु। कम्बु से जन्मा राज्य कम्बुज कहलाया।

दूसरी एक गाथा है। कम्बु स्वायम्भुव नाम का राजा आर्य देश पर राज करता था। वह देवाधिदेव महादेव का उपासक था। शिवजी प्रसन्न हुए। उन्होंने उसे मीरा नामक अप्सरा दी। कम्बु ने मीरा से विवाह किया। परन्तु मीरा की अकाल मृत्यु हो गयी जिस से कम्बु को वैराग्य

हो गया। आर्य देश से वह घूमते घूमते एक उजाड प्रदेश में आ गया। वहाँ पर एक गुंफा में से बडे बडे भयंकर नागों ने उस पर आक्रमण किया। कम्बु ने अपना खड्ग निकाला। जैसे ही वह नाग पर प्रहार करनेवाला था नागराज ने मनुष्य वाणी में उस का नाम नाम पूछा। परिचय होनेपर नागराज ने कहा, "तुम तो शिवभक्त हो और शिव मेरे स्वामी है। तुम शोक का परित्याग करो। हमारे साथ निवास करो। कम्बु वहाँ पर शासन करने लगा। नागराज ने अपने मन्त्रशक्ति से उस प्रदेश को हरे भरे सुन्दर देश में परिवर्तित किया। कम्बु के नाम से देश कम्बुज कहलाने लगा।

इसी समय, कलियुगाब्द ३७५२ (ख्रिस्ताब्द ६५०) के लगभग भववर्मा और चित्रसेन ये दोनो भाई फूनान के परिसर में फैली अराजका और विद्रोह का डटकर सामना कर रहे थे। वे स्वयं को फूनान के सम्राट के पौत्र कहलाते थे। भववर्मा ने कम्बु-मीरा परिवार की लक्ष्मी नामक राजकन्या से विवाह किया। रुद्रवर्मा के मृत्यु के उपरान्त भववर्मा राजा बना।

ब्रहमदेश के द्वारावती से लेकर चम्पा (विएवनाम) के सागर तट तक का सारा प्रदेश भववर्मा ने कम्बुज के साम्राज्य के अधीनता में कर लिया। भववर्मा कें छः अभिलेख प्राप्त हुए है। अभिलेख में उसे सोमवंशी कहा है। वह पराक्रमी था। उसे अपने बल पर विश्वास था। शत्रुओं के संघ का उसने मर्दन किया।

श्रीभववर्मण: क्षितिपतेश्शक्तित्रय इलाघिनो।

वीर्योद्दामसपत्नसंघ-समर-स्पर्धाभिमानच्छिरः।। यह उस का वर्णन है।

एक अन्य अभिलेख में कहा है,

रिपुनारी मुखाब्जेषु कृतबाष्पपरिप्लवः।।

वह शत्रुओं की नारियों के मुखकमलों को अश्रुबाष्प से आप्लावित कर देनेवाला था।

लाओस में बसाक के समीप वाट् फू पर्वत है। वाट फू अर्थात् लिंग पर्वत। इस पर्वत के तली में भववर्मा ने 'भवपूर' नामक राजधानी बसायी। लिंग पर्वत पर भद्रेश्वर स्वामी का अर्थात् महादेव मन्दिर का निर्माण किया। श्याम (थायलंड) की सीमापर एक शिवलिंग प्राप्त हुआ है। उसकी पीठिकापर आलेखित लेख से प्रकट होता है, कि भववर्मा ने 'त्र्यंबकेश्वर' शिवलिंग की भी स्थापना की थी।

'भववर्मा के बाद उसका भाई चित्रसेन कम्बुज का राजा बना। राज्याभिषेक के समय उसने 'महेन्द्रवर्मा' पदवी धारण की। अपने भाई के साम्राज्य विस्तार का कार्य उसने पूर्ण किया। ब्रहमदेश का पूर्व भाग, थायलंड, लाओस एवं दक्षिण विएतनाम पर कम्बुज की सत्ता स्थापन हुई।

महेन्द्रवर्मा ने शम्भुपद अर्थात् शिवपद की स्थापना की। अभिलेख में वर्णन है...

ध्रुवपुण्यकीर्ति के पौत्र, ध्रुव के पुत्र द्विजोत्तम विद्यावित् ने इस शम्भुपद के पुण्य कार्य को सम्पन्न किया। पर्वत की उपत्यका में भगवान के अभिषेक के लिये सरोवर बनवाया। शकाब्द ५२६ में भगवाना का यह पद ईंट की दीवारों से घेरा गया, और ५४६ में सरोवर को जल से भरा गया।"

यज्ञकर्ता सम्राट ईशानवर्म्मा - कलियुगाब्द ३६६२ (ख्रि. ६१७)

महेन्द्रवर्मा के पश्चात उस का पुत्र ईशानवर्मा कम्बुज के सिंहासनपर आसीन हुआ। उस के उत्कीर्ण लेख मेकांग नदी के मुहाने के प्रदेश में और थायलंड के पूर्वी सीमा के प्रदेश में भी मिले है। सम्बोर प्रई कुक नामक स्थानपर उसने 'ईशानपूर' इस नयी राजधानी का निर्माण किया। इस नगरी के अवशेष एवं ईशानवर्मा के अभिलेख प्राप्त हुए है।

ईशानपूर में बीस हजार मकान थे। सब मकान पूर्वाभिमुख थे। नगर के मध्य में राजभवन था जिस के द्वार पर राजा के एक हजार रक्षक होते थे। अमात्य एवं प्रमुख शासकीय अधिकारी राजसभा में पूर्व सूचना से प्रवेश करते थे। सिंहासन के सम्मुख तीन बार भूमि स्पर्श करके अभिवादन करते थे। राजा की अनुज्ञा से फिर राजा के सम्मुख अर्धवृत्ताकार बैठ जाते थे।

ईशानवर्मा वैदिक धर्म का अनुयायी था। उसने अनेक यज्ञ किये। संन्यास धर्म को प्रोत्साहन दिया। ईशानवर्मा के राजाप्रसाद में उस का सिंहासन सप्तरत्न मण्डित, पञ्चविध-गन्धसुगन्धित था। गजदन्त तथा सुवर्णपुष्पों द्वारा सुसज्जित स्तम्भ चारो ओर थे। सिंहासन के दोनो ओर एकेक सेवक धूप जलाने की धूपदानी लिये खडा रहता था। ईशानवर्मा गोटेदार श्वेत रंग का रेशमी वस्त्र पहनता था। बहुमूल्य मणियों और मोतियों से अलंकृत मुकुट धारण करता था।

चम्पा के (विएतनाम) राज्य से ईशानवर्मा का घनिष्ठ सम्बन्ध था। उस की पुत्री श्रीशर्वाणी का विवाह चम्पा नरेश जगध्दर्म के साथ हुआ था। श्री शर्वाणी का पुत्र प्रकाशवर्मा चम्पा का विख्यात नरेश हुआ। ईशानवर्मा के द्वितीय कन्या का विवाह 'दुर्गस्वामी' से हुआ। दुर्गस्वामी दक्षिण भारत से आया हुआ तेजस्वी ब्राहमण युवक था।

ईशानवर्मा के काल में शिव एवं विष्णू की उपासना प्रचलित थी। इस के साथ साथ अब दोनो देवताओं का अभिन्नत्व भी प्रस्थापित हुआ। शम्भुपुरी के निकट आनन्दित प्रासाद से हरिहर की मूर्ति प्राप्त हुई है। शिव एवं विष्णू को एकही मूर्ति में अर्धनारीश्वर की तरह मिलाया गया है। मूर्ति खण्डित है। प्नोम पेन्ह के संग्रहालय में है।

मूर्ति की कला शैली भारतीय है। कल्पना मौलिक कम्बुज है। प्रस्फुटित नेत्र, पूर्ण अधरपर किञ्चित मुस्कान, अङ्गों में सजीवता, भावभंगिमा में कृपाशीलता, नाभि के किञ्चित् नीचे तक चुनी धोती, कटिप्रदेश पर रत्नमय मेखला, शरीर के दक्षिण एवं उत्तरी दोनों भागों में

शिव एवं विष्णु जैसे कल्पना का झलकता अंतर देखते ही बनता है। लगता है कि मूर्ति कुछ कहती आगे बढना चाहती है।

ईशानवर्मा के पच्चीस वर्ष के राज्यकाल में शिक्षा की आश्रम पध्दती आरम्भ हुई। भारत से कतिपय विद्वान, आचार्य कंबुज में आकर वहाँ के स्थायिक निवासी हुए। उन्होंने गुरुकुल प्रारंभ किये।

ईशानवर्मा के बाद कम्बुज के परिसर में विद्रोह आरम्भ हुए। आनन्दितपुर में चंद्रवंशीय बालादित्य नामक राजा ने स्वतंत्र राज्य स्थापित किया। शम्भुपुर और व्याधपुर में भी स्वतंत्र राजा थे। दक्षिण कम्बोडिया के इस प्रदेश को जल कम्बुज कहा जाता था। विघटन के कारण राजशक्ति निर्बल पड गयी। इसी काल में श्री विजय (सुमात्राद्वीप) के शैलेन्द्र सम्राट साम्राज्य विस्तार के लिये तत्पर थे। इन्डोनेशिया के बहुत से द्वीपों पर उन का प्रभुत्व स्थापित हुआ था। कम्बुज भी श्रीविजय के आधीन हो गया।

सम्राट जयवर्मा (द्वितीय)-कलियुगाब्द ३९०४-३९५६ (खि. ८०२-८५४)

कम्बुज की पुनः स्वतन्त्रता का श्रेय 'जयवर्मा' को दिया जाता है। जयवर्मा के रूप में जनता को अत्यन्त पराक्रमी, उदार व रुपवान नेता प्राप्त हुआ। माता की ओर से उस का शम्भुपुर--अनिन्दितपुर राजकुल के साथ सम्बन्ध था। एक अभिलेख में उसके सम्बन्ध में कहा है,

'यो ऽ भूत्, प्रजोदयायैव राजवंशेऽति निर्मले।'

(जयवर्मानि प्रजा के हित के लिये अति निर्मल राजवंश में जन्म लिया।)

जयवर्मा पहले जावा (यवद्वीप - इन्डोनेशिया) में रहा था। वहाँ से शासन के लिये वह कम्बुज आया। कम्बुज में अनेक नगरों में शासन करने के बाद वह स्वतंत्रता घोषित करके कम्बुज का राजा बन गया। वह जब यवद्वीप (जावा) से आया तब उस के साथ उसका पुरोहित "शिवकैवल्य" था। वह उसके गुरु थे। जयवर्मा ने उनसे तान्त्रिक अनुष्ठान करवाये। राज्यभिषेक के बाद जयवर्मा ने 'परमभट्टारक परमेश्वर' उपाधि को धारण किया। शिवकैवल्य राजपुरोहित बने।

जयवर्मा ने भारत से 'हिरण्यदामा' नामक महान् पण्डित एवं तांत्रिक विद्या के ज्ञाता ब्राहमण को आमंत्रित किया। कम्बुज देश स्वाधीन रहे और जयवर्मा चक्रवर्ती बने इस हेतु जयवर्मा ने हिरण्यदामा से पुरश्चरण करवाया। हिरण्यदामा ने तांत्रिक विधि संपन्न किया। शिवकैवल्य को भी तन्त्र की विधि सिखा दी। हिरण्यदामाने एक नये देवराज नामक पंथ का प्रचलन किया। लिंग के स्वरुप में पहाड पर या उँचाई पर देवराज की स्थापना की जाती थी। शैव

तंत्र में विनाशिख, नयोत्तर, सम्मोह और शिरच्छेद अनुष्ठान के साधन हैं। जयवर्मा के साथ आरंभ हुए देवराज पंथ का प्रचलन तीन सौ वर्ष तक चलता रहा। वही राजधर्म वन गया।

जयवर्मा की राजधानी 'हरिहरालय' थी। जयवर्मा स्वयं मंदिर, भवन, तडाग, शिल्पकार्य इस में रुचि रखता था। सीएमरीप के परिसर में कुलेन पर्वत है। घना जङ्गल है। पर्वत की शिखरों से स्त्रोतास्विनियाँ निकलती है और 'तेन लेप' झील में समर्पित होती है। जयवर्मा ने पर्वतपर अनेक स्मारक वनवाये हैं। उत्खनन में वहाँ पर १७ प्रासाद देवस्थान और मूर्तियाँ प्राप्त हुई है। कुलेन पहाडी का नाम ही महेन्द्र पर्वत था। जयवर्मा को अनुश्रुतियाँ इन्द्र का पुत्र मानती हैं। उसके पिता इन्द्र उसे इन्द्रपुरी ले गये थे। लौटने पर पिता ने उसके साथ एक वास्तुकलाविद् को भेजा। उसने कम्बुज में अनेक स्मारक वनवाये। अमरेन्द्रपुर नगरी का भी निर्माण जयवर्मा ने कराया था।

चीन का दक्षिण भाग कम्बुज साम्राज्य की उत्तरी सीमा से सटा हुआ था। युन्नान प्रांत (नान चाओ) उत्तर भाग में मिथिला राष्ट्र या जनपद था। दक्षिण में आलवी राष्ट्र था। चीन का यह प्रदेश 'गांधार' नाम से प्रसिध्द था। भारतीय उपनिवेश था। ये भारतीय उपनिवेश कम्बुज के आधीन थे।

जयवर्मा (द्वितीय) का पुत्र जयवर्धन ने २१ वर्ष, कलियुगाब्द ३९५८ से ३९७९ (खि. ८५६ से ८७७) तक राज्य किया। जयवर्धन भी जयवर्मा (तीसरा) ही कहलाता था।

इन्द्रवर्मा-ख्मेर साम्राज्य-कलियुगाब्द ३८७९-३९९१ (खि.८७७ से ८८९)

जयवर्धन की कोई सन्तान नही थी। 'क्षत्रिय' पृथ्वीचन्द्रवर्मा का पुत्र इन्द्रवर्मा का सम्बन्ध उसकी माता की ओर से तृतीय जयवर्मा (जयवर्धन) के साथ था। और कोई निकट सम्बन्धी न होने के कारण इन्द्रवर्मा को राजसिंहासन का अधिकारी स्वीकार कर लिया गया। इन्द्रवर्मा का विवाह राजा महिपतिवर्मा की पुत्री इन्द्रदेवी के साथ हुआ था।

इन्द्रवर्मा आचार्य शिवसोम का शिष्य था। एक गाथा के अनुसार आचार्य शिवसोम भागवत शंकराचार्य के शिष्य थे और भारत से कम्बुज आये थे। आचार्य शिवसोम के निर्देशपर इन्द्रवर्मा ने दिग्विजय किया। प्रसत् कडोल अभिलेख में कहा है.

''चीन चम्पायवद्वीप भूभृदुत्तुंग मस्तके।
यस्याज्ञा मालतीमाला निर्मला चुम्बलायते।।

(चीन, चम्पा और यवद्वीप के राजा उसकी आज्ञाओं रुपी मालती पुष्पों की निर्मल मालाओं को अपने मस्तकों को झुकाकर ग्रहण करते है।)

इन्द्रवर्मा केवल विजेता ही नही था, अपितु कला का भी प्रेमी था। राजसिंहासन पर आरुढ होने के तत्काल पश्चात् उसने प्रतिज्ञा की थी, कि पाँच दिनों के अन्दर नये निर्माण का कार्य आरंभ किया जायेगा। उसने स्वयं एक सिंहासन, एक इन्द्रयान (एक प्रकार का वाहन) और इन्द्रविनायक तथा इन्द्रप्रासादक नाम के दो प्रासादों का प्रारुप तैयार किया और उनका निर्माण भी शुरु करा दिया। इन्द्रवर्मा स्वयं शिल्पकर्मी था। शिव और दुर्गा की तीन मूर्तियाँ उसने स्वयं बनायी थी।

जयवर्मा द्वितीय कम्बुज के इस साम्राज्य का संस्थापक था। ख्मेर साम्राज्य इस नाम से यह विख्यात है। इन्द्रवर्मा ने जयवर्मा और उस की रानी की पाषाण प्रतिमाएँ स्थापित की। हरिहरालय उसकी राजधानी थी। हरिहरालय अंकोर थाम के पूर्व में है। स्थानीय भाषा में उसे वकोंग कहते है। कलियुगाब्द ३९८१ में (ख्रि. ८७९ में) उसने अपने पूर्वजों को शिवस्वरुप मान कर उन के स्मारक (स्तम्भ) खडे किये। उसके दो वर्ष बाद ही भव्य शिवालय का निर्माण किया। यह इन्द्रेश्वर का मन्दिर स्थापत्य का उत्कृष्ठ उदाहरण है। अंकोरवाट का स्थापत्य एवं बोरोबुदुर (जावा) के स्तूप का निर्माण करनेवाले कलाकारों की प्रेरणा इसी इन्द्रेश्वर मंदिर का भव्य एवं सुन्दर स्थापत्य था।

इन्द्रवर्मा के मृत्यु के पश्चात् वह 'ईश्वरलोक' नाम से प्रसिद्ध हुआ।

यशोवर्मा - कलियुगाब्द ३९९१ - ४०१० (ख्रि. ८८९ -९०८)

इंद्रवर्मा का पुत्र यशोवर्मा अत्यंत कुशल एवं कर्तृत्ववान् था। आचार्य रामाशिव के पास उसने अध्ययन किया था। काव्य एवं शास्त्र में यशोवर्मा की अबाध गति हो गयी थी और विद्या तथा साहित्य के प्रति अनुराग था। वह कवियों का आश्रयदाता था। स्वयं यशोवर्मा ने पतंजलि के महाभाष्यपर टीका लिखी थी। यशोवर्मा के अभिलेखों से उसके शासनकाल का परिपूर्ण चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित होता है।राज्य समृध्द था। जनता सुखी और सम्पन्न थी। देशमें सर्वत्र शान्ती विराजती थी। अपनो प्रजा की आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक उन्नती के लिये राजा निरन्तर प्रयत्नशील रहता था।

विश्व का सर्वश्रेष्ठ नगर - यशोधरपूर

यशोवर्मा स्वयं शिल्पज्ञ था। ख्मेर साम्राज्यका शिल्पयुग उसने प्रारंभ किया। राज्यशासन ग्रहण करते ही उसने यशोधरपूर इस अद्वितीय नगर का निर्माण किया। ८ किलोमीटर लम्बा और ५ किलोमीटर चौडा आयताकार नगर था। नगर के चारों ओर ३३० फूट चौडी खाई बनायी थी। खाई के पश्चात् नगर को प्राचीर ने घेरा था। ७ कि.मी. लंबा व २ कि.मी. चौडा जलाशय

बनवाकर उसका जल पूरी राजधानी में नहरों द्वारा पहुँचाया गया था। बडी नहरों पर ७०० छोटी नहरे बनाई थी। इन छोटी छोटी नहरों के द्वारा धान की खेती के छोटे छोटे भूखण्ड बनाए गये थे।

दक्षिण उत्तर तथा पश्चिमपूरब के मार्गों को मिलकर नगर के मध्य में विशाल चतुष्पथ केन्द्र था।इस केंद्रपर पर्वताकार पाँच उत्तुंग शिखरों का मंदिर बनवाया था। स्थानीय भाषा में इसे बरबंग कहते है। यह साक्षात् इन्द्रका विश्रामधाम था। बरबंग ठोस पत्थर का पञ्चखण्डीय चबुतरा है। मध्य के चबूतरों पर छोटे छोटे अनेक शिखराकार मंदिर है।

दक्षिण दिशा में प्राचीर के पास 'नॉम बाखेंग' पहाडीपर यशोवर्माने राजप्रासाद का निर्माण किया। उसका नाम रखा यशोधरागिरि। जो विशाल जलाशय बनाया था, उसका नाम था यशोधर तडाग। सिएमरीप नदी का प्रवाह मोडकर उसका पानी तडाग में छोडा था। इस तडाग के मध्य में भी यशोवर्मा ने सुंदर मन्दिर बनवाकर उसमें अपने पूर्वजों की पाषाण प्रतिमाओं की स्थापना की। आजभी यह स्मारक 'लोलई' नाम से विख्यात है।

राजधानी से कुछ दूरी पर दंग्रेक पहाडी पर १६०० फूट उँचे त्रिकोणाकृति शिखर पर यशोवर्मा ने प्रीय विहिअर (प्रिय विहार) का निर्माण किया। कतिपय मन्दिर एवं विहार दंग्रेक परिसरमें बनवाये गये। इन उत्कृष्ठ शिल्पों के स्वामित्व के विषय में आज भी थायलंड और कंबोडिया के बीच विवाद चल रह है।

यशोवर्मा की अमरकीर्ति - बेथोन

बेथोन घने अरण्य से घिरा हुआ स्थान है जहाँ पर यशोवर्मा ने भव्य एवं अतिरम्य शिवमन्दिर का निर्माण किया। ख्मेर काल के स्थापत्य की एवं यशोवर्मा की यह अमरकीर्ति है। मंदिर का अधिष्ठान लगभग १००० फूट से अधिक लंबा एवं ४५० फूट चौडा है। आयताकार उत्तुंग अधिष्ठान पर शिखराकार मन्दिर दिखाई देता है। पर्वत की तरह अधिष्ठान से ऊपर उठता है। प्रत्येक शिखर शिव की भव्य मुखाकृति है।

सीढीयाँ चढते समय दोनो बाजू में १२ फूट उंचे फन उठाए विशाल नागदेवता है। प्रथम दीर्घा में प्रवेश करते ही अनिर्वचनीय आनंद का अनुभव होता है। दीवारपर प्राचीन कम्बुज का सारा समाजजीवन साकार हुआ दिखाई देता है। राजा, राजकुमार, राजकन्याएँ, राजभवन, अभियान पर निकले सैनिक, हाथी तथा अश्वोंपर आरुढ सैन्य पथके, रथ, सागर की उछलती लहरोंपर डुलती हुई नौकाएँ, तट पर मछलियाँ पकडते हुए बैठे मछुआरे, बाजार में अपने अपने दुकानपर व्यस्त विक्रेता एवं उनसे वस्तू के मूल्य के लिये वाद संवाद करती हुई ललनाएँ, पूरा जनजीवन साक्षात् दृश्यमान होता है। और इन सबसे दूर, समाज में रहते हुए भी निर्लेप... कोई

काषायवेशधारी संन्यासी.. साधू मंदिर की ओर जाते हुए दिखते हैं।

दूसरी और उत्कीर्ण अप्सराएँ हमारा ध्यान अपनी ओर खींचती है। कोई अप्सरा खडी है तो अन्य आसनस्थ है, कोई नृत्यमग्न है, कोई स्वयं की विचारों में खोई है। परन्तु सारी अप्सराएँ वासनाहीन है। शान्ति और भक्ति भावना का उदय करती हुई उनकी भंगिमा में एक अद्‌भुत विशेषता है।

क्षणमात्र हम खो जाते है। लगता है इस प्राचीन जनजीवन के हम भी अभिन्न घटक है। प्रथम दीर्घा में सोला शिखर है। दूसरी दीर्घा के मध्य में वृत्ताकर केंद्रिय शिखर है। शिखर के चारो दिशाओं में चतुर्मुख बने है।

मुखों के मस्तक पर मुकुट है। अर्धप्रस्फुटित कमललोचन, अधरों पर विश्वासदर्शक हास्य.... जैसे पवित्र आशीर्वाद मुख से उद्‌भुत हो रहा है। चारों मुख के ऊपर शिखर ऊपर उठा है .... उन पर कमल की पंखुडिया बनी है जो एक के ऊपर दूसरी शिखराकार होती ऊपर गयी है।

यह शिखरशैली कम्बुज के स्थापत्य की विशेषता है। भारत के आध्यात्मिक आत्मा को कम्बुज के दैवी कलाकारों ने मुखाकृति शिखरों का रूप दिया है। प्रमुख शिखर कभी सुवर्णमण्डित था। कुल पचास शिखर है। केंद्रिय शिखर में शिवलिङ्‌ग था। इसप्रकार ५१ शिखरों का यह पर्वत। उन शिखरों में कैलास है। सर्वोच्च शिखरपर भगवान् कैलासपति स्वयं निवास करते थे। कितनी सुन्दर कल्पना को यहाँ मूर्तरूप दिया गया है। अन्दर शिव, चारों दिशाओं में शिव, सर्वत्र शिव --- शिवमय जगत् की अद्‌भुत साकार कल्पना।

आकाश विमान -

वेथोन के शिवमन्दिर के साथ ही एक विलक्षण विष्णु मन्दिर का निर्माण यशोवर्मा ने आरम्भ किया था। उसके उत्तराधिकारी हर्षवर्मा राजा के काल में वह पूर्ण हुआ। यह मन्दिर नागकथाओं से सम्बन्धित है। मन्दिर सरोवर के मध्य में है। चारो ओर सीढीयाँ है और मन्दिर का अधिष्ठान धरातल से ६० फूट उँचा आयताकर है। अधिष्ठान तीन मंजिला है। सीढी पर पाँव रखते ही दोनो और सिंहासन मुद्रा में बैठे शेर स्वागत करते है।

चौथे और पाँचवे मँजिलपर सुन्दर भवन है। छठे मंजिल पर सुवर्ण मण्डित कक्ष था।कम्बुज का जीवन नाग परम्परा से व्याप्त है। आज भी कम्बुज में नाग-नागिन के कथानक प्रचलित है। आज भी विवाह प्रसंग में राजा और नागिन का अभिनय होता है। चारो ओर बन्धु बान्धव बैठते है। नागदेवी के गीत गाये जाते है। छठी मंजिल के इस कक्ष में रात को राजा

निवास करने जाता था। गाथाएँ कहती है कि रात को वहाँ नागदेवी आती थी। राजा उसके साथ विहार करता था। जिस दिन नागदेवी नही आती वह राजा के लिये मृत्यु दिन होता था।

विहार कक्ष की दीवारों पर कितनी ही गाथाएँ उत्कीर्ण की हुई है। गरुड, सिंह, अश्व, अश्वारोही, पदाति सैनिक, शिकार का दृश्य, खेल, मल्लयुद्ध ऐसे विविध दृश्य साकार होते है।

वेथोन के उत्तर दिशा की दीर्घा में एक भव्य मूर्ति है। कितनी उदासीन सी लगती है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे इस नश्वर जगत में, सव से अलग एक अनश्वर देवता जंगल में चुपचाप वैठा है। मस्तक पर भगवान वुद्ध के समान उर्म (घुंगराले वाल) हैं। कर्ण स्कंध प्रदेश से मिले है। नेत्र अर्ध उन्मीलित है। अधर मिटे हुए पर किञ्चित पीछे खिंचे हुए हैं। अनेक जगह मूर्ति खण्डित हुई है फिर भी एक अनामिक उदासीन लहर हृदय में पैदा करती हैं।

इसे यशोवर्मा की मूर्ति मानते है। आकाश विमान के अभिलेख में उल्लेख है, एक ऋषि के शाप के कारण यशोवर्मा को कुष्ठ हो गया था। वह नगर के वाहर निवास करने लगा था।

यशोवर्मा के वाद उस के दो पुत्र हर्षवर्मा (प्रथम) और ईशानवर्मा (द्वितीय) राजसिंहासन पर आरुढ हुए। उन के वाद जयवर्मा (चतुर्थ) राज वना। अंकोर थोम (नगर धाम) के उत्तरपूर्व नये नगर का राजधानी के रुप में उसने निर्माण किया। उसके उध्वस्त अवशेष मात्र आज दिखाई देते है। उसमें एक मुख्य, मन्दिर वारह गौण मन्दिर, और कृत्रिम जलाशय के खण्डहर राजधानी के वैभव का आभास कराते है। जयवर्मा के प्रसत-अन्दोन अभिलेख में शिव, गंगा, विष्णू, उमा, ब्रह्मा और भारती की स्तुति के पश्चात् यशोवर्मा, हर्षवर्मा, ईशानवर्मा एवं जयवर्मा की प्रशंसा की गई है। नई राजधानी कोहकेर में थी। १२० फीट उँचे अधिष्ठान के खण्डहर भी दिखाई पडते है जिस पर सम्भवतः कुलदेवता की प्रतिष्ठापना हुई थी। यशोवर्मा ने मृत्यु के उपरान्त 'परमशिवपद' प्राप्त किया। उसका पुत्र हर्षवर्मा द्वितीय केवल दो वर्ष शासन करके ब्रहमलोक (मृत्यु) को प्राप्त हुआ।

राजेन्द्रवर्मा

हर्षवर्मा के वाद उसका भाई राजेन्द्रवर्मा सिंहासन पर आरुढ हुआ। कलियुगाब्द ४०५४ (खि. ९५२) का उसका अभिलेख उपलब्ध है। शार्दूलविक्रीडित एवं स्रग्धरा वृत्त में २१८ श्लोक उसमें है। अन्य ७ अभिलेख भी प्राप्त हुए है। चिरकाल तक यशोधरपूर दुर्लक्षित रहा था। उजड गया था। राजेन्द्रवर्मा ने राजधानी का पुनरोद्धार किया। 'महेन्द्र प्रासाद' का निर्माण किया जिस में एक सुवर्णगृह भी था। अङ्कोर थोम के रुप में यशोधरपूर का जो अद्‌भुत परिवर्तन वादमें हुआ, उसका सूत्रपात राजेन्द्रवर्मा द्वारा ही कर दिया गया था।

राजेन्द्रवर्मा के कालमें उसे अनेक पडोसी राष्ट्रों के साथ संघर्ष करना पडा। चंपा के साथ जो संघर्ष हुआ उसमें उसने चम्पा को पराजित करके चम्पापूर को उध्वस्त किया। अभिलेखों में इसका संकेत मिलता है। 'चम्पादि परराष्ट्राणां दग्धा कालानलाकृतिः।' ऐसा वर्णन आता है। राजेन्द्रवर्मा स्वयं पौराणिक हिन्दु धर्म का अनुयायी था। उसने शिव - पार्वती, विष्णू, ब्रह्मा और शिव की अनेक मूर्तियाँ मन्दिरों में प्रतिष्ठापित करायी थी । उसने बौध्द मत का भी गहरा अध्ययन किया था। कलियुगाब्द ४०७० (ख्रि. ९६८) में राजेन्द्र वर्मा की मृत्यु हो गयी। उसके लिये 'शिवलोक' बिरुद का प्रयोग किया गया।

जयवर्मा (पञ्चम्) कलियुगाब्द ४०७० - ४१०३ (ख्रि. ९६८-१००१) विद्वत्ता एवं ज्ञान का युग -

जयवर्मा के ३३ वर्षके प्रदीर्घ शासन काल में विद्वता एवं ज्ञान के नये युग का आरंभ हुआ। कम्बुज वैसे भी भारतीय संस्कृति एवं परंपरा का प्रभावी केन्द्र था ही। राजभाषा संस्कृत थी। सांस्कृतिक जीवन का केन्द्रबिन्दु हिन्दु धर्म था। वेद और उपनिषद् इसी दृष्टि से समादृत थे। समाजजीवन का अधिष्ठान रामायण, महाभारत एवं पुराण ग्रंथ थे। पाणिनी का व्याकरण, पतञ्जलि का योग दर्शन, चरक व सुश्रुत के चिकित्सा ग्रंथ आदि का अध्ययन होता था।

यशोवर्मा के अभिलेख में सेतुबन्ध का संकेत आता है। वाकाटक नरेश प्रवरसेन जो चंद्रगुप्त विक्रमादित्य की पुत्री प्रभावती देवी का पुत्र था, उसने लिखा हुआ वह ग्रंथ है। अभिलेख में कहा है,

येन प्रवरसेनेन धर्मसेतु विवृण्वता।
परः प्रवरसेनोपि जितः प्राकृतसेतुकृत।।

(राजाने अपनी प्रवरसेना द्वारा स्थापित धर्म सेतुओं से दूसरे प्रवरसेन को पीछे छोड दिया, क्यों कि उसनें तो केवल एक साधारण सेतु का ही निर्माण किया था)

दूसरे एक अभिलेख में श्रीस्वामी नाम के प्रकाण्ड पण्डित का उल्लेख है और यशोवर्मा के बारे में लिखा है,

"यस्सर्व शास्त्रशस्त्रेषु शिल्प भाषा लिपिष्वपि । नृत्यगीतादि विज्ञानेस्वादिकर्त्तेव पण्डितः।।"
("जो (राजा यशोवर्मा) सब शास्त्रों और शस्त्रों, सब शिल्पों, भाषाओं और लिपिओं तथा नृत्य, संगीत आदि विज्ञानों का पण्डित है।")

स्दोक काक थोम अभिलेख में जयेंद्र पण्डित का उल्लेख है जो सिध्दान्त, व्याकरण एवं धर्मशास्त्र के आचार्य थे। दूसरे एक 'बनथत अभिलेख में आचार्य भूपेन्द्र पण्डित के आश्रम का सुंदर चित्रण आता है।

"विद्यापवर्ण विहितापचितिप्रवन्धे
यस्याश्रमेऽनवरताहुति धूमगन्धे।
दुर्गागमेषु मतिभेदकृतार्थनीत्या
विद्यार्थिनां विवदतां ध्वनि रुत्समर्प।।

"इस भूपेन्द्र पण्डित के आश्रम में जहाँ निरन्तर यज्ञ में दी गयी आहुतियों के धूम की सुगन्ध व्याप्त रहती थी, वहाँ कठिन शास्त्र के अभिप्राय के संबंध में मतिभेद के कारण विद्यार्थियों में जो वाद विवाद चलते रहते थे, उनकी ध्वनि से भी उस का आश्रम गुञ्जायमान रहता था।"

गुरुकुल में गुरु एवं शिष्य के सम्बन्ध पितापुत्र समान थे। "शिष्यान् यथा चेष्टयुतोपदेष्टा, यथात्मजान् वा जनकोऽपि यत्नात्' अर्थात् जैसे पिता अपनी सन्तान का यत्नपूर्वक पालन करता है, वैसेही वहाँ गुरु अपने शिष्यों का ध्यान रखता हुआ उन्हे शिक्षा प्रदान करता है।

गुरुकुल में स्त्रियाँ भी शिक्षा प्राप्त करती थी। अभिलेख में 'तिलका' नामक विदुषी का उल्लेख आता है। उसे आचार्यो ने भरी परिषद् में वागीश्वरी भगवती की उपाधि प्रदान की थी। आचार्य योगेश्वर की शिष्या 'सती जनपदा', जयवर्मा की बहन 'इन्द्रलक्ष्मी', अनेक सामाजिक संस्थाओं की सञ्चालिका प्राणदेवी आदि सुसंस्कृत विदुषियों के उल्लेख प्राप्त होते है।

राजा सप्तम जयवर्मा की रानी इन्द्रदेवी विवाह पूर्व कालमें नगेन्द्रतुङ्ग तिलकोत्तर और नरेन्द्राश्रम नामक आश्रमों में अध्यापन कार्य करती थी। वहाँ सरस्वती समान विराजती थी। और शिष्याओं द्वारा घिरी रहती थी।

यशोवर्मा के समय एक सौ आश्रम थे। आश्रम चलानेवाले आचार्य गृहस्थ धर्म का त्याग किये हुए, इन्द्रियजयी, गृहस्थ कर्म का त्याग किये हुए, शील संपन्न, अध्ययन तत्पर, धार्मिक पूजापाठ के विधि में निपुण पति थे। शैव एवं विष्णु मंदिर से जोडे हुए कतिपय आश्रम थे। जयवर्मा पञ्चम के सम्बन्ध में कहा गया है कि उसने वर्णो और आश्रमों को दृढ आधारपर स्थापित कर भगवान को प्रसन्न किया था। उस की भगिनी इन्द्रलक्ष्मी का विवाह भारत से आये दिवाकर भट्ट के साथ हुआ था। एक अभिलेख में कहा है,

"सभी दिशाओं से, अपने ज्ञान के कारण विख्यात श्रेष्ठ ब्राहमण ... जिन्हे वेदोंका मृहत्व ज्ञात हुआ है ... वेद वेदान्त में जो पारङ्गत है .... जो कर्तव्य तत्पर है ... जयवर्मा राजा के आश्रय में आये"

जयवर्मा के काल में बौध्द धर्म का प्रसार विशेष रुप से हुआ। स्वयं जयवर्मा ने कत्तिपय बौध्द मठ स्थापन करने में सहायता दी।

सूर्यवर्मा (प्रथम) कलियुगाब्द ४११२ - ४१५१ (ख्रि. १०१०-१०४९)

जयवर्मा के मृत्यु के पश्चात लगभग दस वर्ष का काल गृहकलह और संघर्ष का रहा। इस संघर्ष में सूर्यवर्मा यशस्वी हुआ। वह इन्द्रवर्मा का वंशज था। उस की रानी वीरालक्ष्मी यशोवर्मा के राजवंश की थी।

अपने प्रतिद्वंद्वीयों को परास्त कर सूर्यवर्मा सिंहासन पर आरुढ हुआ था। उसके लिये यह अत्यन्त आवश्यक था कि राजनैतिक व्यक्ति एवं पदाधिकारी उसके प्रति अनुरक्त बने रहे। इस प्रयोजन से सूर्यवर्मा ने राजभक्ति की शपथ लिवाने की एक नई परम्पराका आरम्भ किया। यह शपथ अंकोर थोम के गोपुरों के आठ स्तम्भ पर उत्कीर्ण है।

सूर्यवर्मा बौध्दमतावलम्बी था। तथापि शिव और विष्णू मन्दिर का निर्माण भी उसने करवाया था। कपिलेश्वर का विशाल मन्दिर उसीने बनवाया। अंकोर से कुछ दूरी पर उसने विशाल राजप्रासाद का निर्माण किया। वही पर एक भव्य शिखराकार मन्दिर में शिव एवं बुद्ध दोनों प्रतिमाएँ स्थापित की।

मृत्यु के बाद उसे निर्वाणपद का बिरुद दिया गया। सूर्यवर्मा के पश्चात् उदयादित्य ने कलियुगाब्द ४१५१ से ४१६८ तक शासन किया। उसके पश्चात् हर्षवर्मा और धरणीन्द्रवर्मा ने शासन किया। कलियुगाब्द ४२१३ (ख्रि. ११११) तक कम्बुज में अस्थिरता रही। चम्पा के साथ शत्रुत्व था। कंबुज साम्राज्य की शक्ति दुर्बल हो गयी। चम्पा ने कम्बुज को दो बार पराजित किया।

सूर्यवर्मा (द्वितीय) कलियुगाब्द ४२१४-४२५४ (ख्रि. १११२-११५२)

कम्बुज की राजनैतिक एकता पुनः स्थापित करने का कार्य सूर्यवर्मा (द्वितीय) ने कर दिखाया। कम्बुज दो राज्यों में विभक्त हो गया था। एक भाग पर धरणीन्द्रवर्मा का शासन था। तो हर्षवर्मा (तृतीय) का कोई उत्तराधिकारी दूसरे भाग पर शासन करता था। दोनों को परास्त करके पुनः शक्तिशाली कम्बुज खडा करने में पुरोहित दिवाकर पण्डित की सहायता प्राप्त हुई। कंबुज के राजपुरोहित शिवकैवल्य की उस परम्परा को स्थायी रुप से जारी रख रहे थे जिस के अनुष्ठानों में तान्त्रिक उपासना का प्रमुख स्थान था। दिवाकर पण्डित ने राजा से कोटि होम, लक्ष होम, तथा महा होम आदि याज्ञिक अनुष्ठान करवाये। वाट फू पहाडीकर स्थित भद्रेश्वर मन्दिर में शंकर, नारायण, विष्णू एवं ब्रहमा की मूर्तियाँ तथा शिवलिङ्ग की प्रतिष्ठापना सूर्यवर्मा ने की।

सूर्यवर्मा के पराक्रम की गाथाएँ चीनी इतिहास में भी विस्तृत रुप में आती है। उसने दो बार कम्बुज के राजनैतिक प्रतिनिधी मण्डल को चीन की राजसभा में भेजा था। चम्पा (विएतनाम)

से दक्षिण ब्रह्मदेश (म्यॉंमा) तक पूर्वपश्चिम एवं दक्षिण चीन के युन्नान से मलाया प्रायद्वीप के उत्तरी प्रदेश तक कंबुज साम्राज्य की सत्ता फैली थी। सीझर के समय रोमन साम्राज्य का जो क्षेत्रफल था उससे दुगुने क्षेत्र में यह हिन्दू राज्य विस्तारित हुआ था।

सूर्यवर्मा के सेनादल में लगभग २ लाख पदाति २०,००० अश्वारोही एवं १०,००० हाथी होंगे। चीनी इतिहास में तो कहा है कि उसकी सेना में २ लाख हाथी थे। कम्बुज सत्ता का नौदल भी प्रभावी था। कलियुगाब्द ४२३० (खि. ११२८) में अनाम के साथ युध्द हुआ तव स्थलमार्ग से २०,००० सेना भेज गयी थी। उनकी सहायता के लिये ७०० जहाजों का वेडा जलमार्ग से पहुँचा था।

विश्व का प्रथम आश्चर्य - अंकोर वाट् अर्थात् विष्णुमन्दिर

विश्व का प्रथम आश्चर्य है अंकोरवाट्, जिस का निर्माण सूर्यवर्मा ने किया। कम्बुज के विलक्षण प्रतिभाशाली कलाकारों के स्थापत्य एवं शिल्प का यह महाकाव्य है। इस के निर्माण के संदर्भ में एक सुन्दर गाथा केतुमाल सूत्र में आती है।

एक सद्गुणी राजा था पर सन्तान हीन था। इन्द्र की कृपा से पुत्र हुआ। उसका नाम केतुमाल रखा गया। उसी समय अलकापुरी की एक देवयानी एक चीनी के घरसे ६ फुल चुरा लाई। इन्द्रने उसको दण्ड स्वरुप मृत्युलोक भेज दिया। उसे भी एक पुत्र हुआ। उसका नाम पुष्णोकर रख दिया। शैशवावस्था से पुष्णोकर को पाषाणपर चित्र उत्कीर्ण करने का छन्द था। छः वर्ष वाद देवयानी अलकापुरी में वापस गयी। जव पुष्णोकर १० वर्ष का हुआ तो अपनी माता को ढूंढता हुआ अलकापुरी पहुँचा।

इन्द्र केतुमाल को भी अलकापुरी में ले आया। पुष्णोकर की रुचि देखकर इन्द्रने मूर्ति कला- प्रवीण देवताओं के पास शिक्षा के लिये उसे भेजा।

समय आनेपर इन्द्रने दोनों को मृत्युलोक में भेजते हुए कहा "केतुमाल राजा बनेगा। पुष्णोकर से इन्द्रने कहा, केतुमाल जो कहे उसके अनुरुप दिव्य भवन का निर्माण करो, परन्तु वह भवन इन्द्रलोक से उत्तम ना होना चाहिये।

पुष्णोकर ने इन्द्रलोकीय भवन के आधारपर अंकोर वाट का निर्माण किया। केतुमाल इंन्द्र के आशीर्वाद से राजा बना। सिंहासनारोहण के समय उसे स्वर्गीय कृपाण 'प्रा-खन' दिया। यह तलवार आज भी राजप्रसाद में ब्राहमणों द्वारा सुरक्षित है। कंबुज राजा समारोह पर उसे धारण करते हैं।

इन्द्रलोक तो किसीने देखा नही है। पर इन्द्रलोक के भवन कैसे होते है, यह अगर

ख़्ना है तो चलिये कम्बोडिया में और देखिये अंकोर वाट!

चार किलोमीटर परिखा के विशाल सरोवर में बना हुआ जलमन्दिर! दुर्ग के चारों ओर से प्राचीर (तट) होती है और परिखा से वह घिरी रहती है बस वैसे ही स्वच्छ लहराते जलसे ापूर्ण ६५० फूट चौडी खाई और उसे सट कर बनी हुई प्राचीर। खाई के जलमें तंरगते मलपत्र।

जल से भरी परिधि को पार करने के लिये ३६ फूट चौडा सेतु है। सेतु के दोनो बाजूमें ागे की और फन फैलाये हुए १२ फूट उँचे नागों की शृंखला का तट है। यह १५६० फूट लम्बा तु पार करके हम प्राचीर के पश्चिमाभिमुख प्रवेशद्वार पर आते है। कभी इस प्रवेशद्वार के दोनो ाजू में विशाल कक्ष थे जो पुस्तकालय थे। अब तो केवल कुछ पाषाणखण्ड उन प्राचीन स्तकालयों की मूक गाथा सुनाते है।

अन्दर प्रवेश करते ही २५०० फूट लम्बी दीर्घा सामने आती है। दीर्घा की दीवारों पर ष्णु एवं यमलोक के संबंधित कथानक उत्कीर्ण है। यमयातना से संबंधित कृमिमय, कुतशानभली, ास्थिभंग, ऋकच्छेद कुम्भिपाक, रौरव आदि नरक दृश्य सामने आते हैं। अपने कर्मों का इतना ायंकर फल ... मन भयचकित होता है, परन्तु क्षणमात्र में विष्णू लोक के आश्वासक स्वर्गीय श्य साकार होते है।

पूर्व दीर्घा में अमृत मन्थन का २० फूट उँचा भव्य शिल्पांकित चित्र आँखों के सामने खडा ोता है। लगता है, देवयुग के उस घटना के वह कलाकार प्रत्यक्ष दर्शी ही होंगे। पश्चिम दीर्घा में वेश करते ही, कुरुक्षेत्र साकार होता है। महाभारत की घटनाओं का जिवन्त पट आखों के ामने खुलता जाता है। फिर साकार होती है मर्यादापुरुषोत्तम राम की अमर गाथा। विराध वध, ारीच वध, वाली-सुग्रीव संघर्ष अशोक वाटिका में हनुमान-सीता संवाद ... राम रावण युध्द .. हम त्रेतायुग के इन घटनाओं के साक्षी बन जाते हैं।

तल की दीर्घाओं से घिरा आयताकृति अधिष्ठान २२ फूट उँचा उठता जाता है। सीढीयों े दूसरे खण्ड (मंजिल) पर की दीर्घा में प्रवेश करते ही चारों कोनोंपर शिखर दिखाई देते है। ीर्घा के दीवारों पर की अप्सराएँ मनमोदन करती हुई अदृश्य होती है ... और राजा, ाजपरिवार, सैनिक, हाथी, प्रजा कितनेही दृश्य साकार होते जाते है। इन्द्रलोक के अद्भुत शिल्प खते हुए तीसरे खण्ड पर पहुँचते है तो लगता है साक्षात् स्वर्गलोक में हम प्रवेश कर रहे है। ाह खण्ड दूसरे से ४४ फूट उँचा है। यहाँ भी चारों ओर शिखर है। हर एक खण्ड के प्रांगण में ल भरा हुआ और उसपर सेतु बने हुए है।

तीसरे खण्ड के केंद्रबिन्दु से प्रमुख शिखर ११५ फूट उँचा उठता है। भूमि की सत्तह से

उसकी उँचाई २१० फूट हो जाती है। शिखर की रचना शुद्ध भारतीय है।

केन्द्रिय शिखर के गर्भगृह में देवराज की मूर्ति थी।

भगवान् प्रलय के पश्चात् क्षीरसागर में शयन करते थे। अंकोर वाट के कल्पनाकार ने मानवकृत पर्वताकार सुमेरु की कल्पना की। प्रत्येक खण्ड को जल से घेरकर सागर के बीच उन्हे बनाया। ७५ फूट उँचाई तक प्रति २५ फूट पर एक एक सागर है। उस सागर के मध्य में प्रत्येक खण्ड है।

मुख्य शिखर घनाकार अधिष्ठानपर बना है। केन्द्र से जैसी शाखाएँ निकलकर सन्तुलित रुपसे दीर्घाओं, सोपानों, सेतुओं एवं जल सभी स्थानों को सम्बन्धित करती रहती है।

देवराज की ही ज्योति से विश्व ज्योतिर्मय है। एकही स्थान से निकली ज्योति ने चारो ओर प्रकाश फैलाया है।

भगवान चिदाकाश स्वरुप है। उसके पास पहुँचने के लिये जल ... स्थल ... वायु सबको क्रमशः लांघकर ही मानव आकाश में पहुँच सकता है। कितने ही द्वार, कितने ही सागर, कितने ही सेतु पार करने पडते हैं। इस भवसागर को जो पार करेगा वही सोपान आरोहण करता हुआ भगवान के श्रीचरणों का दर्शन कर सकेगा।

कितना अद्भुत आयोजन है ये?

मन्दिर का शासन

इतने भव्य विशाल मन्दिर का शासन भी उतनाही व्यवस्था पूर्ण था। मन्दिर कम्बुज की सारी प्रजा का सांस्कृतिक केन्द्र था। वहाँपर विश्वविद्यालय था। ९७० स्नातक थे, ४३० आचार्य थे। उनका खाना-पीना आवास का प्रबन्ध शासन द्वारा होता था। मन्दिर के सब प्रकार की व्यवस्थाओं के लिये ६६,६२५ व्यक्ती नियुक्त थे। पत्थर के ५६६ और ईंटों के २८८ मकान बनाए हुए थे। ३,४०० ग्रामों का उत्पन्न मन्दिर की व्यवस्था में लगाया था।

यह मन्दिर अनेक सामाजिक उत्सव, कीर्तन, प्रवचन, भजन, कला और शिक्षा का केन्द्र था। मन्दिर व्यवस्थापन की ओरसे चिकित्सालय (Hospitals) चलाये जाते थे। प्रजा के किसी भी व्यक्ति को विनाशुल्क चिकित्सा सुविधा प्राप्त थी। प्रख्यात आयुर्वेदाचार्य उपलब्ध थे। यात्रियों के लिये धर्मशालाएँ बनायी गयी थी।

व्यवस्थापर दृष्टि रखने के लिये विशेष शीलवान् एवं कार्यक्षम अधिकारी नियुक्त किये जाते थे। सूर्यवर्माने प्रदीर्घ काल ४० वर्ष शासन किया। मृत्यु के पश्चात् वह 'परमविष्णुलोक' बिरुद से प्रसिद्ध हुआ।

धरणीन्द्रवर्मा (द्वितीय) सूर्यवर्मा के पश्चात् राजा बना। सिंहल (लंका) के इतिहास में एक घटना आती है। सिंहल में राजा पराक्रम बाहु का शासन था। उसने कम्बुज देशके राजा के लिये उपायन (भेंट आदि) भेजा। उपायन में सिंहल की राजकुमारी भी थी। ब्रह्मदेश के राजाने उसे अधिगत कर लिया। बादमें जब जयवर्मा (सप्तम) राजा बना तब उसने इस अपमान का प्रतिशोध लिया। ब्रह्मदेश पर विजय प्राप्त किया।

यशोवर्मा द्वितीय

द्वितीय यशोवर्मा धरणीन्द्रवर्मा के अनन्तर राजा हुआ। उसके समय 'भरतराहु सम्बुद्धि' नामक व्यक्ति के नेतृत्व में विद्रोह की ज्वाला ने रुद्र रुप धारण किया था। ऐसी स्थिति में 'श्रीन्द्रकुमार' ने यशोवर्मा की सहायता की। उसने स्वयं अपने पराक्रम से विद्रोह का दमन किया।

कम्बुज के राजशासन में 'सञ्जक' प्रथा थी। सञ्जक अंगरक्षक होते थे। स्वामी की सुरक्षा उनका जीवित कार्य होता था। अपने प्राणों की आहुति देने के लिये वे उद्युक्त रहते थे। अपने स्वामी के साथ छाया की तरह रहते थे। श्रीन्द्रकुमार के दो सञ्जक अर्जुन और श्रीधरदेव थे। वे दोनो भरत राहु सम्बुद्धि से अपने स्वामी की रक्षा करते हुए काम आये थे। श्रीन्द्रकुमार ने उनके परिवारों का उत्तरदायित्व तो लिया ही, साथ ही इनकी मूर्तियाँ मन्दिर में स्थापित की।

यशोवर्मा ने चम्पा पर अनेक अभियान चलाये। एक संघर्ष में श्रीन्द्रकुमार की मृत्यु हो गयी। त्रिभुवनादित्य नामक व्यक्ति ने विद्रोह करके यशोवर्मा को मारकर राजसिंहासन को अधिगत किया। चम्पा के आक्रमण ने त्रिभुवनादित्य की भी शक्ति नष्ट हुई। रणक्षेत्र में उस की मृत्यु हुई। इस समय जयइन्द्रवर्मा चम्पा का सेनापती था।

जयवर्मा सप्तम - कलियुगाब्द ४२८३ - ४३०६ (११८१ - १२०४)

त्रिभुवनादित्य की मृत्यु के पश्चात जयवर्मा ने कडा संघर्ष किया। चार वर्षों के संघर्ष के पश्चात् चम्पा की सैन्यशक्ति को जयवर्मा ने पूर्ण रुपसे परास्त किया। श्रीसूर्यवर्मदेव के नेतृत्व में कम्बुज सेनाने चम्पापर आक्रमण किया। मूलतः सूर्यवर्मदेव चम्पा का ही निवासी था जिसे कम्बुज राज ने आश्रय दिया था। उसके शौर्य के कारण जयवर्मा ने उसे कम्बुज का उच्चतम प्रतिष्ठित पद ... युवराज पद दिया था।

श्रीसूर्यवर्मदेव चम्पा नरेश जयइन्द्रवर्मा को बन्दी बनाकर कम्बुज में लाया। जयवर्मा ने सूर्यवर्मदेव को ही चम्पा का शासक नियुक्त किया। सूर्यवर्मदेव शीघ्र ही स्वतन्त्र शासक बन गया। उसने जयवर्मा की सत्ता का प्रभुत्व भी अस्वीकार किया (कलियुगाब्द ४२९४ (ख्रि. ११९२)

स्वाभाविकतः जयवर्मा ने सूर्यवर्मदेव के विरुध्द बडी सेना भेजी। इस सेना का नेतृत्व

युवराज ओधनपति ने किया, जो मूलतः चम्पानिवासी था और सूर्यवर्मदेव का चाचा लगता था। इसी समय अनाम के साथ भी संघर्ष आरम्भ हुआ। सतत संघर्ष के कारण कम्बुज की शक्ति क्षीण हो गयी।

जयवर्मा सप्तम महान् विजेता एवं साम्राज्य निर्माता माना जाता है। एक न्यायी तथा प्रजाहितदक्ष सम्राट के रुप में कम्बुज के इतिहास में उसका स्थान अद्वितीय है।

जयवर्मा वौद्ध धर्मी उपासक था। उसके अभिलेख 'नमो बुद्धाय' से आरम्भ होते है। अपनी माता के रुपमे जयवर्मा ने प्रज्ञापारमिता की मूर्ति वनाकर मन्दिर मे उस की प्रतिष्ठापना की। जयवर्मा की रानी इन्द्रदेवी वौद्ध धर्म के प्रति अगाध श्रध्दा रखती थी। अध्ययन था, अधिकार भी था। नरेन्द्रतुङ्ग तिलकोत्तर और नरेन्द्राश्रम विहारों में उसने भिक्षुणियों को वौद्ध धर्म की शिक्षा दी थी। वहाँ पर वह आचार्या थी। प्रजा के हित जयवर्मा ने १०२ आरोग्यशालाएँ और ७९८ आरोग्य मन्दिर स्थापित किये थे। आरोग्य शाला सम्वन्धी जयवर्मा के दस अभिलेख उपलव्ध हुए है। अभिलेख में रोगान्धकार को दूर करनेवाले भैषज्यगुरु वुद्ध, वौधिसत्व, सूर्य वैरोचन, चन्द्ररोची और वैरोचन रोहिणी की महिमा वर्णन की है। जयवर्मा के सम्बन्ध में लिखा है,

देहिनां देहरोगो यन्मनोरोगी रुजत्तराम् ।
राष्ट्रदुःखं हि भर्तृणां दुःखं दुःखं तु नात्मनः।।

(मनुष्यों के शारीरिक रोगों से उसे (जयवर्मा को) मानसिक व्यथा अनुभव होती है, जो रोगी की व्यथा की तुलना में अधिक कष्टतर होती है, क्यों कि राजा अपने दुःख से दुखी नही होता, अपि तु राष्ट्र के (जनता के) दुख से ही उसे दुःख होता है।)

अंकोर थोम - (नगर धाम)

अंकोर वाट् के उत्तर में जयवर्मा ने यशोधरपुर के स्थानपर नई नगरी के रुप में अंकोर थोम का निर्माण किया। आज वह वैभवसम्पन्न राजनगरी खण्डहर के रुप में है। परन्तु भग्नावशेष से कुछ कल्पना आती है।

अंकोर 'नगर' का अपभ्रंश रुप है। थोम याने धाम। इस नगर धाम की प्राचीर ३३० फूट चौडे परिखा से घिरी हुई थी। परिखा की लम्वाई लगभग १४ किलोमीटर थी। परिखा पार करने के लिये पाँच पूल थे। पूल के तट नागों के उभरते फणों के थे। पूल के दोनो ओर विशालकाय दैत्यमूर्तियाँ थी। मूर्तियाँ हाथो में नाग पकडे हुई थी। प्राचीर को पाँच महाद्वार थे। महाद्वार की तोरण तक की उँचाई ३० फूट थी और चौडाई १५ फूट थी। द्वारों के पार्श्व हाथीयों के सिरपर थे। द्वारों के तोरणोंपर शिखर बने थे जिससे धरातल से शिखराग्र की उँची ७० फूट होती है।

नगर के महापथ १०० फूट चौडे थे। नगर के मध्य में 'बायोन' का मन्दिर था। तीन महापथ मन्दिर की ओर जाते थे। दो महापथ मन्दिर के उत्तर में मैदान की ओर जाते थे। राजप्रसाद, मंत्री एवं अधिकारियों के भवन, कार्यालयों के भवन आदि नगरी के भीतर के क्षेत्र में थे। बीच बीच में सरोवर थे।

बायोन का मन्दिर अपने आप एक और आश्चर्य है। केन्द्रिय शिखर १५० फूट उँचा है। अन्य चालीस शिखर है। सारे शिखर मुखाकृति है। प्रत्येक शिखर पर चारो ओर शिव के मुख। प्रस्तर शिलाओं पर अनगिनत उत्कीर्ण शिल्प है। पौराणिक कथाओं के साथ उस समय के जनजीवन का जिवंत चित्रण सेंकडो घटना एवं प्रसंग साकार करता है।

बायोन के अलावा बन्ते स्त्रोई, फ्नोम बखेंग, फिमानक, ताकेओ का मन्दिर बक्सेई चमक्रोङ् ऐसे कतिपय विशाल मन्दिरों के अवशेष नगर के विशाल क्षेत्र में बिखरे पडे है।

कम्बुज के राजाओं का वैभव -

चीनी यात्री ने किया हुआ राजवैभव का वर्णन हमे अतीत में ले जाता है।

"राजा बाहर निकलता है तो उसके हाथों में इन्द्रप्रदत्त सुवर्ण तलवार रहती है। सर्वोच्च अधिकारी सुवर्ण पालकी में चलते है। पालकी के डण्डे भी सुवर्ण के होते है।

सर्वप्रथम अश्वारोही चलते है। राज चिन्ह निशान चलता है। उसके पीछे वाद्यवृन्द होता है। चाहे दिन हो या रात, वाद्यवृन्द के पीछे ५०० सुन्दर युवतियाँ जलती मोमबत्तियाँ हाथों में लेकर चलती है।

राजप्रसाद की अनेक रमणियाँ सुवर्ण एवं रजत पात्र, अलंकार आदि लेकर चलती हैं। उनके पीछे राजप्रासाद की, ढाल तलवार एवं भाला आदि शस्त्र धारण करती हुई स्त्री सेना चलती है। ये स्त्रियाँ राजा की अंतःपुरीय अंगरक्षिका है।

उनके पीछे सुवर्णालंकृत अज एवं अश्वरथ चलते है। राज्य के मन्त्रीगण, राजवंश के लोग हाथीपर सवार होकर पीछे चलते है।

राजमहिषी, सेविकाँए, दासियाँ पालकी में एवं हाथीपर सँवार होकर चलती है। उनके साथ सैंकडो छत्र एवं चामरधारिणी रहती हैं।

अन्त में राजा स्वयं हाथीपर खडा आता है। उसके हाथ में सुवर्ण खड्ग होता है। हाथी का सूण्ड सुवर्ण से ढका रहता है। उस के साथ २० से अधिक श्वेत छत्र होते है। श्वेतछत्रों का डण्डा सुवर्ण का होता है। अनेक हाथी तथा अश्वारोही राजा को घेरे उसकी अंग रक्षा करते हैं।

कम्बुज साम्राज्य का ह्रास

जयवर्मा सप्तम के वाद प्रतापी राजाओं की परम्परा खण्डित हो गई। जयवर्मा के पश्चात् कलियुगाब्द ४३४५ (खि. १२४३) तक इन्द्रवर्मा द्वितीय तथा उस के पश्चात् जयवर्मा अष्टम ने कलियुगाब्द ४३९७ (खि. १२९५) तक राज्य किया। जयवर्मा अष्टम का जामात श्रीन्द्रवर्मा उस के वाद सिंहासनरुढ हुआ। चीन में उसी समय मंगोल सम्राट कुब्लाई खां का शासन स्थापित हुआ था। उसके आक्रमण से चम्पा एवं कम्बुज की शक्ति क्षीण हुई। अनाम के साथ भी संघर्ष चलता रहा। जयवर्मा (अष्टम) के पुत्र ने श्रीन्द्रवर्मा के विरुद्ध सिंहासनपर अपना अधिकार सिध्द करने के लिये विद्रोह किया। युगाब्द ४४०९ - ४४२९ (खि. १३०७-१३२७) इस काल में युवराज श्रीन्द्रजयवर्मा सिंहासन पर था। परन्तु अव कम्बुज सत्ता का राजनैतिक प्रभुत्व एवं वैभव नही रहा।

पाँच सौ वर्ष का प्रदीर्घ काल कम्बुज में हिन्दू शासन तो रहा परन्तु साम्राज्य का विघटन और उस के साथ संस्कृति का लोप होता रहा। थायलंड, लाओस, विएतनाम स्वतंत्र सत्ता के रुप में उभरते रहे। कलियुगाब्द की ४८ वी शतीमें डच, फ्रेंच, पोर्तुगीज इन पाश्चात्य देशों के आक्रमण प्रारंभ हुए। ४९ वी शती में (खि. १९ वी शती) उस समय के दुर्वल कम्बुज राजाने फ्रान्स की अधिसत्ता स्वीकार की।

थाईलँड
(श्याम देश)
लाओस
(लव देश)
अंकोरवाट (यशोधर पुर)
अनिंदितपुर
बकोंग (हरिहरालय)
अंकोर थोम (अमरेंद्रपुर)
ईशानपुर
कम्बोडिया
(कम्बुज देश)
प्नोम पेन्ह
(शंभुपुरी)
व्याधपुर
विएतनाम
(चम्पा)
कम्बोडिया - कम्बुज देश
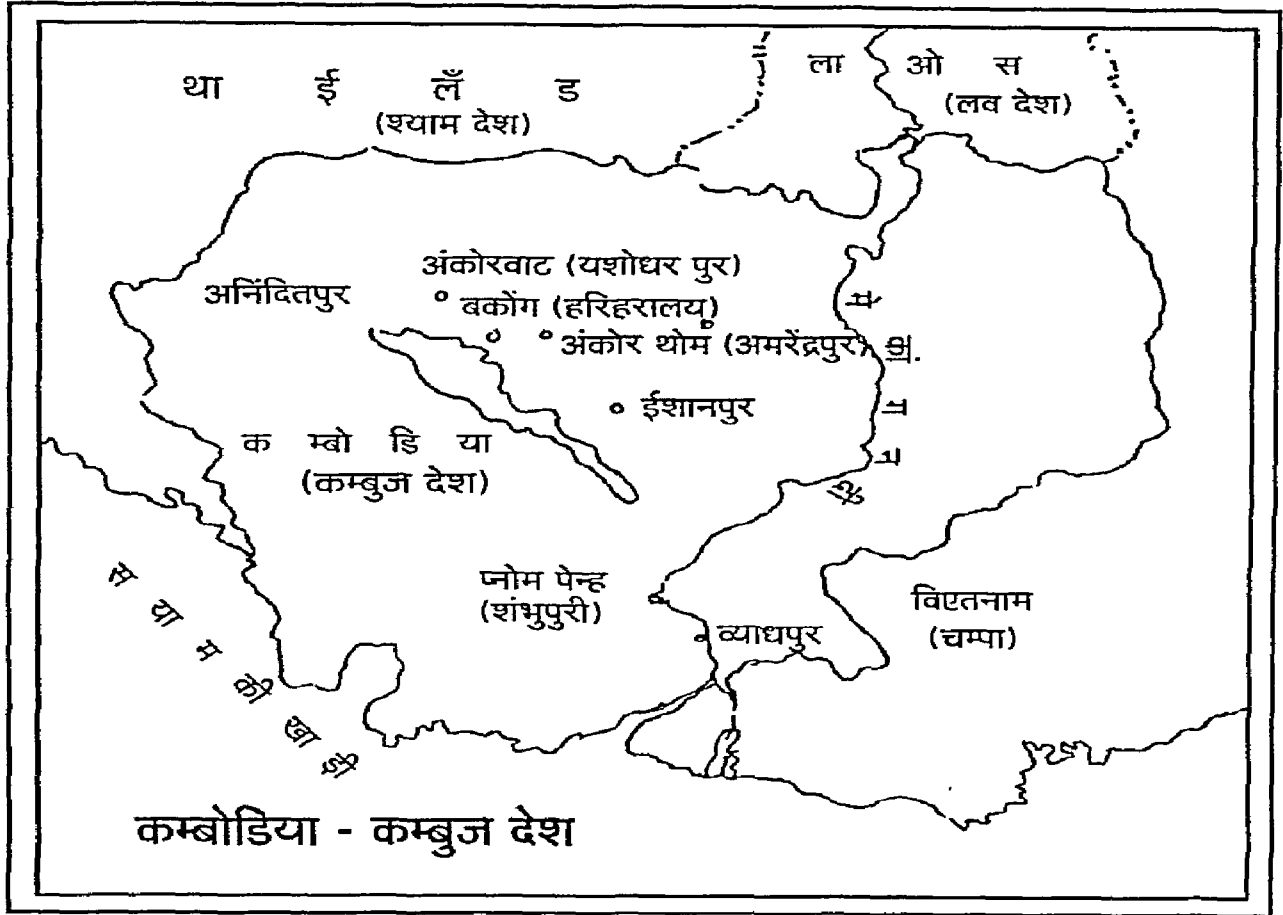
मानचित्र क्र. ३

४. बांटी श्री (कम्बोडिया)

५. बांटी श्री (कम्बोडिया)

६. अंकोर थोम (कम्बोडिया)

७. ब्रम्हा (कम्बोडिया)

८. गणेश (कम्बोडिया)

कम्बुज में खड्गधारी हनुमान

HANUMAN WITH SWORD
CAMBODIA

१. कम्बुज राजर्षि कम्बु द्वारा संस्थापित देश है।
२. यहाँ की रामकथा 'रामकेर्ति' अत्यन्त रोचक एवं प्रेरक है।
३. अंकोर [illegible] नगर है जहाँ की भित्तियों पर रामायण महाभारत के चित्र सुशोभित हैं।

९. खड्गधारी हनुमान (कम्बोडिया)
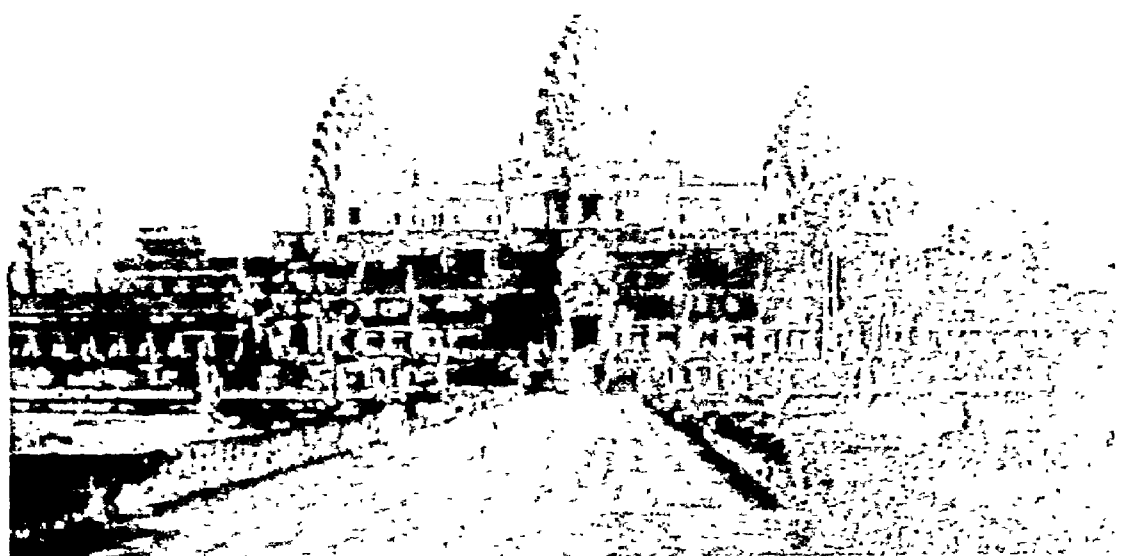
१०. अंकोरवाट (कम्बोडिया)

११. अंकोरवाट - मन्दिर, कम्बोडिया

१२. अंकोरवाट (कम्बोडिया)

१३. शिव मन्दिर
अंकोर थोम (कम्बोडिया)

१४. अवलोकितेश्वर - अंकोर थोम
(कम्बोडिया)

थाईलँड (श्याम देश)

सागर की लहरों का नाद भारतीयों का जीवन- संगीत रहा है। भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करनेवाले साहसी वीरों के स्थान स्थान पर जाने में भी एक विशिष्ठ प्रणाली दृष्टिगत होती है।

कलियुगाब्द २८६२ (ख्रि. पू. २४०) में मौर्य सम्राट अशोक ने पाटलीपुत्र में एक धर्मपरिषद् आयोजित की। उस धर्म सभा में बौद्ध मत के प्रसार की योजनाएँ बनायी गयी। अनेक भिक्षु विभिन्न देशो में बुध्द का सन्देश लेकर गये। व्यापार एवं भाग्योदय के विचार से कितनेही साहसी भारतपुत्र विश्व में लगभग सभी देशों में जाकर वसे हुए थे। भिक्षुओं को उन की सहायता प्राप्त हुई।

इतिहास में ज्ञात संस्कृति प्रसार की यह प्रथम लहर कही जा सकती है। मौर्य सम्राटों के पश्चात् प्रतिष्ठान के सातवाहनों की सत्ता सारे भारत में फैली हुई थी। सातवाहन या आन्ध्र कुल के राजा स्वयं को तीनो सागरों के स्वामी कहते थे। उनकी मुद्राओं पर जहाज अंकित थे। पश्चिम में आफ्रिका, इजिप्त, रोम ग्रीस तक और पूर्व में प्रशांत (पॅसिफिक) महासागर से संवृत् सारे द्वीपों में भारत से वस्त्र, औषधि, अलंकार, हीरे मोती, पशुपक्षी आदि अनगिनत वस्तुओं का निर्यात होता था। सारे देश उसका मूल्य सुवर्णमुद्राओं के रुप में चुकाते थे। विश्व के विभिन्न देशों से सुवर्ण का प्रवाह भारत की ओर प्रवाहित होता था। भारत सुवर्णभूमि कहलाता था। ऐसे काल में स्वाभाविक ही पराक्रमी और साहसी युवा पीढ़ी को प्रोत्साहना प्राप्त हुई।

भारत के बाहर के देशों में हिन्दु राज्यों का निर्माण करनेवाले भारतीयों का यह दूसरा बडा प्रवाह था।

इस कार्यमें दक्षिण भारत का योग सर्वाधिक रहा। क्यों कि तीनों सागरों की लहरों का नाद ही तो उनका जीवन संगीत था।

सातवाहनों के पश्चात् गुप्त साम्राज्य स्वर्णयुग की प्रसन्न प्रभावी किरणों के साथ उदित हुआ। आग्नेय (दक्षिण - पूर्व) एशिया तक वे किरणे पहुँची। भारतीय संस्कृति के प्रसारकों का तीसरा प्रभावी प्रवाह गुप्त काल से सम्बन्धित है।

दक्षिण के पल्लव सम्राटों के काल में और एक प्रवाह, गुप्तों के उदय के पूर्व ही प्रारंभ हुआ और लगभग छे सौ वर्षोंतक निरन्तर चलता रहा। गंगासागर (महोदधि - आज की बंगाल

की खाडी) के पूर्वी तट पर स्थित देशों में (इन्डोनेशिया, मलायेशिया, सुंद द्वीप समूह आदि) प्रयुक्त पल्लव कालीन भाषा, लिपि स्थापत्य, विधि, धार्मिक परम्पराएँ इसका भान करा देती है।

आग्नेय एशिया के सारे देशों को जिस संस्कृति प्रवाह का अमृतस्पर्श हुआ वही स्पर्श की अनुभूति उन्होंने आगे मध्य एवं दक्षिण अमरिका को उस काल में करा दी। कतिपय देशों को तो इस समग्र प्रवाह में अवगाहन करने का सुखद अनुभव प्राप्त हुआ।

श्याम देश -

एक ऐसा ही भाग्यवान देश है ... श्याम देश! थाईलँड का प्राचीन पाली नाम श्याम है। भविष्य पुराण में श्याम देश का उल्लेख है। श्याम का ही अपभ्रंश है सियाम या सयाम। अंकोरवाट के दीर्घाओं में जो उत्कीर्ण चित्र है, उसमें श्याम के सैनिकों के पथक हैं और नीचे उनका नाम दिया गया है, 'श्याम कूट' के सैनिक। सियामी भाषा में शब्द है साम देश।

आजसे लगभग २००० वर्ष पूर्व हिन्दुओं का प्रवेश श्याम में हुआ। साहसी थाई वंश के कारण नाम पडा थाईलँड। श्याम की प्राचीन गाथाएँ श्याम देश के निर्माण की सुंदर कथा प्रस्तुत करती है।

इन्द्र और वृत्र में युद्ध हुआ। वृत्र मारा गया। इन्द्र के हाथ से परशु नीचे गिरा। कुलेत तथा सुमेरु इन पर्वतों के बीच में इन्द्र का परशु गिरा। प्रसन्न वदना इन्द्राणी के नेत्र से आनंदाश्रु निकल पडे। क्यों कि परशु ने देशका रुप धारण किया। इन्द्र ने आकाशपथ से यह देखा। इन्द्र भी इस भूमि पर प्रसन्न हुआ। इन्द्रने इन्द्राणी समेत वहाँ विहार किया। वही श्याम देश है।

थाई जनजीवन में इन्द्र का प्रमुख स्थान है। थाई गाथा में कहा है, कि इन्द्र ने ब्रह्मदेश भारत, मलाया, चीन से लोगों को लाकर बसाया। उनकी एक जाति एवं राष्ट्र बनाया। उस जाति का नाम थाई है।

थाई श्याम में कलियुगाब्द की ४३ वी शती (ख्रि. १२ वी) में आये। परन्तु उनके प्रवेश के पूर्व कलियुगाब्द ३२ वी (ख्रि. प्रथम) शती में ही श्याम में भारतीय उपनिवेश थे। श्याम के 'प्र पथोम' नामक स्थान पर खुदाई में दो हजार वर्ष पूर्व की हिन्दु देवताओं की मूर्तियाँ प्राप्त हुई है। प्र पथोम से ३२ किलोमीटर की दूरीपर 'पोंगतुक' नामक स्थान पर प्राचीन मन्दिर के भग्नावशेष और बुध्द की मूर्ति मिली है। मुंग सी तेप नामक स्थानपर तो शैव एवं वैष्णव मूर्तियों के साथ एक संस्कृत अभिलेख प्राप्त हुआ है।

२००० वर्ष पूर्व के श्याम के भारतीय उपनिवेश शक्तिशाली राज्य में परिवर्तित नही हो सके थे। कारण इतना ही था कि उस समय कम्बुज (कम्बोडिया) में शक्तिशाली भारतीय सत्ता थी। और श्याम के हिन्दु उपनिवेश उसी साम्राज्य के अन्तर्गत थे।

द्वारावती का राज्य -

कलियुगाब्द ३७६३ (ख्रि. ६६१) में श्याम देश के अन्दर द्वारावती के स्वतंत्र राज्य का उदय हुआ। फूनान की सत्ता इस समय शक्तिहीन हुई थी।

ब्रह्मदेश (म्यॉंमा) की एक मूल निवासी जाति मोन थी। मोन दक्षिण ब्रह्मदेश के निवासी थे। सम्भवतः दक्षिण भारत के आंध्र प्रदेश से ही मोन दक्षिण ब्रह्मदेश में गये। आंध्र प्राचीन काल से तेलंगण नाम से विख्यात है और मोन जाति का नाम भी तैलङ्ग है। २००० वर्ष पूर्व तैलंगो ने ब्रहमदेश में अपना उपनिवेश बनाया। वे फिर श्याम में भी फैले।

मोन हीनयान पंथी बौध्द थे। बुध्द संवत् का प्रयोग करने थे। उनकी भाषा और लिपि भारतीय भाषा एवं लिपि पर आधारित थी। बादमें थाई लोगों ने कुछ संशोधन के साथ मोन लिपि को स्वीकार किया। श्याम के पश्चिमी प्रदेश में 'द्वारावती' नामक उपनिवेश स्थापित किया गया तब यह कर्तृत्व प्रकट करनेवाली मोन जाति शत प्रतिशत भारतीय थी। सियाम के पुराणों के अनुसार 'द्वारावती' राज्य का निर्माण कलियुगाब्द ३५५९ (ख्रि. ४५७) में हुआ। दूसरी अनुश्रुति के अनुसार द्वारावती की राजधानी 'लोबपुरी' (लवपुरी) की नींव कलियुगाब्द ३६७७ (ख्रि. ५७५) में पडी थी।

लवपुरी बंकाक के उत्तर में ९३० किलोमीटर पर थी। प्रभु रामचन्द्र के पुत्र लव के नामपर इस पुरी का नाम रखा गया। नगर के मध्य में प्रमुख महाधातु मन्दिर था। उसके अवशेषों से प्रकट होता है, कि मन्दिर स्थापत्य की शैली गुप्त कालीन है। शिखर रचना दक्षिण भारतीय शैली की हैं। दूसरा मन्दिर है फ्रा प्रांग पत का। तीन शिखराकार मन्दिर एक पंक्ति में खडे हैं। सम्भवतः मूल रुप में ब्रहमा, विष्णू, महेश के ये मन्दिर थे। लवपुरी ऐसी ऐतिहासिक नगरी है कि जहाँ प्राचीन द्वारावती के साथ ही ख्मेर एवं थाई राज्यके प्रासाद, भवन एवं मन्दिर हैं। वहाँ के संग्रहालय में भग्नावशेषों से प्राप्त सहस्त्रों बुध्द प्रतिमाएँ रखी है। यही पर मीनाम नदी के पूर्वीय तट पर कम्बुज सम्राट द्वितीय सूर्यवर्मा का अभिलेख प्राप्त हुआ है। कुछ स्थान पर बौध्द स्तूप के अवशेष भी प्राप्त होते है।

हरिपुञ्जय राज्य -

कलियुगाब्द ३७६३ (ख्रि. ६६१) में, ऋषि वासुदेव द्वारा एक राज्य की स्थापना हुई। दो वर्ष पश्चात् द्वारावती की राजकुमारी 'चामदेवी' ऋषि वासुदेव के निमंत्रण पर हरिपुञ्जय गयी। चाम देवी ने वासुदेव का राज्यभिषेक कराया। चाम देवी के साथ ५०० बौध्द पण्डित आकर हरिपुञ्जय में स्थायिक हो गये। साधु रन्तवन महाविहार ने 'जिनकमलिनी' पुस्तक लिखी। उसमें चाम देवी की गाथा है। चाम देवी लवपुरी की राजकन्या थी। दक्षिण ब्रह्मदेश के रामनगर

के मोन राजा के साथ उसका विवाह हुआ था परंतु उसका मन संसार के सामान्य भौतिक सुख में नही था। बौध्द धर्म का गहरा अध्ययन करने के बाद उसने धर्म प्रसारार्थ राज्य एवं पति का त्याग किया। उस समय वह गर्भिणी थी। हरिपुञ्जय में आने के बाद उसने दो पुत्रों को जन्म दिया। लम्पुन और लपंग। लम्पुन वासुदेव के पश्चात् हरिपुञ्जय का राजा बना। हरिपुञ्जय का वर्तमान नाम लम्पुन है। लपंग 'केलांग' का राजा हुआ। दोनो श्याम के सांस्कृतिक केन्द्र बने।

लगभग तीन सौं वर्षो तक मोन राज्य स्वतंत्र थे। हंस उनका राजचिन्ह था। कम्बुज साम्राज्य के अंकित होने पर भी मोन राजवंश स्वतंत्र शासक के नाते राज्य करते रहे। कलियुगाब्द ४२२२ (ख्रि. ११२०) में मोन नरेश दितिराज ने लम्पुन (हरिपुञ्जय) में भव्य वाट कुकुट का निर्माण किया। यह सात मंजिला मन्दिर था जिसे पूर्ण करने में ३० वर्ष लगे।

उँचे अधिष्ठान (चबुतरे) पर एक के उपर एक सात आयताकार खण्ड बने हुए हैं। प्रत्येक खण्ड के चारो दिशाओं में सुंदर खडी मूर्तियाँ है। केवल सातवे खण्ड पर मूर्ति नही है। शिखर पर कलश नही हैं। चौकोर चैत्य ने शिखर का स्थान लिया है। सारी बुध्दमूर्तियाँ सुंदर एवं आकर्षक है। दितिराज का पुत्र अदितिराज ने लम्पुन में प्रसिध्द स्तूप का निर्माण किया।

बंकाक से ४८ किलोमीटर पश्चिम में 'प्रा योतम्' नगरी में मोन वंश के काल की और एक सुन्दर कृति है। अनुश्रुति कहती है, भिक्षुराज अशोक के समय में काशी के दो भिक्षु शोण और उत्तर धर्मप्रसारार्थ श्याम देश में आये। उनकी स्मृति में भव्य स्तूप का निर्माण हुआ। यह स्तूप ३४७ फूट उँचा है।

दक्षिण चीन में गांधार देश।

भारतीय संस्कृति के इतिहास का अतीत अद्भुत है। भारत के पश्चिम उत्तर दिशामें गांधार देश था। भारत के पूर्व उत्तर में भी एक गान्धार देश था। पश्चिम का गान्धार वर्तमान अफगाणिस्तान है। पूर्वी दिशा का गान्धार चीन के दक्षिण में था। दक्षिण चीन का वर्तमान युन्नान या नान्चाओ प्रांत कभी गान्धार कहलाता था। वहाँ पर छः थाई राज्य थे। स्वतंत्र थे। वैभवसम्पन्न थे। गान्धार के राजा को महाराज यही सम्बोधन था। युन्नान की अनुश्रुति के अनुसार यह राजवंश भारत के सम्राट अशोक का ही वंशज था।

बौध्द धर्मीय गान्धार में सभी लोगों का दृढ विश्वास था, कि बुध्द ने जिस पीपल के वृक्ष के नीचे ज्ञान प्राप्त किया था वह बोधिवृक्ष युन्नान में ही था। इसलिये गांधार में याने युन्नान में बोध गया की भी परिकल्पना की गयी थी।

गान्धार का एक भाग था विदेह और विदेह राज्य की राजधानी थी मिथिला। गान्धार का यह राज्य शक्तिशाली था। कलियुगाब्द ३७५२ (ख्रि. ६५०) में गान्धार के छे राज्यों का

एकत्रिकरण हुआ। सौ वर्ष बाद 'पो-लो-को-ने' वहाँ का सम्राट था। उसके चीनी भाषा में उत्कीर्ण अभिलेख प्राप्त है। उसी शताब्दि में कोलो फेंग राजा था। उसने चीनी सम्राट को भेट दी। परन्तु चीन में उसका सम्मान नही हुआ।

कोलो फेंग ने वापस लौटते ही आक्रमण की तैयारी की। शक्तिशाली चीनी सेना को उसने तीन बार पराजित किया। को लो फेंग के पश्चात भी चीन और गान्धार में युध्द होते रहे। गान्धार स्वतन्त्र ही रहा । उसकी ओर आँख उठाने का साहस चीन में नही था।

कलियुगाब्द ३९८६ (ख्रि. ८८४) में अन्तिमतः चीन ने सन्धि कर ली। चीन के सम्राट ने अपनी कन्या का विवाह गान्धार के युवक सम्राट के साथ किया। गान्धार की अनुश्रुति के अनुसार भारतसे अवलोकितेश्वर ने आकर गान्धार को बौध्द धर्म में दिक्षित किया था। जब कभी गान्धार के राजा का झुकाव भारत की अपेक्षा चीन की और होता था भारत से धर्माचार्य आते थे और राजा को पथभ्रष्ट होने से बचाते थे।

कलियुगाब्द ४४ वी (ख्रि. १३) शताब्दी में चीन में कुब्लाई खान का उदय हुआ। उसने गान्धार पर १ लाख सेना के साथ आक्रमण किया। गान्धार ने कडा संघर्ष किया परन्तु पराजित हुआ। लगभग १२०० सौ वर्ष स्वतंत्र रहा गान्धार देश कलियुगाब्द ४३५५ (ख्रि. १२५३) में परतन्त्र हुआ। स्वाभिमानी थाई जनता के लिये यह असहनीय था। सहस्त्रों की संख्या में थाई प्रजा ने गान्धार छोडकर दक्षिण दिशा को प्रस्थान किया।

सुखोदय राज्य - कलियुगाब्द ४३५९ - ४४५२ (ख्रि. १२५७ - १३५०)

छाओ चक्री या इंद्रादित्य -

श्याम देश का प्रदेश कम्बुज साम्राज्य के अधीन था। घने अरण्य और प्राकृतिक जीवन-- हाथियों का प्रदेश माना जाता था। थाई इस प्रदेश में आकर बसने लगे। उनके उपनिवेश बढने लगे। उपनिवेशों ने छोटे छोटे राज्यों का रुप लिया। कम्बुज सम्राटों की दृष्टि से वे उन के सामन्त थे। ऐसे ही सामन्तों में एक था छाओ चक्री। चक्री का अर्थ होता है सुदर्शनचक्रधारी। छाओ चक्री ने और उसके भाई ने स्वतन्त्रता घोषित की। उनको वशवर्ती बनाने के लिये कम्बुज की सेना भेजी गयी। परन्तु दोनो बन्धुओं ने अपने पराक्रम से कम्बुज की सेना को परास्त किया।

थाई दक्षिण चीन से आये वहाँ भी वे बौध्द धर्मी थे और भारतीय संस्कृति के अनुगामी थे। नये प्रदेश में आयें वहाँ भी भारतीय संस्कृति थी। उन्होंने बौध्द उपासना के साथ हिन्दु धर्म को आत्मसात किया। पुराने एवं अनुपयोगी सनातन कल्पना और परम्परा में पडकर अपना शक्ति क्षय नही होने दिया। मुक्त सरितातुल्य थाई संस्कृति थाई देश में विकसित होने लगी। बौध्द एवं हिन्दू दोनों का मूल स्त्रोत तो भारत ही था। दोनो एक दूसरे के पूरक हुए। थाई संस्कृति, साहित्य

एवं जनजीवन का अधिष्ठान धर्म था। और धर्म का केन्द्र भगवान बुध्द रहे। फिर भी हिन्दू संस्कृति, साहित्य, परम्परा, रीतिरिवाज उत्सव आदि का स्थान अक्षुण्ण रहा।

छाओ चक्री ने छोटे राज्यों को वशवर्ती करके अपना राज्य चारों ओर विस्तारित किया। इसमें उसका भाई एवं उसका पुत्र राम खमेड़ दोनो सहाय्यभूत हुए। कुब्लाई खान ने थाई लोगों को पराजित करके निष्कासित किया उसको केवल चारही वर्ष हुए थे। कलियुगाब्द ४३५९ (ख्रि. १२५७) में सार्वभौम थाई सत्ता का निर्माण हुआ। छाओ चक्री अभिषिक्त हुआ। उसने 'इन्द्रादित्य की उपाधि धारण की। राज्यभिषेक के अवसर पर कोई जनमान्य अभिधान धारण करना भारतीय परम्पराही थी। इन्द्रादित्य का यह थायी, राज्य सुखोदय नाम से विख्यात हुआ।

इन्द्रादित्य ने राजधानी के रुपमें 'सुखोदय' (सुखो थायी) नगरी का निर्माण किया। नगर के मध्य में महातत का विशाल मन्दिर बनवाया। आज सुखोदय नगरी भग्नावशेषों का खण्डहर है। महातत मन्दिर के स्तम्भ बिखरे पडे है। मन्दिर के द्वार के उपर की देहली पर बुध्द के परिनिर्वाण का सुन्दर दृश्य उत्कीर्ण है। उससे मन्दिर के शिल्पवैभव का आभास होता है। दूसरा सुन्दर मन्दिर था 'श्रीचम मन्दिर'। मन्दिर के भग्नावशेष आज भी समृध्द नगरी की करुण गाथाँए सुनाते है। मन्दिर के दीवारों पर आलेखों के साथ बुध्द की पूर्व जन्म की कथाएँ उत्कीर्ण हैं। यहां पर उत्कीर्ण अप्सराएँ श्रीलंका के सिगरिया की अप्सराओं का स्मरण कराती हैं।

सुखोदय में कला की एक वैशिष्ठ्यपूर्ण शैली विकसित हुई। एक सुन्दर अनुश्रुति प्रचलित है। एक राजा ने बुध्द की तीन मूर्तियॉ ढलवाई। दो मूर्तियाँ अपेक्षानुसार ठीक ढली, परन्तु तीसरी मूर्ति ठीक नही उतरी। दूसरी बार प्रयत्न किया फिर भी सफलता न मिली। अचानक एक वृध्द आये। उन्होंने ढालने का उत्तरदायित्व लिया। मूर्ति ढाली गयी। मूर्ति इतनी प्रसन्न सुन्दर थी कि सब देखते ही रहे। मूर्ति के भूमध्य में इन्द्र के वज्र का चिन्ह मिला। प्रथम उत्सुकता के पश्चात् सभी को उस वृध्द का स्मरण हुआ। उसका पता नही चला। मूर्तिकार स्वयं इन्द्र था।

श्याम, कम्बुज, लव (लाओस), विएतनाम सभी देशों की जनश्रुतियाँ वहाँ के सांस्कृतिक जीवन का अनुबन्ध किसी न किसी प्रकार भारतीय संस्कृति से जोडती है।

प्रतापी इन्द्रादित्य ने 'श्री सूर्य फ्रा : महाराजा धर्माधिराज उपाधि से स्वयं को विभूषित किया था।

राम खमेड् कलियुगाब्द ४३७५ - (ख्रि. १२७३)

अपने पिता और चाचा की मृत्यु के पश्चात् राम खमेड् राजसिंहासनपर आरुढ हुआ। उसके कालमें सुखोदय की सब दृष्टि से उन्नति हुई। व्रहमदेश एवं मलाया प्रायःद्वीप के अनेक राज्य जीतकर उसने सुखोदय की सीमाएँ बढाई।

राम खमेङ् प्रजाहित दक्ष, निष्पक्ष एवं न्यायी था। दिन रात किसी भी समय प्रजा को तुरन्त न्याय मिले इस हेतु, राजप्रसाद के प्रवेशद्वार पर उसने एक घण्टा लगा रखा था। किसी भी समय कितने ही काम में व्यस्त क्यूं न हो, घण्टानाद सुनते ही प्रजा के परिवादों को सुनकर राजा उन्हें उचित न्याय देता था।

राम खमेङ् की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि थी, श्याम के भाषा की लिपि का निर्माण। पहले कम्बुज लिपि थी जो भारतीय लिपि एवं वर्णमाला पर आधारित थी। राम खमेङ् ने उसमें आवश्यकतानुसार संशोधन एवं परिवर्तन कराके थाई राष्ट्रलिपि प्रचारित की।

राम खमेङ् बौध्द उपासक था। उसने अनेक बौध्द विहारों, मन्दिरों एवं बुध्दप्रतिमाओं से सुखोदय नगरी को अलंकृत किया। बुध्द धर्मके अध्ययन निमित्त जनता को प्रोत्साहित किया। इन दिनों सिंहली थेरवाद के आचार्य श्री संघराज, श्री समर्थ नेकोण (मलाया प्रायःद्वीप) में धर्मप्रचार कर रहे थे। राम खमेङ्ने उनको आमन्त्रित किया। उनके लिये नगर के पश्चिम में प्रसिध्द वाट अरणिका का निर्माण कराया। सज्जनालय नाम के और एक राजधानी का भी निर्माण राम खमेङ् ने किया।

चीन के साथ राम खमेङ् ने अच्छे सम्बन्ध रखे। कलियुगाब्द ४३९६ (ख्रि. १२९४) में उसने पहली चीन यात्रा की जब कुल्लाई खाँ जीवित था। उसके सात वर्ष बाद दूसरी बार जब उसने चीन यात्रा की तब एक चीनी राजकुमारी के साथ उसने विवाह किया।

श्री सूर्यवंश राम महाधर्म राजाधिराज

राम खमेङ् के पश्चात् उसका पुत्र लोदय (लोथाई) कलियुगाब्द ४४१९ (ख्रि. १३१७) में राजा हुआ। पिता के जीवनकाल में वह फ्रा महाउपराज (युवराज) के पदपर नियुक्त हुआ था। उसने बौध्द ग्रंथो का अध्ययन किया था। पालि भाषा पर उसका प्रभुत्व था। उसके पश्चात् उसका पुत्र लिदय (लु थाई) राजसिंहासन पर कलियुगाब्द ४४४९ (ख्रि. १३४७) में आरुढ हुआ। उसने उपाधि ग्रहण कर ली थी, "फ्राः पाद् कामरत न अन् श्रीसूर्यवंश राम महाधर्म राजाधिराज।" बौध्द उपासक होते हुए भी पौराणिक हिन्दु धर्म पर उसकी श्रध्दा थी। शिव और विष्णु की मूर्तियों को भी उसने प्रतिष्ठापित किया।

वह स्वयं एक विहार में रहता था। सिहंल द्वीप में शुध्द बौध्द धर्म है यह उसकी धारणा थी। अपने राजपण्डित को सिंहल (श्रीलंका) में भेज कर महास्वामी संघ राज को वह सुखोदय में ले आया। उनका धूम धाम से स्वागत किया। राजा ने हाथ जोडकर उनसे कहा - "मैं चक्रवर्ती पद, सम्पत्ति, इन्द्रसम्पत्ति एवं ब्रह्मा की सम्पत्ति नही चाहता। चाहता हूँ बुध्द होकर भवसागर में निमग्न प्राणियों की सहायता करूँ।" फिर राजाने भिक्षुव्रत लिया। स्वभावतः राजकीय कर्तव्यों की

उपेक्षा शुरु कर दी। महास्वामी संघराज ने राजा को समझाया। परन्तु अब शासक इस नाते उसके शक्ति का ऱ्हास हो गया था।

अयुथिया (अयोध्या) का उदय -

श्याम में सुवनपुरी (वर्तमान उदोंग) एक छोटा राज्य था। वहाँ के महत्वाकांक्षी राजाने अपनी शक्ति बढाई। लवपुरी पर अपना शासन प्रस्थापित किया। सुखोदय के निर्वलता का लाभ उठाया। वंकाक से ७० किलोमीटर दूरीपर एक द्वीपतुल्य भूखण्ड पर नई राजधानी का निर्माण किया। पा साक एवं मीनाम नदियों के सङ्गम पर स्थित इस नगरी का नाम अयोध्या रखा गया।

सुखोदय के विरुध्द विद्रोह करके राजाने स्वतंत्रता घोषित की। उसने 'रामाधिपति' नाम से शासन आरंभ किया। रामाधिपति प्रतापी एवं महत्वाकाङ्क्षी था। शाम के विविध राज्यों को उसने वशवर्ती किया। कम्बुज पर आक्रमण करके कम्बुज का कुछ प्रदेश जीता। पूर्व की ओर लव देश (लाओस) को जीत लिया। रामाधिपति बौध्द था। भगवान शंकर एवं विष्णू का भी भक्त था। त्रिपिटक के साथ उसने वेद और आगम शास्त्र का भी अध्ययन किया था। शंकर एवं विष्णु की पूजा करने वह सपरिवार समारोहपूर्वक हाथी पर आरुढ होकर जाता था।

स्थिर राज्य का प्रशासन विधि नियमों से आवध्द होना चाहिये। ऐसे नियम परम्परा के रुपमें जनता द्वारा उसके आचार व्यवहार में से विकसित होते है। राजा द्वारा मान्यता मिलने पर वही शासन के अधिनियम बन जाते है। शाम की जनता परम्परा से जिन अनेक नैतिक एवं सामाजिक वन्धनों का पालन करती थी उसका अधिष्ठान मनुस्मृति अर्थात् मानवधर्मशास्त्र था। रामधिपति ने उसे व्यवस्थित रुप दिया। वर्तमान थायलंड के विधिनियम भी मानवधर्मशास्त्र पर आधारित है।

अयोध्या के राजाओं के पास ऐरावत अर्थात सफेद हाथी रहता था। जितने अधिक ऐरावत उतना राजा भाग्यशाली समझा जाता था। यही प्रथा ब्रहमदेश में भी थी। जब श्याम देश के सिंहासन पर राजा चक्रपति था तब उसके पास ७ ऐरावत थे। उस समय ब्रहमदेश में महत्वाकांक्षी नरेश दबिन श्वेति था। वहाँ पर भी पारम्पारिक कल्पना थी कि, जिसके पास सबसे अधिक ऐरावत है वही चक्रवर्ति होता है। वैसे भी दबिन् श्वेति राज्यविस्तार कर ही रहा था। श्याम के साथ युध्द छेडने के लिये उसने ऐरावत का निमित्त बनाया। राजा चक्रपति से उसने चार श्वेत हाथिओं की माँग की। राजा चक्रपति ने नम्रतापूर्व अस्वीकार किया। दबिन् श्वेति ने आक्रमण कर दिया। ब्रह्मदेश की सेना अयोध्या के प्राचीर तक पहुँच गयी। स्वयं महाचक्रपति युध्दक्षेत्र में उतरा। भीषण संग्राम में जब उसके प्राणों को ही धोका था, तब महाचक्रपति की रानी सर्पाथाई ''स्वयं गजारुढ होकर युध्द में उतरी। ब्रहमदेश का सेनापति एवं महाचक्रपति इन दोनों के बीच

घुसकर वह पति का रक्षण करने लगी। इस युध्द में रानी वीरगति को प्राप्त हुई। श्याम के इतिहास में रानी सर्पा थाई का नाम वीरांगना के रुप में बडी श्रध्दा के साथ लिया जाता है।

रामाधिपति के वंश ने कलियुगाब्द ४८८४ (ख्रि. १७८२) तक राज्य किया। रामसेन, ब्रह्मराज, इन्द्रराज, राम त्रिबोधि, महाचक्रपति आदि राजाओं ने श्याम देश को समृध्दि के शिखर पर पहुँचाया। कलियुगाब्द ४७ वी (ख्रि. १६ वी) शती में पुर्तुगीज एवं अंग्रेज व्यापारियों का और उनके साथ ईसाई मिशनरियों का प्रवेश हुआ। कलियुगाब्द ४८८४ (ख्रि. १७८२) में वर्तमान चक्री राजवंश श्याम के सिंहासन पर आसीन हुआ और श्याम देश ने आधुनिक युग में प्रवेश किया।

रामराज्य का प्रारम्भ -

ब्रह्मदेश (म्याँमा) और श्याम देश का संघर्ष चलता रहा। कम्बुज, चम्पा, अनाम, लाओस के साथ भी संघर्ष चलते रहे। कलियुगाब्द ४८८४ (ख्रि. १७८२) में चक्री नामक एक सेनापती ने सारी अराजकता पर विजय प्राप्त की। ब्रह्मदेश की सेना को भी परास्त किया और वह श्याम के राजसिंहासन पर अभिषिक्त हुआ। उसने 'राम' उपाधि ग्रहण कराली।

संघर्ष कालमें अयोध्या नगरी का विध्वंस हो गया था। प्रजा निर्वासित हो गयी थी। राम (प्रथम) राजाने मीनाम नदी के तट पर प्राचीन ध्यानपुरी नगर के सम्मुख राजप्रासाद का निर्माण कराया। दोहरी प्राचीर (तटबन्दी) बनाकर नई राजधानी का निर्माण किया। वही नगर बंग कोक (बंकाक) वर्तमान थायलंड की राजधानी है।

राम प्रथम से राजवंश तो बदला किन्तु परम्पराँए वही बनी रही। थाई कालीन श्याम संस्कृति भारतीय एवं चीनी संस्कृतियों का सुंदर समन्वय है। वर्तमान थायलंड बौध्द धर्मी है। परन्तु सारी हिन्दु देवताएँ भी उस बौध्द धर्म का अभिन्न अङ्ग है। आजभी प्रत्येक थाई के घर के बाहर खम्भों पर लगा छोटे मकान का ढाँचा दिखाई देता है। यह गृहदेवता का मन्दिर होता है। वास्तविक यह ग्राम देवता होता है। चीन में यह क्षेत्र देवता होता है। थायलंड में इस देवता का नाम है "चाओ थी"।

नवीन निर्माण अथवा किसी भूमि को साफ कर के मकान बनवाने के समय प्रथम कार्य होता है। "चाओ थी की स्थापना। गोल मिट्टी का चबुतरा बनाकर उसमें काष्ठस्तम्भ गाडा जाता है। स्तम्भपर खिलौने जैसा मकान बना कर उसमें देवता की स्थापना होती है। मूर्ति के दाहिने हाथ में दोधारी तलवार तथा बाये हाथ में पुस्तक होती है। चबुतरे पर धूप, दीप, नैवेद्य रखा जाता है। प्रतिदिन सन्ध्या को उसकी पूजा होती है।

थाई भाषा के १३ हजार शब्दों में ५ हजार शब्द संस्कृत है। नाटक धार्मिक प्रयोजन

सिध्द करता है। पात्रों का अभिनय लावण्यपूर्ण एवं आकर्षक होता है। थाई भाषा में नाटक को लखोन कहते है। महाभारत और रामायण के आधारपर आज भी एकांकी नाटक होते है। खोन और लखोन दो प्रकार के नाटक है। खोन - श्याम देश की कथकली है। मुखौटा (चेहरा) लगाकर नृत्याभिनय होता है। साथ मे मधुर संगीत होता है। राम षष्ठ (वज्रायुध) ने अनेक संस्कृत नाटक लिखे थे। खोन केवल रामायण के कथानक पर अभिनीत होता है। लाखोन महाभारत, जातक कथाएँ, राजा, दानव, देवता तथा इस प्रकारके कहानियोंपर आधारित रहता है। थाई साहित्य समृध्द है।

वंग कोक मे सर्वाधिक दर्शनीय वस्तु है भगवान् वुध्द की पन्ने की मूर्ति। वह पारदर्शी एवं हरी है। ६० सेंटीमीटर अर्थात दो फूट उँची है। वह कभी भारत में वनी। वहाँ से श्रीलंका गयी। अनेक राजाओं की राजधानीयों के मन्दिर में रहती हुई चम्पा में पहुँची। वहाँ से वंग कोक में स्थिर हुई। 'वाट फ्रा कियो' का भव्य मन्दिर आज उसका निवास स्थान है। कॉकेशस से लाये हुए पन्ना के एकही अखण्ड पारदर्शी पत्थर से वनी हुई पश्चिमी भारतीय कला शैली की यह वुध्द मूर्ति है। वाट के तीन प्रवेशद्वार है। वाट के वाहर नंदी, शिवलिंग एवं विष्णु की मूर्ति है। दीर्घाओं के भित्तिपर रामकथाएँ चित्रित है।

वंगकोक में दूसरा दर्शनीय मन्दिर है 'अरुण वाट'। अत्यंत विशाल एवं विचित्र 'अरुण वाट' मीनाम नदी के तट पर है। स्तूपाकार है। तल वाट में इन्द्र, चन्द्र आदि की मूर्तियाँ रखी है। चार कोनोपर चार छोटे मन्दिर और मध्य मे प्रमुख मन्दिर। शिखर २५० फूट उँचा है। अनेक देशों की लगभग ५२ बुध्दमूर्तियाँ अरुण वाट में है। 'वाट सुधर' यह भव्य विहार है जिसमें सुखोदय में पाँच सौ वर्ष पूर्व ढाली गयी बुध्द मूर्ति है। चक्री वंश के राजाओं ने इस वाटका निर्माण किया।

थाइलँड का और एक प्रख्यात स्मारक है कलियुगाब्द ३६०२ (ख्रि.५००) में निर्मित चैत्य फ्रा-पाथम-चेदी (महा-पथ-चैत्य)। यह चैत्य ३७५ फूट उँचा है। भगवान् बुध्द की चार भिन्न मुद्राओं की प्रतिमाएँ यहाँ स्थापित है।

थायलंड में वर्तमान में भी अनेक स्थानों पर बुध्दनिर्वाण सम्वत एवं शालीवाहन सम्वत का प्रयोग कालगणना के लिये किया जाता है। हिन्दु पध्दति के पञ्चाङ्ग भी प्रचलित है।

रामकियेन - श्याम देशका रामायण -

थायलंड (श्याम) के राष्ट्रीय जीवन में रामायण के उत्सवों का विशेष स्थान है। श्याम के नाटकों का प्रधान विषय रामायण ही रहता है। रामकियेन अर्थात् रामायण मूलतः वाल्मीकि रामायण पर आधारित है।

कथा आरम्भ होती है राम जन्म से । राम लक्ष्मण भरत शत्रुघ्न की जन्मकथाएँ ... उनकी बाल लीलाएँ, भूमि कन्या सीता की जन्म कथा ... ऋषि के साथ राम का बनगमन ... सीता स्वयंवर... कैकेयी का क्रोध ... दशरथ का वरदान... राम का वनवास... सारे प्रसंग क्रमशः रामकियेन में आते है। श्याम देशीय रामायण सीता त्याग के प्रसंग पर समाप्त नही होता। वाल्मीकि रामायण में अन्त में सीता भूमि माता का आश्रय लेती है और राम दुखी हो जाते है। रामकियेन में इसमें परिवर्तन है।

मूलतः रामद्वारा सीता के त्याग की घटना अलग प्रकार की है। सीता की सखियों के परिवार में एक राक्षसी छद्म रुपमें आती है। प्रतिशोध की भावना से उद्दीपित वह एक दिन राम की अनुपस्थिती में सीता से रावण के रंग रुप के बारेमें पूछती है। सीता ने तो रावण के पैर का अंगूठा मात्र देखा था। सखी के आग्रह पर विवश होकर सीता केवल अंगुठे के आधारपर रावण का चित्र बनाती है। इतने में राम आ जाते है।संकोचवश सहसा घबराकर सीता गडबडी से शय्या के नीचे चित्र छुपा देती है। रात्रि में शय्यापर निद्रा न आनेसे अस्वस्थ राम शय्या को पलटते है। रावण का चित्र देखकर विषण्ण और संतप्त होते है। लक्ष्मण को बुलाकर वे उसे सीता के शिरच्छेद की आज्ञा देते है। लक्ष्मण शिरच्छेद के स्थान पर उसे वन में ले जाकर छोड देते है।

आगे लव-कुश के पराक्रम तक का कथाभाग वाल्मीकि रामायण के समान है। परन्तु फिर कथा बदलती है। अनुताप एवं विरह से व्याकुल राम सीता से अयोध्या चलने का अनुरोध करते है। पूर्वानुभव से तप्त सीता अस्वीकार करती है। दुःखी राम अयोध्या वापस आते है। दुःखी राम के मन को सहारने के लिये लंका से बिभीषण को लाया जाता है। बिभीषण उन्हे वन पर्यटण का सुझाव देता है। तद्नुसार लक्ष्मण और हनुमान के साथ राम एक वर्ष पूर्वी दिशा में वनभ्रमण करने निकलते है। उस भ्रमण में आये संकट, राक्षसों के साथ संघर्ष, युध्द आदि घटनाओं का सविस्तर वर्णन किया गया है।

राम अयोध्या लौटते है। कैलास पति भगवान महादेव जी के मन में उनके प्रति करुणा उत्पन्न होती है। सीता त्याग के परिणाम स्वरुप रामचन्द्र जी द्वारा भोगे हुए दुःख को पर्याप्त समझकर वे राम और सीता का पुनार्मीलन करा देते है। इस प्रकार राम एवं सीता के सुखी जीवन के पुनः निर्माण के साथ 'रामकियेन' का समापन होता है।

श्याम की भाषा में सीता को सीदा, दशरथ को तसरथ, रावण को तशकंथ (दशस्कन्ध) और लक्ष्मण को लक कहा जाता है। शूर्पणखा-सम्मनखा, जटायु-सदायु, सुग्रीव - सुक्रीव, किष्किंधा नगरी खिदखिन्न नगरी इस प्रकार के अपभ्रंशित रुप आते है।

सांस्कृतिक दृष्टि से वर्तमान सयाम या थाइलँड अर्थात् प्राचीन श्याम देश भारतीय संस्कृति से ही जुडा हुआ है।

लम्पुन
(हरिपुञ्जय)
वि ए त ना म
(चम्पा)
ला ओ स
(लवदेश)
नोंगकाई
थाईलँड (सयाम - श्याम देश)
सुखोथाई
(सुखोदय)
सिंगबुरी
(सिंहपुरी)
लोबपुरी
अयुथिया
(अयोध्या)
बंगकोक
नाखोन
कम्बोडिया
(कम्बुज देश)
थानबुरी
सयाम की खाड़ी
नाखोन श्री धम्मरत
पट्टन
केदाह
(कटाह द्वीप)
म ले शि या
थाईलँड
सयाम - श्याम देश
उ.

मानचित्र क्र. ४
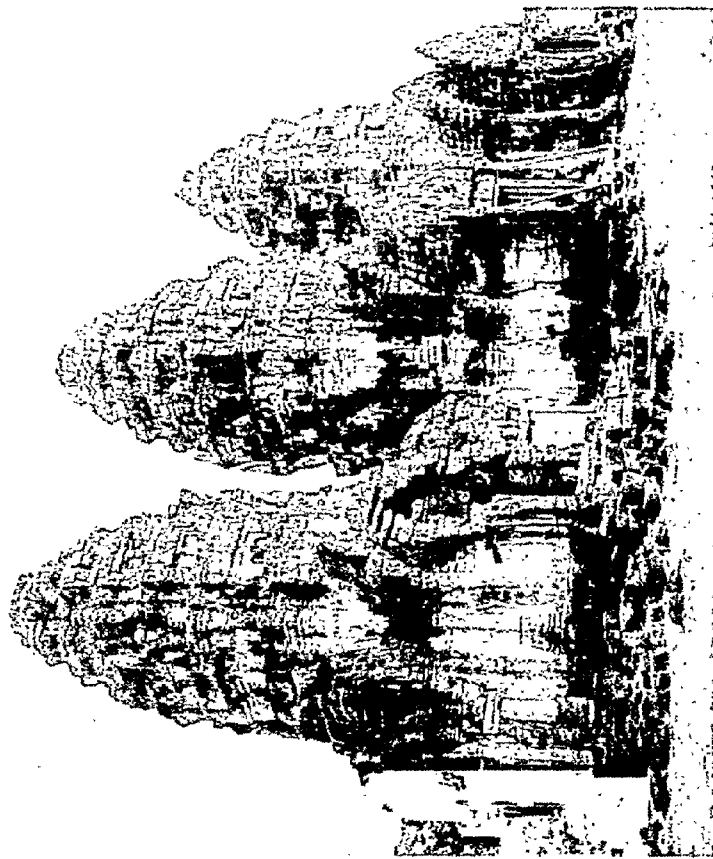
१५. लोबपुरी (थाईलंड)

१६. सुखोथाई (थाईलंड)
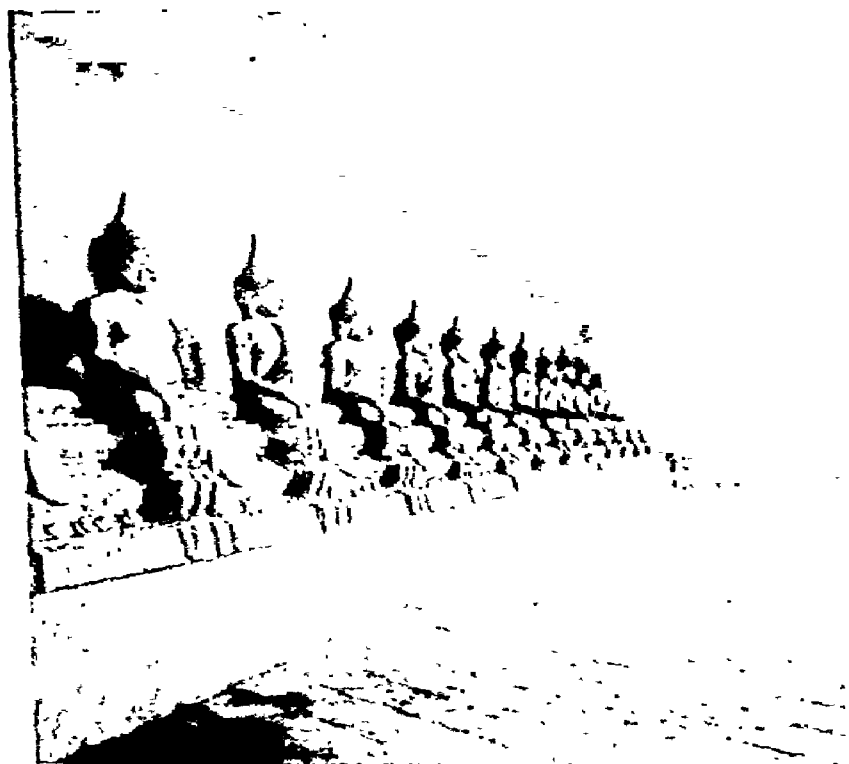
१७. बंकाक (थाईलंड)

१८. लोकेश्वर (थाईलँड)

१९. विष्णू (थाईलंड)

२०. बुध्द (थाईलंड)

२१. बुध्द मुर्तियाँ (थाईलँड)
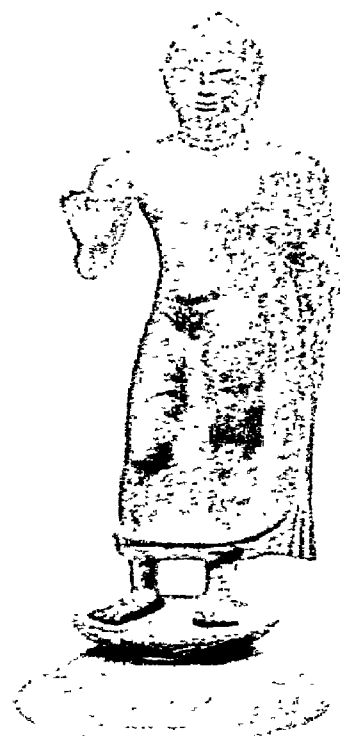
थाइ देश के मुद्रापत्रों पर भगवान राम

२२. मुद्रापत्र (थाईलँड)

लाओस (लव देश)

दक्षिण पूर्व एशिया में स्थित वर्तमान लाओस वास्तव में लव देश है। यह जनजाति दक्षिण चीन से स्थलान्तरित हो कर मेकांग नदी के परिसर में स्थायिक हुई। मे कांग 'माँ गङ्गा' का अपभ्रंशित रूप है। वर्तमान लाओस का नाम लव जनजाति का निवास स्थान होने से प्रचलित हुआ। चीनी बखरों में 'लव' नाम ही आता है। संस्कृत लव अर्थात् लवस् जब पाश्चात्य भाषा में अनुवादित हुआ तब 'लाओस' 'LAOS' बन गया। अंग्रेजी में व के लिये व्ही, डब्ल्यू और ओ किसी भी वर्णाक्षर का उपयोग होता है। परन्तु उपयोग के पश्चात् उच्चारण का कोई नियम नही। अ् का उच्चारण ओ किया तो लाओस बन गया।

लक्ष लक्ष हाथियों की भूमि के नाते लव देश प्रसिध्द था। वर्तमान लाओस के उत्तर में चीन और ब्रहमदेश की सीमाएँ है। पाश्चिमी सीमाएँ थायलँड से लगी हुई है। पूर्वी सीमा विएतनाम से लगी है। दक्षिण में कंबोडिया है। 'लव' देश का क्षेत्र फल है २ लाख ३६ सहस्त्र ८ सौ वर्ग किलोमीटर।

भूमि मार्ग से साहसी भारत पुत्रों का भ्रमण।

कृण्वन्तो विश्वमार्यम् की प्रेरणा लेकर, भारत के साहसी सुपुत्र जिस प्रकार महासागर लांघकर भिन्न भिन्न देशों में जाकर बस गये उसी प्रकार भूमिमार्ग से भी उन्हो ने कतिपय नये नये प्रदेश ढूँढे। वहाँ पर अपने सांस्कृतिक उपनिवेश स्थापित किये।

भारत के पूर्वाञ्चल में प्राग्ज्योतिषपूर (गुवाहाटि) शोणितपूर (तेजपूर), मणिपूर ऐसे कतिपय प्राचीन सांस्कृतिक केन्द्र थे। मणिपूर से ब्रह्मदेश के चिंद्विन् एवं इरावती नदियों के मध्य में समृध्द प्रदेश था ही। इरावती के तट पर अवा, पगान, मण्डाले, श्रीक्षेत्र, हंसावती (पेगू) ऐसे कितने ही स्थान है जो प्राचीन काल में भारतीय उपनिवेश बने हुए थे। उसके आगे शालवीन नदी पार करके प्राचीन भारतीय उत्तर दिशा में मुडे। दक्षिण चीन के युन्नान प्रांत में जा बसे। वहाँ की थाई और लव जनजातियों ने उन का स्वागत किया। शीघ्र ही युन्नान ने भारतीय संस्कृति को स्वीकार किया। युन्नान का नामकरण हुआ गान्धार।

युन्नान अर्थात गांधार से जब थाई एवं लव जातियाँ चीनी आक्रमणों के कारण निष्कासित हुई तो दक्षिण दिशा में माँ गंगा (मेकांग) के घाटी में पहुँची। लव जाति ने वहाँ पर अपने

उपनिवेश स्थापित किये। यही वर्तमान लाओस की जन्मकथा है। 'लव' तो उस के पूर्व ही भारतीय संस्कृति को स्वीकार कर चुके थे। जहाँ पर अब वे आये थे वह प्रदेश कम्बुज साम्राज्य में था। कम्बुज साम्राज्य उस समय भारतीय संस्कृति का प्रभावी केन्द्र बन चुका था।

सम्भवतः प्रथम 'लव' उपनिवेश वर्तमान 'ल्वांग प्रबंग' में स्थापित हुआ। मेकांग नदी की धारा से दक्षिण में वस्सक के निकट पहुँचे जहाँ पर कम्बुज साम्राज्य के अन्तर्गत अपना एक राज्य स्थापन करनेवाला प्रथम प्रतापी नरेश था 'श्रुतवर्मा। यह स्थान अंकोर क्षेत्र के दक्षिण पूर्व में था। वस्सक से लगभग १५ कि.मी. दूरी पर 'वत् फू' पर्वत है। यह लव देश का 'लिङ्ग' पर्वत याने कैलास ही है।

वस्सक का ही नाम चम्पासक है। प्राचीन फूनान के साम्राज्य का अस्त हो रहा था और कंबु स्वायंभुव एवं मीरा के वंश का उदय हो रहा था। इसी वंश का प्रथम राजा था श्रुतवर्मा। कलियुगाब्द ३७ (खि.६) वी शती में भविष्यकाल के महान कम्बुज साम्राज्य की नींव डाली गयी, उस का केन्द्र इस प्रकार वर्तमान लाओस में था।

श्रेष्ठपूर -

श्रुतवर्मा का पुत्र श्रेष्ठवर्मा पिता के मृत्यु के पश्चात् सिंहासन पर आरुढ हुआ। राज्य नया था। राजधानी की आवश्यकता थी। चम्पासक 'माँ गंगा' (मेकांग) नदी के तट पर था। वहाँ से १५ किलो मीटर पश्चिम में 'वाट फू' लिङ्ग पर्वत पर एक सुंदर वाट (मन्दिर) का निर्माण किया गया। मन्दिर में श्री भद्रेश्वर (महादेव) देवता की स्थापना की गयी।

चम्पा, लव, कम्बुज इन देशों के राजा शिवभक्त ही थे। साथ में विष्णु की उपासना भी थी। बौध्द नरेश भी शिव की उपासना करते ही थे।

ये शिव बडे विलक्षण देवता है। उन के श्मशानवासी होते हुए भी बडे बडे राजा अपने को महादेव का अंश मानने और कहलाने में जीवन की सार्थकता समझते रहे है। बालकों की, अपने प्रिय देवता श्री गणेश जी के पिता होने के नाते उन में श्रध्दा होती थी। वीरता और पौरुष से स्नेह करने वाली पार्वती स्वाभाविक ही स्त्रियों की प्रिय देवी बनी। कार्तिकेय तो देवताओं के सेनापती थे, क्षत्रियों की प्रेरणा का स्थान थे। भोले शंकर अपने समग्र परिवार सहित उन भारतीयों के साथ गये, जो सागरपार जा पहुँचे।

शिवभक्ति का आविष्कार भी कितना साधा...सरल...सुगम। जिस महाभाग को महादेव के प्रतीक के रूप में शिवलिङ्ग की कल्पना प्रथम सूझी हो वह विलक्षण प्रज्ञावान रहा होगा। छोटा बालक भी बालू में खेलते खेलते सहज आकृति बना दे तो कैलास दृष्टि के सामने प्रत्यक्ष खडा होगा।

भारत माता की गोद से दूर गये हुए अपने सुपुत्रों को भद्रेश्वर ने प्रेरणा दी। उन के पराक्रम की सराहना की। यह भारतीय परम्परा है कि कोई विशेष कार्य किया तो सर्व प्रथम देवता को निवेदन करना। नयी उपलब्धि हुई तो उसे देवता के चरणों पर चढाना। राजाओं की तो प्रथा ही थी। विजय यात्रा पर प्रस्थान रखने के पूर्व शिव जी का आशीर्वाद प्राप्त करना। और विजय प्राप्ती के अनन्तर राजपरिवार, अमात्यगण एवं सेनानी सहित समारोहपूर्वक लिङ्ग पर्वत पर जाकर भद्रेश्वर स्वामी की पूजा अर्चना करना। घर घर की सुवासिनी महिलाएँ राजा एवं सैनिकों की आरती उतारती। दुन्दुभि, तुरही के निनाद में सारी प्रजा समारोह में सम्मीलित होती।

नये नये नगर बसते जाते। नगर के मध्य भव्य वाट (मन्दिर) का निर्माण होता था। राजप्रासाद के साथ सामन्त, श्रीपति, श्रेष्ठी इन के भी प्रासाद खडे हो जाते। विस्तीर्ण राजमार्ग, रमणीय उद्यान, धर्मशालाएँ, चिकित्सालये, शासन के कार्यालय, योजना पूर्वक बनाएँ जाते। वस्त्रकार, चर्मकार, रथकार, लोहकार, मूर्तिकार आदि की बस्तियाँ बन जाती। वाणिज्य और उद्योगों का उत्कर्ष होता। कहीं से एकाध विद्वान आचार्य नयी नवेली नगरी में आ जाते। भारत के ही वल्लभी, काशी, काञ्ची, नालन्दा ऐसे किसी विश्वविद्यालय का प्रशंसा पत्र उनके पास रहता। और उनका सम्मान होता। नगरी के सभी अधिकारी भाग दौड करते, योजना बन जाती। नगरी से कुछ दूर वन प्रान्तर में उन आचार्य जी का आश्रम बन जाता। नगरी के किशोर कुमार आश्रम में प्रविष्ट होते। कोई धनुर्वेद अथवा सन्धि विग्रह कर्म जैसे युध्दनीति की शाखा में, तो कोई राजनीति, अर्थनीति, इतिहास, मानवधर्मशास्त्र की शाखा में प्रवेश लेते। कोई अश्व, हाथी आदि के प्राणि विज्ञान के तो कोई गणित, ज्योतिष, शिक्षा आदि विषयों के अध्ययन के लिये जाते।

मन्दिर एवं विहार - लवदेश का शिल्प!

श्रेष्ठपूर नगरी आज तो केवल खण्डहर के रूप में सम्मुख आती है। भद्रेश्वर का मन्दिर नही रहा। वहाँ पर कभी वह बुध्द विहार में परिवर्तित हो गया। परन्तु विहार का रूप मन्दिर समान ही है। मन्दिरों के प्रवेशव्दार पर व्दारपाल रहते है। वर्तमान बुध्द विहार के प्रवेशद्वार पर एक द्वारपाल है नागराज वासुकि तो दूसरे द्वार की रक्षा कर रहे है 'पक्षिराज गरूड। विहार में एक से बढ़कर एक सुन्दर, भगवान बुध्द की मूर्तियाँ है। लव देश का राजमान्य और लोकमान्य मत है बौध्दमत। स्तूप, बोधिवृक्ष, छत्र और पादुका ये बुध्द के प्रतीक है। प्रतीकों की पूजा का प्रचलन लव देश में प्राचीन है। चपटे चत्वर (अधिष्ठान) पर अर्धपिण्डाकार वास्तू, उस पर चौकोर हर्मिका, हर्मिका पर चक्रवर्तित्व दर्शक छत्र इस प्रकार का स्तूप भगवान बुध्द के अवशेष (केश, दाँत, अस्थि, रक्षा आदि) पर बनाया जाता था। महायान पन्थ ने देवता की कल्पना को स्वीकार

किया तो हर्मिका पर और स्तूप के चारो ओर बुध्दमुर्तियाँ दिखाई देने लगी।

लव देश में महायान पन्थीय स्तूप, चैत्य एवं विहार है। कलाकारो ने पाषाण मे शिल्पचैतन्य का निर्माण किया। बुध्द की पुनर्जन्म की गाथाएँ-जातक कथाएँ और बुध्दलीला उन्होने शिल्पांकित की। यह शिल्पकला गान्धार शैली की है। कही कही गुप्तकालीन शैलीका प्रभाव दिखता है। अर्थात् भारतीय कलाकार पर्याप्त संख्या में इन देशों में जाते रहे। शिल्प एवं मूर्ति कला के भारतीय आचार्योने इन सारे दक्षिण पूर्व एशिया में शिक्षा केन्द्र खडे किये।

बुध्द की मूर्तिओं में राजपुत्र बुध्द, तप्रश्र्चर्याक्षीण अस्थिपञ्जरबुध्द, ज्ञानी बुध्द, महानिर्वाणबुध्द आदि अनेक प्रकार है। पाषाण पर उत्कीर्ण बुध्द जीवन में माया देवी का स्वप्न...बुध्द जन्म...महाभिनिष्क्रमण (बुध्द का घर छोडकर जाना)...ज्ञान प्राप्ति...धर्मचक्रप्रवर्तन (मृगदावन में प्रथम प्रवचन) आदि प्रसंग इतने अनुपम है कि पाषाणचित्र सजीव हो उठते है।

भगवान गौतम को बोधिवृक्ष के तले ज्ञानप्राप्ति हुई। सिध्दार्थ थे, बुध्द बने। किन्तु वहाँ इस क्षण का कोई साक्षी नही था। बध्दपद्मासनस्थ गौतम ने झुक कर भूमि का वन्दन किया, उसी को साक्षी बनाया। बुध्द की भूमि स्पर्श मुद्रा वह प्रसङ्ग साकार करती है।

वाट श्री साकेत में बुध्द की पंक्तिबध्द आठ मूर्तियाँ है। कहा जाता है कि गौतम प्रथम बुध्द नही है। उन के पूर्व पाँच सहस्त्र वर्षो की कालावधि मे छ-बुध्द हो गये। गौतम सातवें बुध्द थे। भविष्य में आठवे बुध्द होंगे "मैतरेय"। वाट श्री साकेत में मैतरेय की भी सुन्दर मूर्ति है। प्रत्येक बुध्द का नाम पृथक है। प्रत्येक का बोधिवृक्ष भी पृथक् है। ये सभी बुध्द सारनाथ शैली के है। उन्नत भौंहे, घुँघराले केश और शरीर पर झीना वस्त्र है। एक मूर्ति की मुख मुद्रा पर अपार कारूण्य, तो अन्य किसी पर अद्‌भुत चैतन्य। अन्य और बुध्द मूर्ति में प्रबल आत्मविश्र्वास के साथ कलाकारों ने ध्यानस्थ मुद्रा, प्रसन्न मुख और स्मित हास्य द्वारा आध्यात्मिक आविष्कार प्रकट किया है। सौष्ठव, संयम एवं सद्‌गुण का मनोहर सम्मीलन सभी बुध्द मुर्तिओं में दृग्गोचर होता है। स्थापत्य में भी मन्दिर स्थापत्य और चैत्य स्थापत्य का सुन्दर मिश्रण दिखाई देता है। प्रायः स्थपतिओंने दोनों में अन्तर रखा ही नही है। किसी विहार मे शेषशायी विष्णु एवं पद्मासना धिष्ठित लक्ष्मी की मूर्ति या शिवलिंग मिलना और किसी मन्दिर में बुध्द की मूर्ति अभिषिक्त होना नितान्त सहज़ है।

दशलक्ष हाथियों का राज्य - 'लान झङ्'

लव देश का अर्थात वर्तमान लाओस का क्रमबध्द इतिहास लगभग कलियुगाब्द ४४५२ (खि. १३५०) से उपलब्ध होता है। यह इतिहास लाओस की स्वतन्त्र रूप से एक राष्ट्र बनने की प्रक्रिया है।उत्तर लाओस में 'म्वाङ्ग स्वा' ख्मेर साम्राज्य के अन्तर्गत एक माण्डलिक राज्य था।

इस राज्य का अंतिम नरेश सुवन्न खम्फोङ् ने अपने पुत्र थाओ फी को किसी बात से नाराज होकर निष्कासित कर दिया। थाओ फी अपने पुत्र फा-गुम् एवं परिवार को लेकर ख्मेर सम्राट के आश्रय में 'अङ्कोर' गया। फा गुम की शिक्षा-दीक्षा अङ्कोर में ही हुई। कम्बुज नरेश जयवर्मा परमेश्वर की पुत्री से फा गुम् का विवाह हुआ फा गुम को भी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई।

फा गुम और उस के पिता ने सेना संगठित की और लाओस के छोटे छोटे राज्यों को जीत कर फिर म्वांग स्वा' पर आक्रमण किया। फा गुम के पितामह सुवन्न खम्पोङ् निष्कासित हो गये। फा गुम ने राजधानी का नाम म्वांग स्वा से 'ल्वांग प्रबङ्' में परिवर्तित किया। अपने पराक्रम से अब वर्तमान लाओस का पूरा क्षेत्र उस के अधिकार मे लाने में वह सफल हो गया। कलियुगाब्द ४४५५ (खि.१३५३) में फा गुम लव देश का अभिषिक्त राजा बन गया।

लव देश का यह साम्राज्य लान् झङ् अर्थात दशलक्ष हाथियों का राज्य इस नाम से इतिहास में प्रख्यात है।ख्मेर साम्राज्य का अंकित राज्य था फिर भी स्वायत्त था। यही समय है जब ख्मेर साम्राज्य की 'देवराज' परम्परा का लोप हुआ। ब्रह्मदेश एवं थायलंड से बौध्द धर्म ने कम्बुज में प्रवेश किया। स्वयं फा गुम् बौध्द उपासक था। वह स्थविरवादी (थेरवादी) था।

कलियुगाब्द ४४७५ (खि.१३७३) में फा गुम् का ज्येष्ठ पुत्र श्याम सेन थाई सिंहासन पर आरूढ हुआ। ब्रहमदेश (म्यॉंमा), थायलंड एवं चम्पा (विएतनाम) के साथ संघर्ष चलता रहा। श्याम सेन थाई ने लव देश में जनगणना की। तीन लाख लोगों की स्वतंत्र तालिका भी बनाई, जो राष्ट्र की रक्षा हेतु सेनादल में काम कर सकते थे। कलियुगाब्द ४६ एवं ४७ (खि.१६ एवं १७) की शती लव देश का सुवर्णयुग का काल था। विद्या एवं कला की समृध्दि, आर्थिक सम्पन्नता और राजनीतिक स्थिरता से लव देश प्रख्यात हुआ। जनगणना का इस क्षेत्र में यह प्रथम उल्लेख माना जा सकता है।

साहित्य सम्पदा -

लव देश की भाषा संस्कृत एवं पाली की मिश्रित भाषा थी। ख्मेर साम्राज्य के अधीन रहने के कारण साहित्य भी कम्बुज परम्परा से प्रभावित हुआ। कथा विषय एवं नाट्यविषय पूर्णतःभारतीय शैली के रहे। नायक नायिका, अन्य पात्र इन के नाम एवं व्यवहार शुध्द भारतीय रहे। भारत में पौराणिक परम्परा निर्माण हुई और लोक जीवन, लोक व्यवहार के साथ पौराणिक कथाएँ जुड़ गयी। लव देश में भी ऐसे ही सांस्कृतिक अनुबन्ध दिखाई देते है।

आज भी हम प्राचीन श्रेष्ठपूर के खण्डहर देखने चलेंगे तो नगर के पास दो छोटे पर्वत दिखाई देंगे। उस में भी एक उँचा है और दूसरा पहले की अपेक्षा, उँचाई में थोडा कम है। वहाँ के मार्गदर्शक को हम पूछेंगे ''भाई'' ये पास में सुंदर पहाडीयाँ दिखती है, क्या नाम है उनका?''

तो वह मार्गदर्शक बताएगा वह थोडी ऊँची पहाडी है वह है राजपुत्र बुध्दसेन, और दूसरी पहाडी है वह है यक्ष कन्या।" फिर वह तुरन्त हमे कहानी सुना देगा।

कम्बुज देश की इन्द्रप्रस्थ नगरी का राजकुमार था बुध्दसेन। एक रात को वह तडाग के पास घूम रहा था। थक गया, वही पर एक वृक्ष के नीचे सो गया। सहसा वह जाग गया तो उस ने देखा, यक्षकन्याएँ धरतीपर उतर आयी थी। आधी रात हो गयी थी। जेसे वह पानी से वाहर आयी वह उस के सम्मुख जा खडा हुआ। यक्षकन्या भी अचानक सुंदर वलिष्ठ युवक देखकर संभ्रमित हो गई। विधि लिखित था। बुध्दसेन एवं यक्षकन्या का विवाह हो गया। यथासमय जीवन के समस्त उपभोग कर दोनो ने एक ही समय मृत्युलोक से मुक्ति पायी। फिर भी दोनो अमर हो गये। उन्होने इन्द्रप्रस्थ के पास ही पर्वतों का रूप धारण किया।

लव देश का साहित्य भारत की प्राचीन पध्दति के ही अनुसार भूर्ज पत्रो पर लिखा हुआ है। लव देश के राष्ट्रीय ग्रन्थालय मे ४०० से ६०० तक की पृष्ठसंख्या के हजारो प्राचीन ग्रंथ सुरक्षित है। लव देश की संस्कृति को विकसित करने वाले ग्रन्थोंका उद्‌गम प्राचीन संस्कृत साहित्य एवं शास्त्रों में है। ज्योतिष, हस्त सामुद्रिक, कुण्डली विषयक ग्रन्थों को लव भाषा में होरा शास्त्र कहते है। राजनीति और विधि (कानून) के सन्दर्भ में नीति शास्त्र, शब्द प्रयुक्त होता है। संस्कृत साहित्य की शैली पर वहाँ भी लक्षण शास्त्र, चिन्तामणि, श्री रत्नज्योति परोपकार शास्त्र, राष्ट्र शास्त्र (विधि एवं परम्परा), काच्चायन (व्याकरण) आदि विभिन्न ग्रन्थ राष्ट्रीय जीवन में सम्मानित है।

उत्सवप्रियता -

वर्ष प्रतिपदा, व्यास पूर्णिमा, विजया दशमी प्रजा के प्रिय पर्व थे। उत्सव प्रसंग पर विष्णु शिव एवं बुध्द की प्रतिमाओं को स्नान कराते थे। फिर उन की यात्रा निकाली जाती थी। घर घर में आनन्द एवं उत्साह का वायुमण्डल रहता था। व्यास पौर्णिमा को विहार एवं आश्रम की ओर आचार्य का आशीर्वाद प्राप्त करने हेतु लोगों का तांता लग जाता था।

बुध्दजयंती पर आज भी बुध्द एवं अन्य देवताओं का पूजन होता है। लव देश में भगवान बुध्द के पदचिन्ह है। 'प्रकुकुसोन, प्रकोन्नकोन, प्रपुव्यकत्सोप एवं प्रसमुत्तकोदोम आदि बुध्दावतारों के दर्शन के लिये अन्य देश के बौध्द यात्री लव देश जाते रहते हैं। सम्भवतः ये वही बुध्द के अन्तिम चार अवतार है जिनका उल्लेख क्रकुचन्द, काञ्चन, काश्यप और शाक्यसिंह के रूप में हेमचन्द्र के अभिधान चिन्तामणि में आता है। एक और उत्सव लोकप्रिय था। कुछ मात्रा में आज भी है। रूप थोडा वदल गया होगा।

वसन्त ऋतु के आगमन के साथ युवक युवतियों के उत्साह का ज्वार आता था। नगर के

समस्त रमणीय उद्यान वसन्तोत्सव में पूरे भर जाते थे। वृक्षों पर हिण्डोले में झूलती हुई यौवन सम्पन्ना कन्याओं के मध्य कानाफूसी चलती-'कौन है रि वह? अभी हुए युध्द में आहत हुआ, वह देख साहसी युवक...उस बकुल (मौलश्री) वृक्षतले बैठे युवा को देखा तुमने? सुना है, वह अभी आया है भारत से ताम्रलिप्रि से ऐसी चर्चाएँ, फिर उत्सुकता, अधीरता, प्रेमी युगलों का हृदय स्पन्दन...स्नेह कूजन...और फिर अनेक युवतियाँ अपने जीवन साथियों का चयन करती। पौरूष और वीरता के कारण ख्यातिप्राप्त नगर युवा भी उत्सुकता पूर्वक इसी हेतु से वसन्तोत्सव में सम्मीलित होते।

चैत्र के अष्टमी से आरम्भ होकर चैत्री पौर्णिमा तक सात या आठ दिन वसन्तोत्सव चलता था। वहाँ पर नर्तक एवं नृत्याङ्गना सब दिशाओं में नृत्य किया करते थे। कम्बुज नरेश सप्तम जयवर्मा के प्रोह्य अभिलेख में यह वर्णन आता है।

चैत्राष्टम्यां समारभ्य यावत्तत्पूर्णिमा तिथिः।
सुवसन्तोत्सवविधिवंशाराम जिनागमे।।
नर्तक्यो नर्तकाश्चात्र नृत्येयुः परितो दिशः।
दानशीलादिकुशले कुर्युस्सर्वेच मानवाः।।

मन्दिर में इस पर्वपर नये नये नाट्यकृतियों का भी सादरीकरण होता था। लव देश कम्बुज साम्राज्य के अन्तर्गत था। स्वाभाविकतः बुध्द उपासना के साथ शिवोपासना भी होती थी। शिवरात्रि का भी उत्सव धुमधाम से मनाया जाता था। एक अभिलेख में वीणा, वेणु, मृदङ्ग, घण्टा, भेरी, शङ्ख पटह ऐसे कतिपय वाद्यों के नाम भी आते है।संगीत, नृत्य, नाट्य, उत्सव के अभिन्न अंग थे।

सांस्कृतिक दृष्टि से लव देश भारतीय था। आज भी है। आज भी लव देश के अत्यन्त लोकप्रिय नाट्य का अवलोकन करें तो यह प्रतीत होता है।

एक लोकप्रिय नाट्य

पाञ्चाल देश के सम्राट की महारानी पद्मा। रूपवती एवं सद्‌गुणी। पाञ्चालराज वास्तव में सुखी थे। महारानी पद्मा से उन्हे चार सुन्दर पुत्र हुए। ये पुत्र मानो परमात्मा द्वारा स्वर्ग के नन्दनवन से पृथ्वितल पर भेजे हुए निष्पाप सुकुमार पुष्प ही थे। परन्तु महारानी का यह सुख अंगी नाम की अन्य रानी को न भाया। उस के हृदय में मन्थरा ने प्रवेश किया। अति दुष्टा अंगी रानी को प्रजा द्वारा की जाने वाली इन बालकों की सराहना सहन नही हुई।

दुष्ट प्रवृत्ति को साथ करनेवाले साथी भी मिल जाते है। अंगी ने ऐसा षङ्यन्त्र रचा और एक दिन राजभवन में कुहराम मच गया। महाराज और उनके चारों पुत्रों की हत्या कर दी गयी।

महारानी पद्मा शोक के कारण भ्रमित हो गयी।

राज्य के महामात्य आगे आये। शोक का संवरण कर उन्हों ने राजपुत्रो का और महाराज का अन्तिम संस्कार किया।....वची मुठ्ठीभर राख!

तथापि क्या आश्चर्य! दुसरे ही दिन उस राख में से चार प्यारे प्यारे पौधे निकल आये। देखते ही देखते वे वडे वृक्षों में परिवर्तित हुए। एक दिन दोपहर में महर्षि अग्निचक्षु उन पेडों के पास से निकल रहे थे। उन्हे उन वृक्षो में से मञ्जुल स्वर सुनाई दिये। आत्मज्ञान से सारा प्रकरण उन की समझ में आ गया। महर्षिने अपने कमण्डलु से जल लेकर अभिमंत्रित किया। स्वस्ति स्वस्ति कहकर वृक्षोंपर प्रोक्षण किया। क्षणार्ध में पेड अदृश्य होकर चार तेजस्वी राजपुत्र उन के सम्मुख खडे हुए। महर्षि ने उन का नामकरण किया-श्वेतकुमार, पीत कुमार, सुवर्ण कुमार और वज्रनन्द कुमार। महर्षि अग्निचक्षु ने उन्हें आशीर्वाद के साथ माया (जादू का हीरा) और अमोघ शस्त्रास्त्र भी दिये।

फिर इन राजपुत्रों ने वडे पराक्रम किये। यक्ष, गन्धर्वो पर भी विजय प्राप्त किया। अन्त में पाञ्चाल नगर में आये। अपनी माता को पद्मा रानी को राजसिंहासन पर विठाया। अंगी महारानी की दासी वन गई।

लव देश का यह वर्तमान लोकप्रिय नाटय लव देश का भारतीय संस्कृति से अटूट सम्वन्ध का निदर्शक है। लव देश में आज भी कालगणना के तीन संवत प्रचलित है। कलियुगाब्द ३१८० (खि.७८) में भारत में शालिवाहन शक का आरंभ हुआ। लव देश में इसे शक राज कहते है। अभिलेखों में इसी कालगणना का प्रयोग किया हुआ है। दूसरा संवत् है जो कलियुगाब्द २५५८ (खिस्त पूर्व ५४४) में प्रारंभ हुआ। उसे महाशकराज कहा जाता है। और एक संवत् लगभग कलियुगाब्द ४६७२ (खि. १५७०) से तीन सौ वर्ष तक प्रचलित था। उसे चुल्ल शक राज कहा जाता है। व्रह्मदेश (म्याँमा) में कलियुगाब्द ३७४० (खि.६३८) में एक संवत प्रारंभ हुआ। जव लाओस पर व्रह्मदेश का प्रभुत्व था तव लाओस में भी उसका प्रयोग होने लगा।महाशकराज से पृथकता रखने के कारण उसे चुल्ल शकराज नाम दिया गया।

प्राचीन कालगणना के प्रयोग लव देश में कलियुगाब्द ४६८९ तक अर्थात केवल एक सौ पंधरा वर्ष पूर्वतक चलते रहे। दान साई अभिलेख में राजा धर्मकराज के शासन की तिथि दी है। आषाढ के पूर्णिमा के दिन शक १४८२ में बुध्द निर्वाण के पश्चात २१०३ वर्ष। राजा का उल्लेख भी वैशिष्ठ्यपूर्ण है।

"चन्दनपुरी श्री शतनागनहुत महानगर रत्न परम महाचक्रवर्तिश्वर-वर राजाधिराज का शासन" त्वांग प्रवांग के एक मंदिर से 'वाट विक्षुण' से प्राप्त शिलालेख में एक ग्रन्थालय का

वर्णन है। ग्रंथालय में बुध्द तत्त्वज्ञान के २८२३ ग्रंथ थे। परन्तु लव भाषा में त्रिपीटक नही था। राजा की अध्यक्षता में त्रिपीटक के अनुवाद के लिये विद्वानों के एक समिती का गठन किया गया।

साहित्य में 'इन्द्र' का महत्त्व अत्यधिक है। नायक की युध्द में सहाय्यता करनेवाला, दुष्ट व्यक्तियों को दण्ड देनेवाला, सत्प्रवृत्त व्यक्तियों के दुःख का हरण करनेवाला इन्द्र होता है। ऐसी ही एक लोकप्रिय कथा है 'कालकेत'। वाराणसी का राजा था सुरिवंग। उस के पास ऐसा अश्व था जो मनुष्यवाणी में संवाद करता था, हवा में उड़ सकता था। नाम था उस का 'मणि कप'। राजा भाग्यशाली था। गरूड उसका मित्र था और उस ने राजा को एक विचित्र प्रभावी अस्त्र 'बाण' के रूप में दिया था। यक्षों का राजा भी उस का मित्र एवं परंहितैषि था। एक हि साल थी उस के हृदय में। सन्तान नही थी। राजा के ज्योतिषि ने विश्वास दिलाया था कि उस के भाग्य में प्रतापी एवं सद्‌गुणी पुत्र सन्तान का योग है। परन्तु कितने ही वर्ष बीत गये।

महादेवी इन्द्राणी को राजा के दुःख का पता चला तो उस ने इन्द्र से अनुरोध किया वह राजा के दुःख का हरण करें। इन्द्र ने देवपुत्र एवं उस की चार पत्नियों को पृथ्वी पर भेजा। देवपुत्र पृथ्वीपर आया तभी विधि के विधान से उस की चारो पत्नियाँ उसे बिछड़ गयी। उन को खोजने में भी देवपुत्र असफल रहा।

देवपुत्र ने राजा सुरिवंग की महारानी के गर्भ में प्रवेश किया और यह पुत्र कालकेत नाम से विख्यात हुआ।

पञ्चतन्त्र पर आधारित ग्रंथ भी लव देश में विख्यात है। तन्ताई महादेवी राजपुत्रों को राजनीति सिखाने के हेतु कथाएँ गुँफती है। तन्ताइ संस्कृत तंत्रवाय (कथा गुँफनेवाला) का अपभ्रंशित रूप है। इस में नन्द, मण्डुक, पिशाच, शकुन और संघ ऐसे पाँच पकोन अर्थात् प्रकरण है। ऐतिहासिक एवं पौराणिक साहित्यने लव देशका सांस्कृतिक एवं सामाजिक जीवन समृध्द किया है।

चीन
म्यॉमा
(ब्रह्मदेश)
लाओस-लव देश
लाओस
(लव देश)
लापाङ्
सुखोथाई
था ई लैं ड
सहस्त्र बुध्द मंदिरोंके नगर
दक्षिण चीनी
सागर
श्रेष्ठपुर
वाट् फू
दं ग्रे क प र्व त
ख्मेर प्रजासत्ताक
(कम्बोडिया)
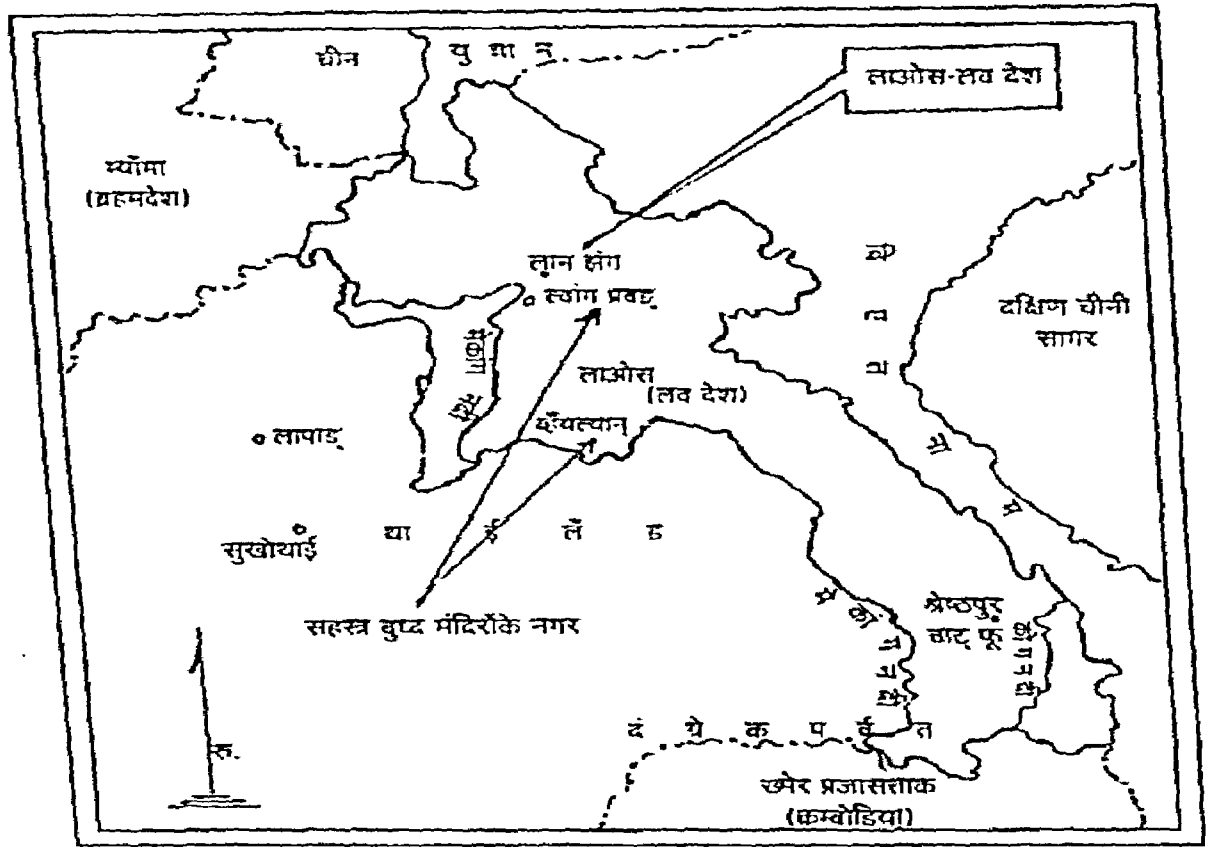
मानचित्र क्र. ५

२३. बुध्द गुँफा (लाओस)

२४. भगवान राम की धनुर्भंग लीला
लवदेश (लाओस)

२५. उड़नशील गरुड़, लवदेश

विएतनाम (चम्पा)

भूताभूतेशभूता भुवि भवविभवोद्भावभावात्मभावा
भावाभावास्वभावा भवभवकभवा भावभावैक भावा।
भावाभावागशक्तिः शशिमकुटतनोरर्धकाया सुकाया
काये कायेशकाया भगवति नमतो नो जयेव स्वसिध्द्‌या।।

("विश्व एवं समस्त भूतमात्र के पूर्व जिस का जन्म हुआ, जो सगुण एवं साकार और निर्गुण एवं निराकार है, जगत्‌ की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय का जो कारण है, चंद्रसमान अर्धकाया होती हुई भी जो त्रिभुवन सुंदरी है, और जो साक्षात्, परमात्मा की शक्ति स्वरूपिणि है, उस देवि भगवति को हम प्रणाम करते है। तुम्हारी कृपा से हमे यश की प्राप्ति हो।")

विएतनाम में 'पो नगर' नामक स्थान है। वहाँ के मन्दिर के द्वार के दक्षिण स्तम्भपर एक अभिलेख उत्कीर्ण किया हुआ है। कलियुगाब्द ४१५२ (खि. १०५०) का चम्पानरेश जयपरमेश्ववर्मा का यह संस्कृत अभिलेख देवी भगवति की स्तुति से प्रारंभ होता है। स्नग्धरा वृत्त में लिखा यह सुन्दर श्लोक कालिदास, भास, भारवि जैसे भारत के प्राचीन कवियों का स्मरण कराता है। भारतीय संस्कृति का यह अद्‌भुत आविष्कार सुदूर पूर्व में स्थित विएतनाम में दिखाई देता है।

१८०० वर्ष पूर्व का भारतीय उपनिवेश-चम्पा।

वर्तमान दक्षिण एवं उत्तर विएतनाम का प्रदेश चम्पा देश इस नाम से विख्यात था। पूर्व में समुद्र था। पश्चिम में माँ गंगा (मेकांग) नदी की घाटी से एक पर्वतशृंखला ने उसे पृथक्‌ किया था। इस प्रकार पर्वत की शृङ्‌खलाएँ और समुद्र से घिरे हुए चम्पा देश का क्षेत्र लगभग तीन लक्ष वर्ग किलोमीटर था। उत्तरी सीमाएँ चीन को स्पर्श करती थी। कलियुगाब्द ३३०० (खि. २री शती) से लेकर लगभग कलियुगाब्द ४८०० (खि. १७ वी शती) तक चम्पा एक भारतीय देश था। हिन्दु राज्य था। संस्कृति भारतीय थी। राजभाषा संस्कृत थी।

इतिहास के कतिपय साधन आज उपलब्ध हुए है परन्तु इतिहासवेत्ताओं में सहमति नही। प्रथम, सब से प्राचीन अभिलेख हमें कलियुगाब्द की ३३ वी शती में ले जाता है। 'वो चान्ह' ग्राम के मन्दिर में प्राप्त संस्कृत अभिलेख में उल्लेख है,

श्रीमार राजकुल वंशविभूषणेन।

श्रीमार लोकनृपतेः कुलनन्दनेन।।

श्री मार प्रथम हिन्दु चम्पा नरेश सिध्द होता है। चीनी वखर में उसे 'किड लिअन' कहा है। कलियुगाब्द ३२९४ (खि.१९२) में उस ने चीनी सेना को पराजित कर के स्वतंत्र चम्पा देश के स्वतंत्रता की घोषणा की। 'चम्पापूर' राजधानी का निर्माण किया। यह चम्पापूर वर्तमान त्राकीऊ नामक नगर के पास था।समुद्रतट से केवल दस किलोमीटर की दूरीपर था। नगर के दक्षिण पूर्व में पहाडीयों की शृङ्खला थी। उत्तर में नदी वहती थी। जहाँ दक्षिण में पहाडी समाप्त होती थी वहाँ से भी एक नदी प्रवाह था। दोनो नदियाँ पूर्व दिशा में संगमित होकर सागर में समर्पित होती थी। तीन किलोमीटर लंवी प्राचीर ने नगर को घेर लिया था। प्राचीर की दिवारे २० फूट उँची थी। दीवारों पर लकडी के कक्षों की शृंखला थी। जगह जगह पर ४० से ७० फूट उँचे गोपुर थे। नगर के तट को चार प्रवेश द्वार थे। पूर्व का द्वार प्रमुख था। नगर के मध्य में राजप्रासाद एवं अमात्य, श्रेष्ठी, शासन के अधिकारी इन के भवन थे। चम्पापुर में आठ मन्दिर थे जिस में शिवमन्दिर प्रमुख और भव्य था। त्रा-किऊ के पास इस प्राचीन राजधानी के कुछ अवशेष विद्यमान है।

भारत के साहसी सपूत प्राचीन काल में जलमार्ग से इन्डोनेशिया एवं इन्डोचीन में और सुदुर पूर्व कोरिया जपान से भी आगे, सुंद महाद्विपसमूह से आगे अमेरिका तक पहुँचे। जलमार्ग से गये साथ ही स्थलमार्ग से भी जाते रहे। बिहार एवं उत्तर प्रदेश के कतिपय विद्वान साहसी युवक, वणिक् श्रेष्ठी (वेपारी), कलाकार मणिपूर से आगे वर्तमान म्यॉमा में गये इरावती और सालविन् नदी के घाटी में उन्होनें भारतीय उपनिवेश स्थापित किये। वहाँ से मा गँगा (मेकांग) नदी के घाटी का परिसर भी व्याप्त कर के वे चीन में गये। दक्षिण चीन में उन्होने गान्धार नामक उपनिवेष स्थापित किया। स्वाभाविकतः वहाँ से माँ गंगा घाटी के पूर्व में वर्तमान विएतनाम में भी वे पहुँचे। कम्बोडिया (कम्बुज) और विएतनाम (चम्पा) में इस प्रकार जलमार्ग और स्थलमार्ग दोनो मार्ग से भारतीयों का आवागमन दिखाई देता है।

भारतीय सुपुत्रों के लिये आव्हान!

इस आवागमन के साथ एक आव्हान जुडा हुआ था। दक्षिण चीन, माँ गँगा की घाटी, अनाम इन सारे भूप्रदेश में जो जनजातियाँ थी वे असभ्य, क्रूर, असंस्कृत थी। चीनी बखर में उन का वर्णन किया है। वे न खेती करना जानते थे, न नगर वसाना। मछली पकडना और शिकार करना यही उन का उद्योग था। महान् चीनी साम्राज्य के लिये भी ये जनजातियाँ भयंकर संकट थी। चीनी प्रदेश में घूँसना, शासकीय अधिकारियों को मारना, लूट करना ये उन की गतिविधियाँ

थी। दो दो हजार की संख्या में वे आक्रमण करते रहते थे। सैंकडो चीनीओं का कत्तल करते थे।

चीनी संस्कृति प्राचीन मानी जाती है परन्तु अपने सीमावर्ति प्रदेशों के जातियों को वे सुसंस्कृत नही बना सके। भिन्न भिन्न वंश, उन की प्रागैतिहासिक श्रध्दाएँ एवं व्यवहार, अलग अलग भाषाएँ, क्रूर स्वभाव और निसर्ग से जुडा हुआ मुक्त जीवन....ऐसी जनजातियों को सुसंस्कृत बनाने का उत्तरदायित्व भारत को ही लेना पडा।

यह आव्हान था। भारत के सुपुत्रों ने उसी स्वीकार किया। कौण्डिन्य कम्बुज में पहुँचा, उस से भी पूर्व, लगभग २२०० वर्ष पूर्व दक्षिण चीन में भारतीय उपनिवेश का निर्माण हो चुका था। युन्नान (नान चाओ-दक्षिण चीन) के नरेश 'महाराज' पदवी धारण करते थे। शिवोपासक थे। क्वचित् संस्कृत आचार्यों के आश्रम प्रारंभ हो रहे थे। बौध्द भिक्षुओं के प्रवास हो रहे थे। कभी राजा का झुकाव चीन की ओर दिखाई दिया तो आचार्य और भिक्षु सजग रहकर राजा का उचित मार्गदर्शन करते थे।

विएतनाम के चम और म्लेंछ।

विएतनाम में समाज दो जातियों में विभक्त था। जातियाँ वंश से एक ही थी। जिन्होने भारतीय संस्कृति का स्वीकार किया वे चम्पा के नामपर चम कहलाएँ परन्तु जो जंगली अवस्था को पसंद करते रहे उन को चम लोगों ने म्लेंछ, किरात नाम दिये।

कलियुगाब्द २८ (खि.पू.३) वी शती में चीन ने विशाल साम्राज्य खडा किया। टोंकिंग एवं उस के दक्षिण का चम लोगों का भूप्रदेश भी जीत कर 'न्हुत नाम' इस नये चीनी प्रान्त का निर्माण किया। टोंकिंग में भी चम प्रजा ही थी। स्वाभाविकतः एक ऐसा आन्दोलन खडा हुआ जो चम्पा नामक राष्ट्र के निर्माण की प्रक्रिया थी। श्री मार के नेतृत्त्व में चीन के साथ संघर्ष हुआ जिस में चम सेना ने चीन को बुरी तरह पराजित किया। उन के दुर्ग ध्वस्त किये। चीन को चम्पा राज्य का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार करना पडा।

धर्ममहाराज श्री भद्रवर्मा - कलियुगाब्द ३४८२-३५१५ (खि.३८०-४१३)

चीन के साथ संघर्ष श्री मार के पश्चात भी चलते रहे। लगभग दो सौ वर्ष के कडे संघर्ष के बाद चीन ने न्हुतनाम फिर से जीत लिया। चीनी सेना चम्पापूर के प्राचीर तक पहुँची। चम्पा को अपमानजन्य संधि करनी पडी। ऐसे समयपर भद्रवर्मा अपने पिता के मृत्यु के पश्चात् सिंहासन पर आरूढ हुआ। सेनादल सुसंघटित कर के प्रतिशोध की तैयारी की। स्थल सेना की सहाय्यता के लिये नौ दल का निर्माण किया। हनोई में चीनी शासन का केन्द्र था। चीनी शासक ने भद्रवर्मा की गति अवरूध्द करने का प्रयास किया परन्तु भद्रवर्मा के सम्मुख चीनी सेना के पाँव उखड गये।

भद्रवर्मा ने थान होआ तक पीछा कर के चीन को उस की सीमा में धकेल दिया।

भद्रवर्मा ने चम्पापूर के निकट मायसोन में भव्य शिवमन्दिर का निर्माण किया। यह स्थान तीन पर्वतों की कोख में है। एक ओर से नदी का कल कल करता हुआ प्रवाह है। यह भद्रेश्वरस्वामी के मन्दिर का निर्माण चम्पा देश के लिये महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय उपलब्धि सिध्द हुई। समाज की व्यवस्थामें, युध्द के सङ्कट में, दैनन्दिन जनजीवन में यह मन्दिर बारह सौ साल तक प्रेरणा का स्त्रोत रहा। भद्रवर्मा ने अपने नाम पर भगवान शिव को भद्रेश्वर स्वामी नाम दिया। बाद में अन्य राजाओं ने भी ऐसेही अपने नाम पर मन्दिरों का निर्माण किया। मन्दिर चम्पा के सांस्कृतिक केन्द्र होते थे। मन्दिर का सूक्ष्म अवलोकन करे तो यही प्रतीत होता है।

भद्रेश्वरस्वामी मन्दिर!

मायसोन तो एक अद्भुत मन्दिरों की नगरी थी। आज वह घने जंगल के बीच छुपे हुए खण्डहरों में परिवर्तित हो गयी है। मन्दिरों के १२ समूह यहाँ पर खडे है। मन्दिर भगवान शिव के है। दूर से इस मन्दिर-नगरी के खण्डहरों का दर्शन बडा रोमाञ्चकारी है।

पर्वतों की पार्श्वभूमि पर बढी हुई वनस्पतियों और घास में से झाँकते हुए काले-लाल पाषाण और फीके लाल शिखरों के मन्दिर दिखाई देते है। प्रथम दिखता है इस प्राचीन स्वप्ननगरी का परकोटा जिस की केवल पाँच छेः फूट उँचाई की लम्बी दीवार दृष्टि को दूर तक खींचती जाती है। इंटे यहाँ वहाँ उखडी हुई है।

कभी अतिभव्य प्रवेशद्वार का मण्डप था। अव तोरण तो रहा नही। दो प्रवेशद्वार थे जिस के उध्वस्त अवशेष दिखाई पडते है। अन्दर प्रवेश करते ही २५०० फूट लम्बा मार्ग है। मार्ग के दोनो बाजू में खण्डहर के रूप में कितनेही मन्दिरों के केवल अधिष्ठान बचे है। जहाँ मार्ग समाप्त होता है वहाँ एकदम भूमितल से ऊपर उठते हुए मन्दिरों का समूह दृश्य होता है।

१००० फूट लंबा और ८०० फूट चौडा आयताकार अधिष्ठान अधिष्ठान के मध्य में भारतीय द्रविड रचना पध्दति के उँचे शिखर से मण्डित मन्दिर खडा हो जाता है। प्रवेश द्वार, मण्डप, सभागृह, अन्तराल और फिर गर्भगृह...शुध्द भारतीय शैली का ही यह मन्दिर था। गर्भगृह में भगवान शिव लिङ्गस्वरूप में आज भी विराजमान है। शिवालिङ्ग के पास ही जरा बाई ओर देखे तो मन प्रसन्नता से खिल उठता है। श्री गणेश जी का दर्शन होता है। शुण्ड सीधा भूमि की ओर खडा कर रखा है। नटखट मुद्रा लिये खडे हैं। मानो कह रहे हों "माताजी है भारत में कैलास पर..देखो पिता जी (भगवान शंकर) कैसे विकल हुए है..."। चार में से एक हाथ में पात्र है...खाली दिखता है...मोदक खा लिये लगता है...कन्धे से कटि तक नाग का

यज्ञोपवीत है...पीताम्वर धारण किये है...फिसले नही, इस हेतु कटिबन्ध कसा है महाशय जीने।

विनायक के साथ वडे भाई स्कन्द भी दिखाई दे रहे है...अपने मयुर वाहन पर खडे है। शिव तो परिवार देवता हैं। कदाचित् यही कारण होगा कि मातृभूमि से दूर...सप्त सागरों के पार द्वीपान्तर जानेवाले भारतीय अपने साथ परम मङ्गल भगवान शिव को लेकर गये।

मन्दिर के परिक्रमा मार्ग पर चलते ही सारे देवताओं के दर्शन का भाग्य प्राप्त होता है। सप्त अश्वों के एकचक्री रथ पर आरूढ सूर्य देव है। चारों दिशाओं को अपनी आँखो से निहारते चतुर्मुख ब्रहमा है। वायु देव है। कतिपय देवताओं के स्थान (देव प्रकोष्ठ) रिक्त भी दिखाई देंगे। उन का निवास वहाँ के पुरातत्व संग्रहालय में हो गया है।

यहाँ पर एक मूर्ति दिखाई देगी 'कुबेर' की। चम्पा में कुबेर की आँखे पीली होती है। चम्पा के रामायण में उस के सम्बन्ध में एक रोचक कथा है।

"एक बार कुबेर अपने पुष्पक विमान से टहलने निकले। बडे ठाठ से कैलास का धवल शिखर पार करते हुए जा रहे थे। प्रातःकाल का समय था। सूर्य के सुनहरे किरण बर्फिले शिखरोंपर फैले हुए थे। उसी समय आदिमाया पार्वती भगवान शिव की पूजा के लिये फूल चुनने चल पडी थी। पहले ही हिमकन्या...फिर सहस्त्ररश्मि की प्रातःकाल की कोमल धूप में त्रिभुवन सुंदरी का रूप और ही खिल उठा था। कुबेर ने उस की तरफ देखा मात्र...बुध्दिमान और विचारी होते हुए भी महाशय विकारग्रस्त हुए। सोचते सोचते उन का विमान उतर गया और वह तृषार्त दृष्टि से पार्वती की ओर देखने लगे। कोइ आश्चर्य की बात नही। इतना बडा देवराज इन्द्र पर अहल्या को देख उस का भी संयम छूट गया था न! कुबेर तो समग्र ऐहिक सुखों का देवता। उस का संयम छूटा तो कोई आश्चर्य नही।

कुबेर ने आदिमाया की ओर दृष्टि क्षेप किया मात्र...अकस्मात उस की आँखे धधक उठी...जलने लगी...सुन्दर नेत्र एकाएक पीले-भुरे पड गये। चम्पा देश के कुबेर की आँखे पीली है। उन के उपासकों का पंथ भी पिङ्गल पंथ कहलाता है। कुबेर की एक आँख तो चली गयी।वह एकाक्ष हो गया। चम्पा के बौध्द धर्म में एक पंथ है एकाक्ष पिङ्गल पंथ।

यही मन्दिर है "श्री भद्रेश्वर स्वामी" का, जिस का निर्माण राजा भद्रवर्मा ने किया था। कुछ वर्षोंबाद लुटेरों ने मन्दिर लूट कर जला दिया। उस समय राजा शम्भुवर्मा था। उस ने लुटेरों को तो पकडकर दण्ड दिया ही। फिर मन्दिर का भी जीणोध्दार किया। नये मुखलिङ्ग की स्थापना की। अब मन्दिर 'शम्भुभद्रेश्वर' का मन्दिर कहलाने लगा। कलियुगाब्द ४२ वी (खि. ११) शती में यही मन्दिर श्रीशान भद्रेश्वर का हुआ। जिन राजाओं ने अपने कार्यकाल में मन्दिर का

उध्दार किया...या उसी परिसर में नये मन्दिरों का निर्माण किया उन राजाओं के नामपर 'भगवान शिव' का नाम विख्यात होता रहा। भद्रेश्वर, शम्भु भद्रेश्वर, इन्द्र भद्रेश्वर, विक्रान्त रूद्रेश्वर, जय गुहेश्वर, हरिवर्मेश्वर, जयइन्द्रलोकेश्वर ऐसे कितने ही नामों से 'भद्रेश्वर स्वामी' प्रसिध्द थे। नाम वदलते रहे, परन्तु 'भद्रेश्वर स्वामी' देवता का स्थान चम्पा के राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक जीवन में नित्य प्रेरणा का और राष्ट्र का संरक्षक देवता का रहा।

भद्रेश्वर स्वामी के प्रमुख मन्दिर के दोनो ओर तीन तीन और छोटे मन्दिर है। प्रमुख अधिष्ठान पर ही प्रत्येक मन्दिर एक स्वतंत्र चौकोर अधिष्ठान पर खडा है। मायसोन का परिसर पर्वतों की अर्धवर्तुलाकार श्रृङ्खला से घिरा हुआ है। और लगभग वारह तेरह मन्दिर समूह है। चम्पा नरेशों के ३५ से अधिक संस्कृत अभिलेख यहाँ पर प्राप्त हुए है।

गंगाराज का वंश -

कलियुगाब्द ३५१५ (खि.४१३) में अपने पिता के मृत्यु के पश्चात् भद्रवर्मा का पुत्र गंगाराज सिंहासन पर अभिषिक्त हुआ। राजा प्रकाशधर्म के अभिलेख में उस की जानकारी प्राप्त होती है। ''गंगाराज इति श्रुतो नृपगणोप्रख्यातवीर्य्यश्रुतिः'' इस प्रकार के वर्णन के साथ आगे कहा है कि वह अपने भतीजे को राज्य सौंप कर जान्हवी के तट पर जा वसा। चम्पा के राजाओं को अपने पुण्यभूमि का स्मरण होता रहता था। भारत में जा कर पवित्र गंगा के तटपर निवास करने की तीव्र कामना अंतःकरण में रहती थी। गंगाराज इस का प्रत्यक्ष उदाहरण है।

चम्पा को चीन के साथ नित्य संघर्ष करना पडता था। चम्पा के राजा चीनी सम्राट के पास वहुमूल्य उपहार लेकर राजदूतों को भेजते रहते थे, कभी इसमें कमी हुई तो संघर्ष खडा हो जाता था। कलियुगाध्द ३७०७ (खि.६०५) में शम्भुवर्मा के काल में चीन ने आक्रमण कर के चम्पा नगरी का विध्वंस किया। सैंकडो चम्पावासियों को वन्दी बनाया। सुवर्ण और सम्पत्ति के साथ १३५० बौध्द ग्रंथ भी चीनी सेनापती अपने साथ ले गया।

शम्भुवर्मा ने फिर चीन के साथ मित्रता के सम्बन्ध रखने का प्रयास किया। भद्रेश्वरस्वामी के मन्दिर का भी विध्वंस हुआ था। पुनर्निर्मित मन्दिर शम्भुभद्रेश्वर नाम से प्रतिष्ठापित हुआ। शम्भुवर्मा के अभिलेख में इस संदर्भ में कहा है,

> सृष्टं येन त्रितयमखिलं भूर्भुवःस्वःस्वशक्त्या
> येनोत्खातं भुवनदुरितं वन्हिनेवान्धकारम् ।
> यस्याचिन्त्यो जगति महिमा यस्य नादिर्नचान्तश्
> चम्पा देशे जनयतु सुखं शम्भुभद्रेश्वरोऽयम् ।।

(''जिसने भू, भुवः एवं स्वः (त्रिलोक) का निर्माण किया, अग्नि प्रकट होते ही अंधःकार

नष्ट होता है वैसे जिस के कारण समस्त जगत् के पापों का नाश हुआ, जिसकी महिमा अपरंपार है...जो अनादि और अनन्त है, वह श्री शम्भुभद्रेश्वर चम्पा देश में सुखसमृध्दि की कृपा करें।")

शम्भुवर्मा के पश्चात् उस का पुत्र कन्दर्पधर्मा कलियुगाब्द ३७३१ (खि.६२९) में राजा बना। वह बडा धर्मात्मा था। प्रजा का अपनी सन्तान के समान पालन करता था। मायसोन अधिलेख में शम्भुवर्मा के साथ कन्दर्पधर्मा की भी प्रशंसा की है।

यस्सूनुरौरसो राजा प्रादुरासीन्महायशाः।
श्रीमान् कन्दर्पधर्मेति साक्षाध्दर्म इवापरः।।
प्रजा यस्स्वैधर्मैर्व्यसनरहितः पाति सुतवत् ।
न तत्रास्त्याशा मे कलिरिति समुत्सेकविमुखः।।

("कन्दर्पधर्म साक्षात् धर्म का ही अवतार था। "यह इन्द्रियजयी राजा तो प्रजा का सन्तानवत् पालन करता है...मुझे यहाँ कोई आशा नही है" यह सोचकर कलि न जाने कहाँ भाग गया।")

कन्दर्पधर्मा के पश्चात् चम्पा में सिंहासन के लिये आपसी संघर्ष हुए। गृहयुध्द मानो एक भयङ्कर श्राप बन गया। प्रभासधर्मा, सत्यकौशिक स्वामी, प्रकाश धर्म विक्रान्तवर्मा, नरवाहन वर्मा ऐसे कतिपय राजा हो गये। गंगाराज के वंश में रूद्रवर्मा (द्वितीय) अन्तिम शासक हुआ।

पाण्डुरङ्ग वंश -

रूद्रवर्मा के शासनकाल तक चम्पा राज्य का केन्द्र अमरावती अर्थात् वर्तमान क्वांग नाम में था परन्तु रूद्रवर्मा के पश्चात् चम्पा के दक्षिण भाग में पाण्डुरंग (वर्तमान फनरंग) नामक स्थान पर एक नये प्रभावी राजवंश का उदय हुआ। स्थलनाम के कारण यह राजकुल पाण्डुरङ्ग वंश कहलाया।

कलियुगाब्द ३९०३ (खि.८०१) के अभिलेख में इस वंश का प्रथम राजा पृथ्वीन्द्रवर्मा को सम्पूर्ण चम्पा, राज्य का स्वामी कहा है।

"श्रीमान् नरेन्द्रः पृथिवीन्द्रवर्मा
ख्याप्तस्स्व वंशैर्ज्जगति प्रभावैः।
ह्यस्तीति लोके स भुनक्ति भूमिं
शक्त्याच निर्ज्जित्य रिपून् हि सर्वान् ।।"

सब शत्रुओं को जीतकर अपने शक्ति द्वारा उस ने चम्पा का राज्य प्राप्त किया। उस के राज्य में सुभिक्ष था, समृध्दि एवं सम्पन्नता थी। कलियुगाब्द ३८७६ (खि.७७४) में उस के मृत्यु के पश्चात् उस का भागिनेय (बहिन का पुत्र) सत्यवर्मा सिंहासन पर आरूढ हुआ।

इस काल में यवद्वीप (जावा-इंडोनिशिया) में शैलेन्द्र सत्ता का उदय हुआ था। कम्वुज साम्राज्य के नरेश भी चम्पा को अपनी सत्ता के अधीन करना चाहते थे।सत्यवर्मा के समय कौठार प्रदेश में एक सुन्दर शिवमन्दिर था। न्हा त्रांग के पास एक ग्राम में नैसर्गिक पहाडी पर यह मन्दिर था। इसे ही 'पो नगर' कहा जाता है। सागर के तट पर यह पहाडी है। चम्पा के विख्यात प्राचीन मन्दिरों में यहाँ का मन्दिरसमूह भी प्रसिध्द था। दक्षिणोत्तर दो पंक्तिओं में छः मन्दिर हैं। मुख्य मन्दिर में 'उमा' की मूर्ति थी। २७ से अधिक अभिलेख यहाँ प्राप्त हुए है।

कौठार के इसी क्षेत्र में जनश्रुति के अनुसार राजा विचित्रसगर द्वारा शिवमन्दिर का निर्माण हुआ था और उसने मुखलिङ्ग प्रतिष्ठापित किया था। पोनगर अभिलेख से ज्ञात होता है कि जलमार्ग से आये असुरसमान लुटेरों ने मन्दिर पर आक्रमण किया। वहाँ की सम्पत्ति और साथ में मुखलिङ्ग भी लूट कर ले गये। सत्यवर्मा ने अपने नौदल के साथ उन का पीछा किया। लुटेरों को मौत के घाट उतारा परन्तु मुखलिङ्ग और मन्दिर की सम्पत्ति लुटेरों ने समुद्र में फेंक दी थी। वापस आने के वाद सत्यवर्मा ने नये मन्दिर का निर्माण किया और श्री सत्य मुख लिङ्ग की स्थापना की। उस के साथ दुर्गा और गणेश की मूर्तियाँ भी स्थापित की।

सत्यवर्मा के पश्चात् उस का भाई इन्द्रवर्मा (कलियुगाब्द ३८८७ से ३९०३ खि.७८५ से ८०१) राजा हुआ। सत्यवर्मा व्दारा वने मन्दिर में उस ने भी इन्द्र भद्रेश्वर शिव की प्रतिष्ठापना की। इस मन्दिर के लिये उस ने रजत, सुवर्ण, मुकुट, रत्नहार, दास-दासी, गाय भैंस और खेत आदि प्रचुर परिमाण में प्रदान किये।

'इन्द्रभद्रेश्वरस्यैव सर्व द्रव्यं महीतले' अर्थात् पृथ्वी पर जो भी द्रव्य है-सब भगवान् इन्द्रभद्रेश्वर के है यही राजा की भावना थी। याङ् तिकुह अभिलेख में और एक जानकारी प्राप्त होती है। कलियुगाब्द ३८८९ (खि.७८७) में जावा ने जलमार्ग से आक्रमण कर के 'भद्राधिपतीश्वर' के मन्दिर का विध्वंस किया। इन्द्रवर्माने उस का पुनर्निमाण किया और वह मुखलिङ्ग इन्द्रभद्रेश्वर के नाम से विख्यात हुआ। उसी अभिलेख में इन्द्रवर्मा की प्रशंसा की हुई है। उस में उसे राजेन्द्रवर्मा कहा है।

''यज्ञ कर्ताओं में श्रेष्ठ, पृथ्वी पर साक्षात् इन्द्र, पौर्णिमा के चन्द्र समान निर्मल शुध्द, व्रहमक्षत्रिय वंशी मनु समान पृथ्वी पर शासन करने वाला इन्द्रवर्मा''

(श्रीमान् राजेन्द्रवर्मा वरजनमहितो यज्ञरत्नप्रमुख्यः
ख्यातस्तेषां प्रभावैर्मनुरिव जगतो रक्षणे क्षेमयुक्तः।
ब्रह्मक्षत्रप्रधानो जगति दिवि यथा यज्ञभागैर्महेन्द्रो
राज्ये वंशप्रतीतस्सरुचिरिवशशी निर्मलाकाश देशे।।)

इन्द्रवर्मा के पश्चात् हरिवर्मा और विक्रान्तवर्मा का शासन था। विक्रान्तवर्मा के पश्चात् पाण्डुरङ्ग वंश का अस्त हुआ।

इन्द्रवर्मा द्वितीय -

अभिलेख के अनुसार इन्द्रवर्मा द्वितीय भृगु वंशी था। और एक छोटे भूभाग का स्वामी था। अपने पराक्रम से वह चम्पा का राजा बन गया। जब राजा हुआ तब वह श्री लक्ष्मीचन्द्र भूमीश्वर ग्रामस्वामी कहलाता था। अभिषिक्त होने के बाद 'श्री जयइन्द्रवर्मा महाराजाधिराज' कहा जाने लगा। उस के अनेक अभिलेख प्राप्त हुए है।

इन्द्रवर्मा ने प्राचीन चम्पापूर के निकट इन्द्रपूर नामक नयी राजधानी वसायी। इन्द्रवर्मा ने बौध्द धर्म को स्वीकार किया था। इन्द्रपुर में उस ने विशाल मन्दिर एवं विहार का निर्माण किया। इन्द्रवर्मा निर्मित विहार के अवशेष लगभग २००० फूट लम्बे और ५०० फूट चौडे क्षेत्र में फैले हुए आज दिखाई देते है । दाँग दुओंग याने इन्द्रपूर के इन खण्डहरों में ही प्राप्त अभिलेख में इन्द्रवर्मा ने घोषित किया है...

इमञ्च परमं लोके बुध्दसन्तानजं वरम् ।
अहं लोकेश्वरं कर्तु जगतां स्यां विमुक्तये।।

(भगवान् बुध्द की परम्परा में अवतीर्ण लोकेश्वर की प्रतिष्ठापना, जगत् के प्राणिमात्र के मुक्ति के लिये मैं ने की है।)

इन्द्रपुर का यह विहार अति विशाल था। लगभग ९०० फूट लम्बे और ८०० फूट चौडे पाँच फूट उँचे अधिष्ठान पर विहार का निर्माण हुआ था। मध्य में विहार और बाजू में स्तूप खडे हैं। विहार में प्रवेश करते ही सम्मुख स्तूप दिखाई देता है। इन्द्रवर्मा राजा महायान पंथी था। स्तूप पर भगवान-बुध्द की सुन्दर मूर्ति है।

बध्दपद्मासन पर आसीन महात्मा गौतमबुध्द...अर्धोन्मीलित नेत्र...मुखपर अतीव शान्त...सात्विक भाव...दक्षिण हस्त की अभय मुद्रा...बाया हाथ धर्मचक्रप्रवर्तन का सङ्केत करता हुआ। स्तूप के चतुर्दिक प्रदक्षिणा मार्ग पर चलने लगे कि गौतम की समग्र जीवनलीला शिल्प में दृग्गोचर होती है।

महाभिनिष्क्रमण...रूपवती भार्या और सुकुमार पुत्र का त्याग कर राजपुत्र सिध्दार्थ राजभवन से निकल रहे है...संसार की माया का त्याग करने का अपूर्व साहस और कठोर निश्चय सिध्दार्थ की मुद्रा पर यथावत् प्रकट हुआ है। उन के घोड़े कंठक को देखिये...अपने स्वामी के कठोर निश्चय से स्वामिनी की होनेवाली वञ्चना का अपार कष्ट उस मूक प्राणी की मुद्रा पर भी दृश्यमान है।

सिध्दार्थ के जीवन के कितनेही दृश्य...पाषाणों में उत्कीर्ण किये हुए पर ढाई सहस्त्र वर्ष पूर्व के प्रसङ्ग मानो जीवित हो उठते हैं। राजपुत्र सिध्दार्थ राजधानी के राजमार्ग से जा रहे है असंख्य स्त्री पुरूष राजमार्ग पर खडे है। उस समूह में एक प्रौढा रोती हुई दिखाई दे रही है। सिध्दार्थ तो आगे बढ रहे है। कठक गर्दन झुकाकर अपने स्वामी को पीठ पर ले जा रहा है। कठोर निश्चय में अविचल सिध्दार्थ शरीर से एक एक अलङ्कार और वस्त्र उतारकर जनसमूह में फेंक रहे है। प्रत्येक व्यक्ति दुखी है। सिध्दार्थ मानो सब का चैतन्य लिये जा रहे है।

मृगदावन में भगवान बुध्द ने पहला प्रवचन किया...यही था धर्मचक्रप्रवर्तन...शिल्प देखते देखते लगता है...सचमुच अमृतमय बुध्दवाणी साक्षात् सुनने का भाग्य प्राप्त होगा।

विहार के पास ही अन्य मन्दिर में भगवान बुध्द की एक अद्‌भुत मूर्ति है। कास्य मूर्ति है...साढेतीन फूट ऊँची है। भगवान बुध्द खडे हैं। कन्धेपर झीना उत्तरीय है...जो पैरोतक आया है। घुँघराले बाल...तेजस्वी और आश्वस्त हास्यमुद्रा...दक्षिण हस्त की अभय मुद्रा और वाम हस्त धर्म चक्रप्रवर्तन मुद्रा में...क्षणभर भ्रम हो जाता है...अभी चल पडेंगे।

राजा इन्द्रवर्मा महायान बौध्द पंथी होने के साथ शैवोपासक भी था। इन्द्रपूर में ही एक 'भाग्यकान्तेश्वर' मन्दिर था और शिवभक्त होने के नाते उसने उस मन्दिर को भी प्रचुर मात्रा में दान दिया था। वस्तुतः भारत के बाहर जो भारतीय गये वे अपने साथ भारतीय संस्कृति का सर्वसमावेशक भाव लेकर गये। "एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति" इस का मर्म वे जानते थे। इन्द्रवर्मा के इन्द्रपुर में प्राप्त अभिलेख में इसी भावना की अभिव्यक्ति प्रकट हुई है। अभिलेख में कहा है,

क्वचिदपि बलभिज्जो ब्रह्मजो विष्णुजश्च।
क्वचिदपि भुजगेन्द्रश्शङ्करश्च क्वचिद् वा।
क्वचिदृषिरविचन्द्रो पाम्पतिर्वन्हिरूपः।
क्वचिदभयदबिम्बस्सत्वमोक्षाद् बभूव।।

("कही पर इन्द्र, ब्रहमा और विष्णु, कही पर वासुकि तो कही पर शङ्कर कही पर ऋषि तो अन्यत्र कही सूर्य, चन्द्र, वरूण या अग्नि और कही पर बुध्द...सभी प्राणिमात्र की मुक्ति के लिये अवतार धारण करते हैं")

कदाचित् इसी कारण मायसोन हो या इन्द्रपूर हो या 'पो नगर' भगवान शङ्कर, दुर्गा, ब्रह्मा, कुबेर, गणेश स्कंन्द, अवलोकितेश्वर, विष्णु, लक्ष्मी...सब देवताएँ यहाँ के मन्दिरों में निवास करते है।

भृग वंश में इन्द्रवर्मा के पश्चात् जयसिंहवर्मा, भद्रवर्मा और इन्द्रवर्मा तृतीय इन्हो ने शासन किया। सब ने चीन के साथ अच्छे सम्बन्ध रखे। अन्य राज्यों के राजदूत भी चम्पा में

आते रहे। उन के लिये अभिलेख में ''देशान्तरागत महीपतिदूतसंघ'' इस प्रकार का उल्लेख है। इन्द्रवर्मा तृतीय अत्यन्त विद्वान था। 'पो नगर' के अभिलेख में उसे षड्दर्शन, व्याकरण, कोश, आख्यान, शैव आगम और बौध्द दर्शन आदि का मर्मज्ञ विद्वान् कहा गया है।

उस के काल में कम्बुज सेना ने चम्पा पर आक्रमण कर दिया। चम्पा को पराजय का सामना करना पडा। कलियुगाब्द ३९७४ (खि.८७२) में उस की मृत्यु हुई।

जय परमेश्वर वर्मा - कलियुगाब्द ४१५२ (खि.१०५०)

इन्द्रवमी तृतीय के पश्चात् चम्पा को अनाम् के आक्रमण से भारी क्षति पहुँची। राजधानी बदलनी पडी। चम्पापुर, इन्द्रपुर जैसे नगरों का अनाम की सेनाओं ने विध्वंस किया। चीन ऐसे समय पर तटस्थ रहा और कम्बुज सेनाने भी चम्पा की स्थिति का लाभ उठा कर सीमा पर आक्रमण किये। परमेश्वरवर्मा, इन्द्रवर्मा चतुर्थ, विजयश्री हरिवर्मा, विक्रान्तवर्मा, और जयसिंहवर्मा इन राजाओं का कालखण्ड सङ्कटों से भरा हुआ था। चम्पा ने स्वातंत्र्य खो दिया था। अनेक सामन्त भी स्वतन्त्र हुए थे। इन्द्रपुर (दोंग दुओंग) और विजय (बिन्ह दिन्ह) की केन्द्रिय राजशक्ति सर्वथा निस्तेज हो गयी थी।

ऐसे समय पर पुराने भृगु वंश से सम्बन्धित कर्तृत्वशाली पुरूष 'जय परमेश्वरवर्मा' सिंहासन पर आरूढ हो गया। उस ने चम्पा में फिर से शान्ति एवं व्यवस्था स्थापित की। विद्रोह कर के स्वतन्त्रता घोषित करने वालों में प्रमुख था पाण्डुरङ्ग का सामन्त राजा। जयपरमेश्वर वर्मा ने स्वयं इस समय सेना सञ्चलन कर के युध्द किया। युवराज महासेनापति और देवराज महासेनापति ये दो और सेनापति नियुक्त किये गये।

अत्यंत कठोरता से पाण्डुरङ्ग का सामन्त और उस का साथ करने वाली प्रजा को दण्ड देकर अन्य भी विद्रोही सामन्तों का दमन किया गया। फिर युवराज महासेनापति के नेतृत्व में चम्पा की सेना ने कम्बुज पर आक्रमण कर दिया। कम्बुज नरेश उदयादित्य को परास्त कर के उस की राजधानी शम्भुपूर उध्वस्त की गयी। अनाम और चीन में राजदूत और बहुमूल्य उपहार भेज कर जय परमेश्वरवर्मा ने उन के साथ मित्रता पूर्ण व्यवहार रखा।

पाण्डुरंग प्रदेश का विद्रोह दमन करने के बाद महासेनापति युवराज ने वहाँ पर शिवमन्दिर का निर्माण किया। साथ ही जयपरमेश्वरवर्मा ने विजयस्तम्भ खडा किया।

प्रतापी राजाओं की अखण्ड मालिका -

चम्पा देश सातत्य से संघर्षरत राष्ट्र था। एक तो चीनी साम्राज्य के अंतर्गत परन्तु स्वायत्त अनाम एवं टोंकिंग चम्पा के उत्तर में शत्रुराष्ट्र ही थे। अनाम को तो चम्पा की बढती शक्ति का भय रहता था। चम्पा की सीमाएँ पश्चिम में कम्बुज साम्राज्य से जुडी हुई थी। महत्वाकांक्षी कम्बुज सम्राट चम्पा को हमेशा अपने अधीन रखना चाहते थे।

चम्पा देश का भाग्य रहा कि प्रतापी राजाओं की अखण्ड मालिका चम्पा में निर्माण होती रही। जयपरमेश्वरवर्मा के पश्चात्, रूद्रवर्मा, हरिवर्मा, जयइन्द्रवर्मा, हरिवर्मदेव ऐसे कतिपय प्रतापी राजा हो गये।

मंगोलो से संघर्ष -

कलियुगाब्द ४४ (खि.१३) वी शती में चीन के उत्तर में निवास करने वाली मंगोल जाति में एक नेता का प्रादुर्भाव हुआ, जिस का नाम चंगेज खाँ था। विविध मंगोल कवीलों को एक सूत्र में संघटित कर कुब्लाई खाँ ने चीन पर भी अधिपत्य स्थापन किया। कलियुगाब्द ४३८१(खि.१२७९) में वह सम्पूर्ण चीन का एकछत्री सम्राट वन गया।

अनाम और चम्पा के राजा पूर्व से ही चीन के सम्राटों के प्रति सम्मान का भाव रखते थे। परन्तु कुब्लाई खाँ उन को पूर्णतः अधीन करना चहता था। उस ने चम्पा में इस प्रयोजन से सन्देश भेजा और सगतू खाँ को अपना प्रतिनिधी नियुक्त किया।

चम्पा का युवराज हरिजित् यह नही सह सका कि कोई विदेशी व्यक्ति चम्पा के शासन में किसी भी प्रकार से हस्तक्षेप करें। हरिजित् के नेतृत्व में चम्पा की जनता सगतू खाँ के विरूध्द खडी हुई। सगतू खाँ को वापस जाना पडा। कुब्लाई खाँ ने पुनः उसी के नेतृत्व में शक्ति शाली सेना भेजी। समुद्र मार्ग से मंगोल सेनाने चम्पा में प्रवेश किया। हरिजित् ने वीरता पूर्वक सामना तो किया परन्तु चम्पा की सेना पराजित हुई। हरिजित् ने पर्वतों में जाकर आश्रय लिया और वहाँ से संघर्ष जारी रखा। कुब्लाई खाँ ने और १५००० की सेना स्थलमार्ग से भेजी परन्तु अनाम की सेना ने उस सेना को अनाम से जाने नही दिया। अनाम के प्रखर संघर्ष के कारण कुब्लाई खाँ की सेना परास्त हुई।

चम्पा का राजा था इन्द्रवर्मा। उसे मंगोलों के साथ संघर्ष करने का आत्मविश्वास नही था। हरिजित् के मना करनेपर भी इन्द्रवर्मा ने बहुत सी धनसम्पति लेकर कुब्लाई खाँ के पास अपने राजदूत भेज दिये। अव कुब्लाई खाँ ने चम्पा के साथ समझोता करना ही उचित समझा। कलियुगाब्द ४३८९ (खि.१२८७) मे इन्द्रवर्मा की मृत्यु हुई। हरिजित् राजा बन गया।

हरिजित का विवाह यवद्वीप (जावा) की राजकुमारी तापसी से हुआ था। हरिजित् अनाम की राजकुमारी परमेश्वरी से भी विवाह करना चाहता था। चम्पा के इतिहास में यह कैसी विडम्बना थी कि राणा प्रताप जैसे वीर हरिजित् ने अनाम की शर्ते मानकर अनामी राजकुमारी से विवाह किया। चम्पा के दो समृद्ध प्रान्त अनाम के स्वाधीन किये। विवाह के बाद दस वर्ष में ही उसकी मृत्यु हुई।

हरिजित् के पश्चात् अनाम के साथ संघर्ष छिड गया। चम्पा फिर संघटित एवं स्वतंत्र हुआ। परन्तु कलियुगाब्द ४५७१ (खि.१४६९) में अनाम के साथ अंतिम संघर्ष में हुई हार में चम्पा अनाम के अधीन हो गया। दक्षिण चम्पा में फिर भी लगभग तीन सौ वर्ष तक पाण्डुरंग प्रदेश के छोटे भूप्रदेश पर चम्पा के राजाओं का अधिकार था।

अन्तिम राजा था 'पो चोंग'। अनामी सेनाएँ इस छोटे प्रदेश में बार बार घुसती रहती थी। कलियुगाब्द ४९२४ (खि.१८२२) में पो चोंग ने कम्बुज में आश्रय लिया। चम्पा के प्राचीन भारतीय उपनिवेश की स्वतंन्त्र एवं पृथक सत्ता का पूर्णतः लोप हो गया। लगभग १८०० सौ वर्ष का चम्पा का अर्थात् वर्तमान उत्तर एवं दक्षिण विएतनाम का इतिहास भारतीय संस्कृति से जुडा हुआ है।

चम्पा का हिन्दु धर्म - एवं सस्कृति -

शासन -

धर्म, भाषा, वेशभूषा, खानपान, उत्सव, कुलपरम्परा, राजनीति, राजवंश और राजकीय व्यवहार, सामाजिक प्रथाएँ आदि सब दृष्टि से चम्पा का इतिहास सुदूर पूर्व के एक छोटे भारत का ही इतिहास प्रतीत होता है।

शासन की दृष्टि से तीन प्रांत थे।

१) अमरावती - वर्तमान क्वांग नाम प्रदेश को अमरावती नाम था। चम्पापूर और इन्द्रपूर (दोंग दुओंग) के खण्डहर वर्तमान त्रा-कीऊ के पास प्राप्त हुए है। मायसोन भी इसी प्रांत में है।

२) विजय - वर्तमान 'बिन्ह दिन्ह' प्रांत का नाम विजय था। यह नगर भी कुछ काल चम्पा की राजधानी रहा।

३) पाण्डुरङ्ग - चम्पा के इस दक्षिणी प्रांत का वर्तमान नाम है फनरंग। कौठार भी इसी प्रदेश के अन्तर्गत था। कौठार का वर्तमान नाम है खन्ह.होआ। इस में दो प्रमुख नगर और थे। एक था वीरपुर या राजपुर और दूसरा था सिंहपुर। सिंहपुर के अवशेष वर्तमान न्हा त्राङ् के पास प्राप्त हुए है।

तीन प्रांतों में मिलकर ३६ शासकीय विभाग (जिलें) थे। प्रांत की व्यवस्था के लिये राजवंश के ही व्यक्तिओं की नियुक्ति की जाती थी।

राजा को दैवी अंश माना जाता था। और उस से अपेक्षा थी, कि वह प्रजा का पुत्रवत् पालन करे। राजा को परामर्श देने के लिये सभा की सत्ता थी। सङ्कट काल में यह सभा एवं विद्वान आचार्य मिलकर महत्त्वपूर्ण निर्णय करते थे।

चम्पा के अभिलेखों से राज्य के विधि (कानून) और दण्डप्रणालि की सूचना मिलती है।

मानव धर्म शास्त्र पर आधारित न्याय व्यवस्था थी। मनु, नारद और भार्गव की स्मृतियाँ प्रयोग में लायी जाती थी। स्मृति एवं शास्त्र के विद्वान-आचार्यों को न्यायाधीश के पद दिये जाते थे। अपराध सिध्द हो जाने पर अपराधी को कडा दण्ड दिया जाता था। राजा जयइन्द्रवर्मदेव के अभिलेख में उसको मनुद्वारा प्रतिपादित मार्ग का अनुसरण करनेवाला कहा है। वह सव धर्मशास्त्रों, विशेपतया नारदीय तथा भार्गवीय धर्मशास्त्रों में निष्णात था।दूसरे एक अभिलेख में राजा को शास्त्रज्ञ के साथ 'लोकधर्मवित्' कहा गया है। केवल स्मृति और शास्त्र द्वारा प्रतिपादित कानून को ही दृष्टि में नही रखा जाता था, अपितु लोकधर्म पर आधारित अर्थात् जनता में प्रचलित प्रथाओं को देख कर न्याय किया जाता था।

प्रमुख मंत्री, एवं सेनापति पद् महत्वपूर्ण था। युवराज के प्रशिक्षण के लिये भी स्वतंत्र अमात्य होता था। शासनतन्त्र में ऐसे राजपदाधिकारी विद्यमान थे जो राजनीति में निपुण थे। भद्रवर्मा का एक मंत्री जो परराष्ट्र व्यवहार सम्वंधी कार्य देखता था उस का वर्णन अभिलेख में आया है।

सर्वदेशान्तरायातभूभुक्सन्देशमागतं।
निरिक्ष्यैकक्षणं वेत्ति निश्शेपर्थमतीहया।

(सव देशों से राजाओं के जो सन्देश आते है, मन्त्री उसे देखकर एक क्षण में उन के सम्पूर्ण अभिप्राय को समझ लेता है।)

चीन, अनाम, कम्वुज, यवद्वीप आदि देशो में अत्यन्त चतुर एवं कार्यसाधक व्यक्तियों को राजदूत के रूप में भेजा जाता था। युवराज राजद्वार में ऐसे गुण थे। उस के वारे में अभिलेख का उल्लेख है,

यवद्वीपपुरं भूयःक्षितिपानुज्ञया सुधीः।
द्विवारमपि यो गत्वा सिध्दयात्रामुपागतम् ।।

(दो वार राजाज्ञा से वह यवद्वीप में राजकार्य के लिये गया और राजकार्य सिध्द कर के सफल हो कर लौटा) इस राजद्वार ने चार राजाओं के शासन काल में अनेक देशों में दौत्यकर्म सिध्द किया।

कम्बुज, अनाम, यवद्वीप आदि राज्यों के राजाओं से विवाह सम्बन्ध भी होते थे। व्राहमण और क्षत्रियों मे भी विवाहसम्बन्ध होते थे। भारत से आये हुए व्यक्ति का सम्मान होता था। विशेषतः भिक्षु आचार्य, पण्डित ऐसे व्यक्तिओं का सम्मान कर के उन्हे सर्व प्रकार की सुविधा देकर वे चम्पा में निवास करे इस का आग्रह रहता था।

भारत के प्रति अपार श्रध्दा का भाव था। चम्पा नरेश गंगाराज वानप्रस्थ लेकर भारत गया था और पवित्र गंगा के किनारे उस ने उर्वरित आयुष्य व्यतीत किया। व्रहमहत्या से बढकर कोई पाप नही

२६. शिव, चम्पा (विएतनाम)

२७. मायसोन, चम्पा (विएतनाम)

२८. मायसोन, चम्पा (विएतनाम)

और अश्वमेध से बढकर कोई पुण्य नही यह भावना अनेक अभिलेखो में व्यक्त हुई है।

चम्पा एक संघर्षरत राष्ट्र था। स्वाभाविकतः संरक्षण की दृष्टि से सेना संगठन पर विशेष ध्यान दिया जाता था। स्थल सेना में पदाति सेना, अश्वदल और गजदल तीन विभाग थे। विदेशी यात्री ने लिखा है कि चम्पा के राजा के पास १४०० पालतू हाथी थे। चम्पा की जल सेना भी शक्तिशाली थी। एक सौ नौकाएँ और पाँच सहस्त्र जलसेना किसी भी प्रसङ्गपर तुरन्त युध्दसज्ज स्थिति में रहती थी। सभी प्रमुख नगरों को तटबन्दी थी। पहाडों पर आवश्यकता नुसार दुर्ग निर्माण करना और शत्रु को दुर्ग के सहारे संत्रस्त करना चम्पा के संरक्षण सिध्दता का विशेष अङ्ग था।

चम्पा का प्रमुख धर्म-पौराणिक हिन्दु धर्म ही था। शैव सम्प्रदाय का अधिक प्रभाव था। वैष्णव सम्प्रदाय भी प्रचलित था। भद्रेश्वर स्वामिन् अर्थात् भगवान शिव के साथ अनेकविष्णु मन्दिरों का भी निर्माण हुआ। मायसोन में राजा प्रकाशधर्म ने विष्णु मन्दिर का निर्माण किया इसके सम्बन्ध में शिलालेख में कहा है,

(इदं भगवतः पुरूषोत्तमस्य विष्णोरनादिनिधनस्याशेष भुवनं गुरोः पूजास्थानं श्रीप्रकाशधर्मणा कारितं।।)

चम्पा के अभिलेखो में देवताओं की महिमा को जिस ढंग से वर्णित किया है वह पुराणों में प्रतिपादित गुण एवं कथाओं के पूर्णतया अनुरूप है।

चम्पा ने बौध्द धर्म का भी स्वीकार किया परन्तु उन के लिये सब पंथ, संप्रदाय उपासना के मार्ग मात्र थे। बुध्द, शिव, विष्णु सब देवताएँ उन के लिये एकसमान थी। उस में विरोध और अलगाव की किञ्चित भी भावना नही थी।

चम्पा की कला और चम्पा का साहित्य शत प्रतिशत भारतीय है। चम्पा के अभिलेख तो सीधा कवि कुलगुरू कालिदास की प्रतिभा से ही अपना नाता सिध्द करते है। प्रकाशधर्म विक्रान्तवर्मा के सम्बन्ध में अभिलेख कहता है,

"कहा जाता है कि समस्त सद्गुण एक ही व्यक्ति में नही पाये जाते। स्वयं सृष्टिनिर्माता ब्रह्मा भी उसके अपवाद नही। परन्तु राजा (प्रकाशधर्म) सभी सद्गुणोंसे युक्त है। वह तो महासागर के अथाह तल का बहुमूल्य रत्न है।"

"गुणानां साकल्यं भवति न किलैकत्रवशिनः।
किमाप्येवम् सृष्टेर्व्वरकमलयोनेर्भगवतो।
गुणा यत्राशेषा दधति तु पराध्यामितिरतिम् ।"
महार्हो रत्नो यो इव जलनिधौ दुस्तरजले।।

मलेशिया (मलयद्वीप)

सागर से घिरा हुआ द्वीप.... जहाँ सुवर्ण एवं रजत की खाने हैं ... वाम एवं दक्षिण वाजू में अनेक सागर फैले हुए है ... कल कल करती प्रवाहित नदियाँ तथा चन्दन वृक्षों से सुशोभित अरण्यों से मण्डित पर्वत है ... विविध म्लेञ्छ गणों का जहाँ निवास है, वही पर शोभा सम्पन्न मलय पर्वत है जो महामलय नामसे विख्यात है। इसी मलयद्वीप में दूसरा पुष्पफलों से सुशोभित रमणीय मन्दर पर्वत है। अनेक देवर्षि भी जहाँ निवास करते है।

यही पर, जिन्हे देव एवं असुर नमस्कार करते हैं, उनका, महर्षि अगस्ति का भवन है।

तथैव मलयद्वीपं एवमेव सुसंवृतम्। मणिरत्नाकरं स्फीतमाकरं कनकस्यच।।
आकरं चन्दनानाञ्च समुद्राणां तथाकरं। नानाम्लेंछगणाकीर्ण नदीपर्वतमण्डितम्।।
तत्र श्रीमांस्तु मलयः पर्वतो रजताकरः। महामलय इत्येवं विख्यातो वर पर्वतः।।
द्वितीयं मन्दरं नाम प्रथितंच सदाक्षितौ। नानापुष्पफलोपेतं रम्यं देवर्षिसेवितम् ।।
अगस्त्यभवनं तत्र देवासुर नमस्कृतम् ।। (वायुपुराण अ. ४८)

वायुपुराण मलयद्वीप का निःसंदिग्धतासे इतना सुन्दर परिपूर्ण वर्णन करता है। वर्तमान पश्चिम मलेशिया (मलाया द्वीपकल्प) ही प्राचीन मलयद्वीप है।

सुवर्णद्वीप

रामायण, महाभारत, पुराण आदि ग्रंथो में प्राचीन काल का भूगोल वर्णित है। कथासरितासागर द्वारा वर्णित कथाओं में भी भारत के निकटस्थ सागरसंवृत्त द्वीपों के कतिपय उल्लेख आते हैं। भारत के साहसी पुत्र जब सप्तसागर पार विभिन्न अज्ञात भूप्रदेशों में गये तव उनके इस साहसी पर्यटण को 'द्वीपान्तर' यह संज्ञा प्राप्त हुई।

भारत के दक्षिणपूर्व में सहस्त्रों द्वीप है। एक द्वीप से दूसरे द्वीपपर... वहाँ से फिर तीसरे द्वीप पर... फिर उस के भी आगे उत्तर दिशा में जापान तक और दक्षिणपूर्व में न्यू गिनी तक साहसी भारतीय नाविकों का प्रवाह बहता रहा। अत एव द्वीपान्तर संज्ञा सार्थ ही थी। इन सारे द्वीपों के लिये एक विशेषनाम प्रयुक्त हुआ। ये सारे द्वीप सुवर्णद्वीप के नाम से विख्यात हुए।

भूमि मार्ग से मणिपूर के पूर्व में ब्रह्मदेश (म्याँमा), श्याम (थायलँड), कम्बुज (कंबोडिया) एवं चम्पा (विएतनाम) इनके लिये 'सुवर्णभूमि' यह संज्ञा प्रचलित थी। इसके साथ ही- दक्षिणपूर्व

के सुमात्रा, मलाया, जावा, बोर्निओ, फिलिपाइन्स, सुलावेसी आदि सारे द्वीप भी सुवर्णद्वीप करके विख्यात थे। वाल्मिकीय रामायण में अनेक द्वीपों का उल्लेख हे।

यत्नवन्तो यवद्वीपं सप्तराज्योपशोभितम् ।।
सुवर्णरुप्यकद्वीपं सुवर्णकरमण्डितम् ।।

इसमें उल्लेखित यवद्वीप वर्तमान जावा (इन्डोनेशिया) है और सुवर्णरुप्यक द्वीप वर्तमान मलेशिया है। हरिवंश पुराण, रामायण मञ्जरी और सध्दर्मस्मृत्युपस्थानसूत्र में भी इन द्वीपों के उल्लेख हैं। रामायण में आगे और वर्णन हैं। सीता की खोज करने हेतु जो वानर पूर्व दिशा में जा रहे थे उनके लिये वानरराज सुग्रीव ने पूर्व दिशा में स्थित द्वीपों की सूचना देते हुए कहा,

यवद्वीपमतिक्रम्य शिशिरो नामपर्वतः।
दिवं स्पृशति शृङ्गेण देवदानव सेवितः।

(यवद्वीप पार करने के पश्चात् ऐसे द्वीप पर आप जाएंगे जहाँ शिशिर पर्वत है। शिशिर के उत्तुंग शिखर आकाश को स्पर्श करते है। देव तथा दानव इन शिखरों पर निवास करते है।)

जावा से आगे बाली द्वीप है। बाली में स्थित 'गुनुंग अनुंग' यह १०५६० फूट उँचा पर्वत है जो सम्भवतः सुग्रीव द्वारा सूचित शिशिर पर्वत है। यवद्वीप और बालीद्वीप के मध्यवर्ती सागर लाल चट्टानों के कारण लाल जलराशि का दृश्य उपस्थित करता हैं। इसी वास्तविकता को लेकर रामायण में कहा है, "ततो रक्तजलं प्राप्य शोणाख्यं शीघ्रवाहिनम्।"

शिशिर पर्वत के अनन्तर 'निषध पर्वत आता हैं। जो सम्भवतः बाली के पूर्ववर्ती लोम्बोक द्वीप पर स्थित वर्तमान माऊंट रिंजानी है।

आस्ट्रेलिया के उत्तर में 'पापुआ न्यू गिनी' हैं। न्यू गिनी का पश्चिमी भाग 'आर्यन जय' कहलाता है। आर्यन जय वर्तमान इन्डोनेशिया में समाविष्ट है। जयपूर उसकी राजधानी है। विश्व का द्वीप पर स्थित सबसे उँचा पर्वत 'आर्यन जय' में हैं। इस पेगुनुङन पर्वत के सर्वोच्च शिखर की उँचाई १६५०२ फूट है। यही 'जय' शिखर है।

विशाल प्रशान्त (पॅसिफिक) महासागर में उत्तर में हवाई द्वीप है और दक्षिण में आर्यन जय है। इस विशाल भयकारी सागर का वर्णन भी रामायण में है।

"अन्धतमस से आच्छन्न व अगम्य यह सागर, सूर्य एवं चन्द्रमा का प्रकाश भी इसे देखने में सहाय्यक नहीं होता।" उदित होता हुआ सूर्य सर्वप्रथम इसी भूखण्ड का संस्पर्श करता है। वाल्मीकि ने न्यूगिनी को ही उदयवर्ण द्वीप कहा है। 'जय' शिखरयुक्त पर्वत को लोकालोक पर्वत कहा है। इसके शिखरों पर ही सूर्य की किरणे सर्व प्रथम पडती हैं। यही से पृथ्वी का प्रारंभ होता है। यही पृथ्वी का प्रवेशद्वार ... पूर्वा दिक् है।

"पूर्वमेतत्कृतं द्वारं पृथिव्या भुवनस्य च।
सूर्यस्योदयनञ्चैव पूर्वा ह्येषा दिगुच्यते।।"

वायुपुराण भारत के दक्षिण में स्थित छः द्वीपों का वर्णन भी करता है। इन में मलयद्वीप भी है। मंजुश्री-मूल-कल्प में कर्मरङ्ग, नाडिकेर, वारुसक, वलि, यवद्विप और नग्नद्वीप का वर्णन है। ये सभी द्वीप दक्षिणपूर्व एशिया के ही हैं। कर्मरङ्ग का उल्लेख वाणभट्ट के हर्षचरित में भी आया है। यही युवान चांग द्वारा उल्लेखित कामलंका है जो मलाया प्रायद्वीप में है। नाडिकेर या नारिकेल द्वीप वर्तमान निकोवार द्वीप है। वारुसक अर्थात् वरुस सुमात्रा में है। वलिद्वीप वर्तमान वाली और यवद्वीप वर्तमान जावा है।

कथासरित्सागर के द्वीप

कथासरित्सागर में चन्द्रस्वामिन् नाम के एक व्यक्ति की कथा दी है। उसका पुत्र और छोटी वहन कही खो गये थे। वह उन की खोज में निकला। उसे ज्ञात हुआ कि कनकवर्मा नाम के एक व्यापारी ने उन्हे वचा लिया हैं और वे उसीके पास है। कनकवर्मा नारिकेल द्वीप में है यह पता लगनेपर चन्द्रस्वामी नारिकेल द्वीप पहुँचा। तव कनकवर्मा कटाह द्वीप जा चुका था। उसके पीछे चन्द्रस्वामि कटाह द्वीप और वहाँ से कर्पूरद्वीप गया। फिर जव वहाँ से सुवर्णद्वीप गया तब उसे कनकवर्मा और उसके साथ में उसका पुत्र और वहन मिले।

यह कथा समकालीन दिखाई देती है। जिस क्रम से दक्षिण पूर्व के इन सारे द्वीपों की यात्रा कनकवर्मा ने की उससे लगता है कि द्वीपान्तर कोई अपवादात्मक वात नही थी। कथासरित्सागर मूलतः गुणाढ्य पण्डित की बृहत्कथा है। गुणाढ्य दो सहस्त्र वर्ष पूर्व सातवाहन नृपति की राजसभा में था। सातवाहन केवल राजनीतिक नही तो व्यापारी सत्ता थी। उनके सिक्कें नौकाओं के चित्र से अंकित थे। तीनों सागरों पर उनकी सत्ता थी। अतः सातवाहन नृपति 'त्रि समुदतोयपीतवाहन' कहलाने में गौरव का अनुभव करते थे।

बृहत्कथा एक दृष्टि से लोक साहित्य है। सामान्य परिजन, साहसी नाविक, प्रवासी सार्थवाह (व्यापारी) इनके अनुभवों पर आधारित रोचक कथाएँ मानो वायु पर सँवार होकर दश दिशाओं में फैलती थी।

मलाया प्रायद्वीप में केदाह प्रान्त है। प्राचीन नाम था कटाह द्वीप। कथासरित्सागर में गुहसेन नामक सार्थवाह (साहसी व्यापारी) और उसकी पत्नी देवस्मिता की सुन्दर कथा है। गुहसेन द्रव्यप्राप्ति की अपेक्षा से कटाह द्वीप में जाता है। इधर ताम्रलिप्री में देवस्मिता अकेली रहती है। चार धूर्त व्यक्ति उसके अकेलेपन का लाभ उठाने का प्रयत्न करते है। देवस्मिता चातुर्य से एक एक को घर पर आमंत्रित करके रहस्यमय ढंग से उन्हे दण्डित करती है। उन सभी के

कपाल पर तप्त लोहे के चिन्ह उठाती है। इस वंचना से त्रस्त चारो दुष्ट कटाहद्वीप जा पहुँचते है। गुहसेन पर झुठे आरोप लगाते है। कटाह द्वीप की राज सभा में गुहसेन को बन्दी बनाकर लाया जाता है।

देवस्मिता को संभाव्य घटना का अन्दाज तो था ही। वह पुरुषवेश धारण करके एक श्रेष्ठी पुत्र (व्यापारी का पुत्र) के नाते कटाहद्वीप पहुँचती है। जिस दिन राजसभा में गुहसेन को उपस्थित किया जाता है उसी दिन देवस्मिता भी पुरुष वेश में वहाँ पहुँचती है। राजा के सम्मुख चारो धूर्त गुहसेन पर आरोप लगाते है कि "यह हमारा दास है जो भाग कर कटाह द्वीप में आया है" चारो धूर्तों के सरपर लम्बे शिरोवस्त्र (पगडी) है। तप्त लोहे से कपालपर हुए चिन्ह छुपाने के लिये उन्हे पगडी रखनी पडती है। राजा उन चारो पर विश्वास करके गुहसेन को दण्ड सुनाना चाहता है उसी क्षण देवस्मिता आगे आकर कहती है, "थोडा ठहरिये महाराज, आप जैसे न्यायी प्रजापालक से अज्ञानवश किसीपर अन्याय ना हो।"

राजा चकित होकर देवस्मिता को उसका परिचय पूछता है। देवस्मिता कहती है, "महाराज, मैं ताम्रलिपी का एक व्यापारी हूँ। मेरे चार दास वहाँ से भाग गये थे। उनको ढूँढता हुआ मैं आपके द्वीप पहुँचा। जिन्होंने इस बेचारे श्रेष्ठी पर दास्यत्व का झुठा आरोप लगाया है वे ही चार दुष्ट मेरे दास है। मैं ने मेरे दासों के कपालपर दास्यत्व की मुद्रा लगाई है। अगर आपको विश्वास नही हो तो उनके शिरोवस्त्र उतार के देखे।

कटाह द्वीप के राजा को जब बादमें असलियत का पता लगा तो उसने देवस्मिता और उसके पति का सम्मान किया।

इन कथाओं से लगता है कि मलयद्वीप अर्थात् कथासरित्सागर का कटाह द्वीप भारतीयों का सबसे प्राचीन उपनिवेश रहा होगा। और एक कथा के अनुसार समुद्रशूर नाम का एक व्यापारी अनेको संकटों को पार कर के जहाज टूटने पर कलशपूर बन्दरगाह पर जा पहुँचा था। यह कलशपूर भी मलाया प्रायद्वीप के उत्तर में सितांग नदी के मुहाने पर स्थित बंदरगाह एवं भारतीय उपनिवेश था।

'नवदीपात्मक भारतवर्ष'

पुराण पाँचवा वेद है। पुराणों में इतिहास है। भूगोल भी है। पुराणों की रचना हुई उस समय 'भारतवर्ष' राष्ट्रनाम था। भारतवर्ष में नौ द्वीप थे। वायुपुराण द्वारा वर्णित भारत वर्ष ... उसके नवद्वीप भारतवर्ष के मानचित्र का आरेखन और राजनैतिक संघटन शतप्रतिशत वैज्ञानिक है।

भारतस्यास्य वर्षस्य नवभेदा प्रकीर्तिता।
समुद्रान्तरिता ज्ञेयास्ते त्वगम्या परस्परं।।

मानचित्र क्र. ६

इन्द्रद्वीपः कसेरुश्च ताम्रवर्णी गभस्तिमान् ।
नागद्वीपस्तथा सौम्यो गंधर्वस्त्वथ वारुणः।।
अयं तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृत्तः।
योजनानां सहस्त्रं तु द्वीपोयं दक्षिणोत्तरम् ।। (वायु. ४५: ७८,७९, ८०)

भारतवर्ष में स्थित ये सारे द्वीप मिलकर दक्षिणपूर्व एशिया सिध्द होता है। विष्णु पुराण, वामन पुराण एवं अग्निपुराण में भी यही भूगोल आता हैं।

कन्याकुमारी से गंगोत्री तक सीधी रेखा खींचकर उसके दायें बाजू में तिरछा आयत निकाले तो वर्तमान भारत (पाकिस्तान और बांगला देश सहित) और दक्षिणपूर्व एशिया के सर्व द्वीप उसमें आ जाते है।

आयतः हि आकुमारिक्यात् आगङ्गात्प्रभवच्च वै।
तिर्थगुत्तर विस्तीर्णः सहस्त्राणि नवैव तु।। (वायु ४५.८१)

प्राचीन कालसे इस भूप्रदेश पर भारतीय उपनिवेश तो थेही। राजनीतिक दृष्टि से इन सारे द्वीपोंपर जिस का अधिकार हो उसे ही सम्राट कहा जाता था।

यस्त्वयं नवमो द्वीपः तिर्यगायत उच्यते।
कृत्स्नं जयति यो ह्येनं स सम्राडिह कीर्त्यते।। (वायु ४५.८२)

साम्राज्य की यह कल्पना एकदम स्पष्ट है। प्रलय के पश्चात् केवल दो ही सम्राट दिखाई देते हैं। एक है मान्धाता जिस के साम्राज्यपर पुराणों के अनुसार कभी सूर्यास्त होता ही नही था। दूसरा सम्राट है 'रघु' जिस के अधीन नवद्वीपात्मक भारत वर्ष था। पुराणों की इस व्याख्या के अनुसार अशोक, समुद्रगुप्त, चंद्रगुप्त या अकबर जैसे मुघल राजा भी 'सम्राट' पद से विभूषित नही हो सकते । हाँ, वे चक्रवर्ति कहलाये जा सकते है।

विष्णुपुराण के अनुसार भारतवर्ष की उत्तर सीमा हिमालय है और दक्षिण सीमा सागर है। ऐसा सागर जिसमें सारे द्वीप समाविष्ट होंगे। अन्यथा पुराणकार कन्याकुमारी को ही दक्षिण सीमा बताते।

प्राचीन काल से भारत में सर्वत्र धार्मिक विधि में प्रारंभ संकल्प से होता आया है। संकल्प के दो पैलू विशेष महत्वपूर्ण है। यजमान (विधिकर्ता) संकल्प में युगो युगों की कालगणना का उच्चार करता है। फिर जिस स्थान पर विधि सम्पन्न करता है उस स्थान का उच्चारण करता है। स्थान का उच्चारण करते समय प्रथम तीन शब्द आते है ... "जम्बुद्वीपे, भरतवर्षे, भरतखण्डे..."। भरतखण्ड और भरतवर्ष दोनो कल्पना अलग है। समान अर्थी उच्चारण का प्रयोजन ही नही है। जम्बुद्वीप सम्भवतः एशिया खण्ड है। भरतवर्ष का तो नवद्वीपात्मक वर्णन पुराणों में स्पष्ट रुप से

आया है। भरतखण्ड प्राचीन काल का भारत है जिसमें वर्तमान कालीन अफगाणिस्तान, पाकिस्तान, बांगलादेश, श्रीलंका, नेपाल, सिक्कीम, भूतान समाविष्ट थे। भरतखण्ड की उस काल की शास्त्रीय सीमाएँ थी ... उत्तर में हिमालय, उत्तर पश्चिम में हिन्दुकुश पर्वत... उत्तर पूर्व में वर्तमान म्यॉंमा की इरावती नदी... पश्चिम में रत्नाकर (अरबी सागर) ... पूर्व में महोदधि (बंगाल की खाडी) और दक्षिण में महासागर।

भारत भूमि को ऋषियों ने पुण्य भूमि कहा। कर्म भूमि कहा। आर्य भूमि कहा। पुण्य, कर्म, एवं आर्य गुणविशेषक संज्ञाऐं है। भारत भूमिका विश्वपटल पर का स्थान ही वैशिष्टपूर्ण है। समूचे विश्व का सांस्कृतिक केन्द्र तो था ही। भौगोलिक दृष्टि से भी भारत केन्द्र स्थान सिध्द हुआ। यहाँ से पूर्व, एवं पश्चिम दिशा में सागर लांघकर और उत्तर, उत्तरपूर्व, और उत्तर पश्चिम दिशा में भू मार्ग से भारतीय समूचे विश्व में फैले।

साहसी नाविक बुधगुप्त

मलेशिया अर्थात् मलय प्रायद्वीप में भारतीय उपनिवेश लगभग दो सहस्त्र वर्ष पूर्व ही स्थापित हो गये थे। चीनी रेकार्ड के अनुसार मलय द्वीप में कलियुगाब्द ३२ वी (खि. प्रथम) शती में हिन्दू राज्य था। संस्कृत राजभाषा थी। चीन में इस राज्य के दूत जाते आते रहते थे। राजाओं के नाम भारतीय थे। इस राज्य का नाम लंकासुक था जो मलयद्वीप के उत्तरी छोर पर था।

कलियुगाब्द ३७ (खि. ६) वी शती में मलयद्वीप में भगदत्त नाम का राजा था। उसने चीन के सम्राट की सेवा में अपना राजदूत भेजा था। राजदूत का नाम आदित्य था।

इसी काल में बुधगुप्त नाम का एक नाविक मलयद्वीप आया था। उसे महानाविक कहा गया है। वह रक्तमृत्तिका नगर का निवासी था। श्रेष्ठी था। अनेक जलपोतों का स्वामि था। रक्तमृत्तिका याने वर्तमान रंगामाटी जो पश्चिम बंगाल में मुर्शिदाबाद के समीपस्थ नगर है। सम्भवतः वह गंगा की धारा से बंगाल की खाडी में प्रवेश करके व्यापार हेतु जहाजों का बेडा लेकर निकला। वर्तमान म्यॉंमा के दक्षिण में उस समय बंदरगाह थे जहाँ से समृध्द व्यापार चलता था। म्यॉंमा भी उस काल में सुवर्णभूमि के अन्तर्गत माना जाता था। हंसावती (पेगू-म्यॉंमा) में रुक कर उसके दक्षिण में वह कलशपूर गया। कलशपूर सितांग नदी के मुहाने पर बसा सुविधाजनक बंदरगाह था

मार्ताबन की खाडी से दक्षिण की ओर प्रवास करते हुए उसके जहाज संपन्न मलयद्वीप के बन्दगाह पर आये। मलयद्वीप के केदाह, तकुआ पा (तकोला) और लिगोर के भू प्रदेश में शैव पंथ एवं बौध्द पंथ का प्रचलन था। सागरतट के पास और नदीयों की उपत्यकाओं में अनेक मन्दिर एवं विहार या वाट थे।

ऐसे ही एक विहार में कुछ दिन महानाविक बुधगुप्त ने निवास किया। वहाँ से वापसी यात्रा प्रारंभ करने के पूर्व उसने उस विहार में मुक्त हस्तों से दान दिया। विहार के स्तम्भपर एक अभिलेख उत्कीर्ण किया। अभिलेख के दोनो ओर स्तूप उत्कीर्ण किये। अभिलेख से ही आज हम उसे जानते हैं। उसमें लिखा है।,

"ये धर्म्मा हेतुप्रभवा तेषां हेतु तथागतो।
तेषांच यो निरोधं एवं वादी महाश्रमण।।
अज्ञानाच्चीयते कर्म जन्मनः कर्मकारणम् ।
ज्ञानान्नचीयते कर्म कर्म्माभावान्न जायते।
महानाविक बुधगुप्तस्य रक्तमृत्तिकावास ..."

मलय द्वीप पर प्राचीन अवशेष -

मलय द्वीप के पूर्वी तट पर चैया, नखोन-स्त्रीथम्मरट (नखोन श्री धर्मराट्) और विएंग स्त्रा में प्राप्त प्राचीन अवशेष अत्यंत महत्वपूर्ण है। चैया के भग्न अवशेषों में दो संस्कृत अभिलेख प्राप्त हुए है। वेल्स्ली प्रांत में टोकून नामक स्थानपर ७ और उसी प्रदेश में अन्य स्थान पर ४ अभिलेख मिले है। लिगोर में पाँच लेख प्राप्त हुए है। केड्डा (केदाह) एवं तकुआ पा (तक्कोला) से भी एकेक संस्कृत लेख प्राप्त हुआ हैं। लिगोर से प्राप्त शिलालेख वैशाख शुध्द ११ कलियुगाब्द ३८७७ (ख्रि. ७७५) का है।

श्री धर्मराट् (लिगोर) में शैलेन्द्र नृपति श्री महाराज विष्णु द्वारा निर्मित मंदिरों का वर्णन है। श्री महाराज विष्णु की प्रशंसा अभिलेख में है। अभिलेख के अनुसार श्री महाराज विष्णु सब शत्रुओं का विनाश करनेवाले थे। प्रजापालन में अतीव दक्ष थे। न्यायी थे। दान, क्षमा, ऋजुता, विजय, आदि सारे सद्गुणों से परिपूर्ण थे। 'जयंत' उनके राजस्थविर (भिक्षु) थे। राजस्थविर जयंत ने राजा के आदेशानुसार पद्मपाणि, शाक्यमुनि और वज्रपाणि के मन्दिरों का निर्माण किया। जयंत के पश्चात् उनका शिष्य भिक्षु अधिमुक्ति ने वहींपर और दो स्तूपों का निर्माण किया। आज उन स्तूपों के खण्डहर मात्र दिखाई देते है। इसी राजा विष्णुवर्मा की एक मुद्रा पेरक में प्राप्त हुई है।

'तकुआ पा' के खण्डहर से लगता है कि मलयद्वीप में यह भारतीय संस्कृति का प्रभावी केन्द्र रहा होगा। एक तो यह बन्दरगाह था। पश्चिम में बंगाल की खाडी से मलय द्वीप पहूँचते ही केवल लगभग ५० किलो मीटर का भूप्रदेश पार करके बन्दोन की खाडी में पहुँच जाते है। अतः तकुआ पा (तक्कोला) ऐसा केन्द्र था जहाँ भारत के नाविकों का, व्यापारीयोंका अखण्ड आवागमन था। कम्बुज (कंबोडिया), लव (लाओस), चम्पा (विएतनाम) और कोरिया, जपान जानेवाले जहाज यही पर रुकते थे। यहाँ से स्थलमार्ग से भी श्याम (थायलँड), कबुज, चम्पा आदि देशों

मे जाने के लिये मार्ग थे।

भारतीय साहित्य में कटाहद्वीप एवं कटाह नगर के उल्लेख आते है। प्राचीन कटाह नगर वर्तमान केड्डा या केदाह है। यहाँ के परिसर में ३० स्थानों पर उत्खनन हुआ है। लगभग १२ शिव-मन्दिरों के और ८ स्तूपो के अवशेष प्राप्त हुए हैं। उसमें वाट सुंगेही वटुपहत और चंडी वुकित वटु के मन्दिर शैव तान्त्रिक सम्प्रदाय के थे। वुजङ्ग (भुजंग) नदी के दक्षिण तटपर शिवमंदिर के अवशेष प्राप्त हुए है। एक भी मूर्ति अभंग नही है। शिवलिंग, नंदी, महिषासुरमर्दिनी, गणेश और स्कन्द की खण्डित मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं।

किन्त घाटी में इपो के पास पंकलन में वुध्द की कास्यप्रतिमा मिली। यह वुध्दमूर्ति गुप्तकालीन हैं। तंजोग रामवुतन में टिन की खान में अवलोकितेश्वर की कास्यमूर्ति प्राप्त हुई। पेरक में प्राप्त और एक वोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर की मूर्ति अष्टभुजी है। एक हाथ वरदमुद्रा में है और शेष हाथों में त्रिशुल, पुस्तक, कमल, कलश आदि हैं। कुछ प्राप्त अवशेषों से लगता है, यहाँ पर तांत्रिक वुध्दोपासना प्रचलित थी। सुगेई सिपुट की खान में चले खनन के समय चतुर्भुज, अष्टभुज अवलोकित्तेश्वर की मूर्तियाँ और मिट्टी के घट में अलंकार प्राप्त हुए।

केड्डा पर्वत के 'गुनुंग जेराई' शिखर से एक छोटी नदी प्रवाहित होती है जिस के तटपर प्राचीन वस्ती के पर्याप्त अवशेष मिले है। उस प्रदेश को केड्डा कळगम कडाराम भी कहा जाता है। यही कटाह द्वीप का केन्द्र था।

मलय द्वीप के भारतीय राज्य -

लंकाशुक -

मलयद्वीप की गाथा के अनुसार पाटलीपुत्र का एक राजपुत्र आज से लगभग २४०० वर्ष पूर्व वंगाल की खाडी पार करके जहाज से मलाया आया। जनश्रुति कहती है, इस राजपुत्र का नाम मरोङ् था। मलाया के वनवासियों ने प्रथम उसका विरोध किया परन्तु मरोङ् वहाँ पर जनस्थात वनाने में सफल हुआ। यही लंकाशुक नाम से प्रसिध्द है। उसने मलाया में अनेक मन्दिर तथा विद्यालयों का निर्माण कराया। देश को भाषा और लिपि दी।

एक जनश्रुति के अनुसार कलियुगाब्द ३७ वी (ख्रि. ५) शताब्दि में मलाया का राजा शक्ति हीन हो गया था। राजवंश का एक राजकुमार अत्यंत सद्गुणी व प्रतिभासम्पन्न था। अपने राजपद को उससे धोका हो सकता है, इस कल्पना से राजाने उसे निष्कासित कर दिया। राजकुमार भारत आया। एक भारतीय राजकन्या से उसने विवाह किया। मलाया के राजा की मृत्यु हो गयी तव उसे लोगों ने वापस बुलाया। वह मलाया के सिंहासन पर आरुढ हुआ। उसके पश्चात् उसका पुत्र भगदत्त राजा हुआ। जनश्रुतियाँ इतिहास कहती है। भगदत्त ने चीनी सम्राट

की सेवा में अपने दूत भेजे थे इसकी जानकारी चीन के लियांग वंशी राजाओं के इतिहास में है।

कम्बुज में स्थित फूनान साम्राज्य का प्रभाव लंकाशुक राज्य पर था। वर्तमान पटणी (लिगोर) राजधानी थी। यह प्रदेश धनधान्य से समृध्द था। चन्दन और कर्पूर के असीम उत्पादन के कारण देश सम्पत्ति मान् हो गया था। लगभग सात सौ वर्ष तक यह एक समृध्द और स्वतंत्र राज्य था। कलियुगाब्द ३९ वी शतीसे ४४ वी शती तक (ख्रि. ८ से १३ वी शती) इसपर सुमात्रा में उदित श्री विजय के शैलेंद्र राजाओं का अधिकार था। उसके पश्चात ४५ (ख्रि. १४) वी शतीतक जावा के मजपहित साम्राज्य के अधीन था।

पान-पान, तकोला -

दूसरा भारतीय राज्य लंकाशुक के उत्तर में श्याम (थायलंड) की खाडी में था। इस राज्य का नाम था 'पान पान'। इस नाम का संस्कृत में या किसी पाश्चात्य भाषामें मी रुपांतर नही हुआ है। 'पान पान' में भी जनश्रुति के अनुसार भारत से एक राजकुमार आया। द्रव्य की अपेक्षा रखकर कतिपय व्यापारी और ब्राहमण भी उसके साथ गये। पान-पान का राज्य छोटा था। बस्ती मुख्यतः समुद्रतट पर थी। लोग कुछ मात्रा में बुध्द उपासक थे। दस बौध्द मठ थे जहाँ भिक्षु और भिक्षुणी अध्ययन करने हेतु निवास करते थे। चीन के सम्राट की सेवा में यहाँ के राजदूत नित्य जाते थे। कलियुगाब्द ३६२९ और ३६३२ (ख्रि. ३२७ और ३३०) में पान पान के राजाने अपने दूतों के साथ बुध्द का पवित्र दाँत, रंगीत स्तूप, बोधि वृक्ष के पात, स्वादिष्ट मीठे पदार्थ और सुंगधी वस्तुएँ चीन के सम्राट को उपहार स्वरुप में भेजे थे।

तीसरा उपनिवेश था तकोला का जो वर्तमान 'ताकुआ-पा है। यहाँ से प्राप्त प्राचीन अवशेष इस राज्य की समृध्दि एवं उसकी महत्ता के साक्षी है। कलियुगाब्द ४६ (ख्रि. १४) वी शताब्दि तक यहाँ पर भारतीय संस्कृति थी।

कलशपुर -

मलाया द्वीपकल्प में म्याँमा के दक्षिण भाग में एक हिन्दू राज्य था। चीनी इतिहास में इस राज्य का उल्लेख आता है। राज्य छोटा था। नगर राज्य जैसा था। परन्तु स्वयं की रक्षा करने में समर्थ था। किसी भी अवसर पर २० हजार सैनिक युध्द के लिये सज्ज रहते थे। नगर को पत्थरों के दीवार का तट था। सेना में हाथी भी थे। हाथी पर चार सैनिक रहते थे।

सीतांग नदी के मुहाने पर होने के कारण जलमार्ग पर का यह एक महत्वपूर्ण बन्दरगाह था। दो सहस्त्र वर्ष पूर्व म्याँमा और मलाया प्रायद्वीप को सुवर्णभूमि की संज्ञा थी। सुवर्ण, रजत, लोह की खाने और सागर के तल से प्राप्त रत्नों के कारण यह भूमि सम्पत्ति मान् थी। विभिन्न

देशों के व्यापारी और उनके विशाल रंगबिरंगे जलपोत निरन्तर आते जाते रहते थे। कलशपूर बंदरगाह में अपने जलपोत छोडकर अनेक व्यापारी भूमार्ग से आगे श्याम (थायलंड) देश में और दक्षिण में मलयद्वीप के दक्षिण छोर तक जाते थे। हंसावती (पेगू) एवं द्वारावती जैसे समृध्द व्यापारी केन्द्र कलशपुर से दूर नही थे।

कथासरित्सागर में कलशपुर के संदर्भ में एक कथा है। उस कथा का अवलोकन रोचक होगा। दो सहस्त्र वर्ष पूर्व के वायुमण्डल में यह कथा हमें ले जाती हैं। व्यापार करनेवाले, अपना भाग्य खोजने के लिये द्वीपांतर जानेवाले व्यक्तिओं को किन सङ्कटों का सामना करना पडता था इसका भी चित्र सामने आता है।

"हर्षपूर नगरी में समुद्रशूर नाम का एक श्रीमान और धार्मिक वैश्य रहता था। वाणिज्य हेतु उसने एक बार नौका पर आरुढ होकर सुवर्णद्वीप की ओर प्रस्थान किया। जैसे भी सुवर्णद्वीप निकट आ रहा था, अचानक भयङ्कर तूफान खडा हुआ। सागर की लहरे ऊँची उठले लगी। देखते देखते नौका लहरोंपर ऊपर नीचे होती हुई डुबने लगी। ऐसी स्थिती में एक विशाल मगर के आघात से नौका टूट गयी। समुद्रशूर धीरज बाँधकर तैरने लगा। उसके हाथ भाग्य से एक बहता हुआ मृत शरीर लगा। उस शव के सहारे वह बडी कठिनाई से समुद्र के किनारे लगा। फिर उसने देखा, कि शव के कमर में वस्त्र बाँधा हुआ है। जैसे भी उसने वस्त्र की गाँठ निकाली उसका भाग्य की खुल गया। वस्त्र से दिव्य रत्नहार निकला। वह रत्नहार देखकर समुद्रशूर उसके समुद्र में डुबे हुए धन को भी भूल गया।"

"समुद्रकिनारे पर से उसने समृध्द कलशपुर नगर देखा तो उस दिशा में चल पडा। कलशपुर में प्रवेश करते ही उसे एक मन्दिर दिखाई दिया। थका हुआ था, जैसे भी मन्दिर में गया, वही पर उसे प्रगाढ निद्रा ने घेर लिया। कुछ ही समय में वहाँ पर नगर रक्षक आ गये। कलशपुर की राजकुमारी चक्रसेना का रत्नहार चोरी हुआ था। नगररक्षक उसे ढूँढ रहे थे। उन्हो ने देखा वही रत्नहार समुद्रशूर के हाथ में था। अब समुद्रशूर का भाग्य पलट गया। नगररक्षकों ने उसे बन्दी बनाकर राजा के सामने खडा किया। समुद्रशूर के राजा ने उस को मृत्युदण्ड सुनाया। अचानक एक गृध्र बडे वेग से वहाँ पर आया और राजा के हाथ से हार लेकर देखते देखते उडता हुआ दृष्टि के पार हो गया।"

"फिर भी समुद्रशूर का मृत्युदण्ड टलनेवाला नही था। बेचारा वैश्य रोता हुआ भगवान शंकर की प्रार्थना करने लगा। इतने में राजा को आकाशवाणी सुनाई दी, "राजन् यह हर्षपूर का वैश्य है और निर्दोष है। जिसने रत्नहार चुराया था वह तो नगर रक्षकों के भय से भागते हुए समुद्र में गिर गया। जिस शव के सहारे यह वैश्य यहाँ तक पहुँचा वह शव उसी चोर का था।"

"राजाने समुद्रशूर को बंधमुक्त किया। प्रचुर धन देकर सम्मानित किया। समुद्रशूर आनंद से स्वदेश जाने के लिये जहाज पर चढा। उसका जलप्रवास भी निर्विघ्न हुआ और वह कलिंग के किनारे पहुँच गया।"

समुद्रशूर की कथा यहाँ पर पुरी नही होती। "व्यापारियों के सार्थ के साथ हर्षपूर जाते समय भी वहुत से संकटों का सामना करना पडता है।"

इस प्रकार की कथाओं से वैश्य, श्रेष्ठी, नाविक और उस काल के साहसी युवक प्रेरणा लेते थे। सुवर्णभूमि के साथ मलाया का यह कलशपुर राज्य भारत में घर घर में प्रसिध्द हुआ था।

केड्डा - और पहाड्ग

वर्तमान केदाह या केड्डा के अनेक नाम है। यह एक समृध्द भारतीय संस्कृति से प्रभावित राज्य था। इस विशाल नगरी के भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं। यही कटाह द्वीप था। यहाँ पर बौध्द धर्म प्रचलित था। केड्डा में प्राप्त अभिलेख में प्रसिध्द बौध्द सूत्र उत्कीर्ण किया हुआ है।

"ये धर्मा हेतु प्रभवा तेषां हेतुं तथागतो।
तेषांच यो निरोध एवंवादी महाश्रमण।।
अज्ञानाच्चीयते कर्म जन्मनः कर्मकारणम् ।
ज्ञानान्न क्रियते कर्म कर्माभावान्न जायते।।"

केड्डा के एक प्राचीन विहार के खण्डहरों में यह अभिलेख उत्कीर्ण है। चीन के इतिहास में दक्षिण मलाया के पहाड्ग नाम हिन्दू राज्य का वर्णन आता है। कलियुगाब्द ३५५१ (ख्रि. ४४९) में श्री पाल वर्मा (सारिपाल वर्मा) यहाँ का राजा था। उसने पहड्ग के दो विद्वानों को चीनी सम्राट की सेवा में भेजा था। चीन के सम्राट ने उनका सम्मान करके अग्न्याश्वपति (ड्रगून हॉर्स जनरल्स) की उपाधि से विभूषित किया था। पहाड्ग के बन्दरगाह विभिन्न देशों के व्यापारियों के लिये महत्वपूर्ण स्थान थे।

'कनतोली' नाम के और एक हिन्दू राज्य का वर्णन चीन के इतिहास में आता है। यह राज्य सम्भवतः मलाया प्रायद्वीप के दक्षिण भाग में पूर्वी किनारे पर था। कलियुगाब्द ३५६२ (ख्रि. ४६०) के काल में 'श्रीवर-नरेन्द्र' यहाँ का राजा था। उसने 'रुद्र भारतीय' नाम के अपने वरिष्ठ अधिकारी को चीन में भेजा था।

मलाया प्रायद्वीप पर श्री विजय साम्राज्य का प्रभुत्व रहा। उसके पश्चात जावा के मजपहित साम्राज्य का अधिपत्य था। कलियुगाब्द की ४७ (ख्रि. १५) वी शताब्दि तक स्वाभाविकतः मलाया में भारतीय संस्कृति का प्रभाव रहा।

मलेशिया को भारत की देन -

वर्तमान मलेशिया में मलाया प्रायद्वीप का १,३१,५८७ वर्ग किलोमीटर का क्षेत्र आता है। इसके साथ ही वोर्निओ महाद्वीप का सारावाक प्रान्त (क्षेत्रफल - १,२१,४४९ वर्ग किलोमीटर) और सावा प्रान्त (८०५२० वर्ग किलोमीटर) मलेशिया मे समाविष्ट है। मलाया प्रायद्वीप के उत्तर मे थायलंड है। पूर्व मे चीनी सागर है। पश्चिम में अन्दमान सागर है। दक्षिण में सिंगापूर द्वीप है। वोर्निओ के सारावाक और सावा के भूप्रदेश 'पूर्व मलेशिया' हैं।

मलाया का आध्यात्मिक तथा भौतिक जीवन भारत की देन हैं। मलाया (पश्चिम मलेशिया) की जनता हिन्दू धर्मावलम्बी थी। राजनीति, शासनव्यवस्था मनुस्मृति के आधारपर वनायी गयी थी। आज की उसकी शासन व्यवस्थामें भी उसकी झलक दिखाई पडती है। साहित्य भारतीय था। लिपि नागरी थी। कला भारतीय थी। रामायण, महाभारत, पुराण तथा वैदिक साहित्य प्रचलित था। वहाँ की आदिवासी जनता भारतीय जनसमुदाय में मिल कर एकाकार हो गयी थी।

आज वहाँ यह सव कुछ नही है। केवल अतीत की कहानी शेष है।

'मलयु' मलेशिया की भाषा है। जावा, वुगी, ब्रह्मी, मुण्डा, आन्ध्र, गुजराथी ऐसे कतिपय भाषाओंका मिश्रण 'मलयु' भाषा में है। संस्कृत शब्दो का भी प्रभाव है। ततापि (तथापि), तत्काल (तत्काल) पुन (पुनः), वङ्स (वंश) किञ्चि (किञ्चित्) इस प्रकार के कतिपय शब्द मलयु भाषा में आज भी है। मलयु भाषा मधुर है। सुन्दर है। मलयु में प्राप्त प्राचीन साहित्य में 'हिकायत पिण्डव' प्रसिध्द है जिस में महाभारत की पाण्डव कथा है। 'पुत्ति कोल बिस्नु' में विष्णु पुराण की कथाएँ है। 'पिण्डव जय' में 'पाण्डव विजय' का कथासार है। हिकायत राना वङ्शु में वंशेतिहास है। 'हिकायात मित्रजय पुर्त्ति' में मलाका के प्राचीन राजाओं की गाथाएँ है। विधि (कानून) और परम्परा के संदर्भ में 'उंदंग उंदंग' और 'आद्दत मलयु' ये दो प्राचीन ग्रंथ है।

मलाया तथा दक्षिण पूर्व एशिया को भारत धर्म और संस्कृति देता आया है जिसके फलस्वरुप हिन्दू धर्म फैल गया था। कलियुगाब्द ४८ (खि. १६) वी शती में और उस के पश्चात् हिन्दू सत्ताएँ शक्तिहीन हो गयी थी।मुस्लीम धर्म फैलता चला गया। इस्लाम ग्रहण के पश्चात् मलाया निवासी, भारतीय संस्कृति से दूर होते गये। मन्दिर और विहारों को नष्ट किया गया। संस्कृत तथा नागरी लिपि के स्थान पर अरबी भाषा और लिपि आ गयी। मलाया के धर्मान्तरित मुस्लिम मन्दिर नष्ट करने, मूर्तियाँ तोडने, ग्रंथ जलाने और विजातियों पर अत्याचार करने की मुस्लिम परम्परा से ग्रस्त होने में देर नही लगी। इसी कारण मलेशिया में भारतीय संस्कृति के प्रतीक भी अपवाद स्वरुप ही रह गये है।

इन्डोनेशिया
(जावा, सुमात्रा, बोर्निओ, सुंद द्वीप समूह)

इन्डोनेशिया में प्रथम भारतीय उपनिवेश - यवद्वीप (जावा)

हस्तिनापूर के पाण्डव वंशीय राजा का एक मंत्री था 'आजिशक' (अजिसक)। साहसी एवं दूरदर्शी आजिशक ने कलियुगाब्द ३१७९ (७८) में सुवर्णद्वीप के लिये प्रस्थान किया। ताम्रलिप्ति बन्दरगाह से लगभग दो मास का सागरीय प्रवास करके उसके जहाज आज के जावा में पहुँचे। स्थानिय जनजातियों ने उसका स्वागत किया। आजिशक का नेतृत्व स्वीकार किया। देखते देखते एक समृध्द उपनिवेश खडा हो गया। वहाँ के पर्वत मेरु पर्वत बन गये। नदियाँ गंगा बन गयी। वेद पारंगत आचार्यो ने नदियों के किनारे अरण्य के बीच अपने आश्रम स्थापित किये। जनजातियों के प्राकृतिक जीवन को अधिष्ठान प्राप्त हुआ। जीवन में परिवर्तन आ गया। वे खेती करने लगे। नयी नयी बस्तियाँ उभरने लगी। बस्तियों को जोडने वाले पथों का निर्माण हुआ। आजिशक के शासकों के नेतृत्व में नागरी जीवन सम्पन्न होने लगा। चारों ओर से द्वीप सागर से घिरा हुआ था। नौकाएँ बाँधने की कार्यशालाएँ प्रारंभ हुई। विश्व की एक महान् सागरी संस्कृति ने जन्म लिया। जावा के पूर्व में आज के न्यू गिनी तक प्रशांत महासागर में फैले हुए सहस्रावधि द्वीप है। निकट ही बाली, मदुरा, ससक आदि निर्सगरम्य द्वीप है। जावा के साहसी युवक आजिशक की प्रेरणा से सारे द्वीपों पर फैलते गये।

इन्डोनेशिया की जनश्रुतियाँ कहती है, कि आजिशक ने राज्याभिषेक कर लिया और कालगणना प्रारंभ की। इसी समय भारत में शक आक्रान्ताओं का उच्छेद करके शालिवाहन ने संवत्सर आरम्भ किया था। आजिशक इन्डोनेशिया का शालिवाहन सिध्द हुआ। द्वीप का नाम पहले 'नुसा केदंग था। वहाँ रसक्स (राक्षस) लोगों का निवास था। आजिशक ने उनको सभ्यता दी। द्वीप का नामकरण किया 'यवद्वीप'। प्राचीन चीनी साहित्य के अनुसार तो आजि शक द्वारा यवद्वीप की प्राचीन सभ्यता का निर्माण शक संवत् के प्रारंभ से २२ वर्ष पूर्व ही हुआ। अनुश्रुतियाँ अजिशक को एक ऋषि या देवता के रुप में प्रस्तुत करती है।

दूसरी एक अन्य जनश्रुति के अनुसार 'कलिंग के राजा ने २० हजार परिवार 'यवद्वीप में

बसाने के लिये भेजे। उनकी संख्या मे वृध्दि होती गयी। कानो, पुलसर, अविआस, पाण्डु, देवनाथ, जयलय ऐसे कतिपय राजाओ ने वहाँपर समृध्द राष्ट्रजीवन का निर्माण किया। कानो (कर्ण), पुलसर, अविआस (व्यास) और अन्य नाम भी महाभारत से सम्बन्धित है। चीनी इतिहास के अनुसार कलियुगाब्द ३२३३ याने ख्रि. १३१ मे देववर्मा (तिआओ पिएन) यवद्वीप का राजा था। उसने अपने राजदूत चीनी राजसभामें भेजे थे।

इण्डोनेशिया के प्राचीन अभिलेख। अवनिपति पूर्णवर्म्मा।

जावा में प्राप्त उत्कीर्ण लेख कलियुगाब्द ३७ वी (ख्रि. ५) शती के भारतीय राज्य का विश्वसनीय इतिहास सम्मुख रखते है। राजा पूर्णवर्मा के तीन अभिलेख पश्चिमी जावा के सागरतट पर स्थित बटाविया नगर के पास ची अरुतोन, जम्बू और कबोन कोपी नामक स्थानों से प्राप्त हुए है। पूर्णवर्मा की राजधानी 'तारुम' नामक नगरी में थी। जम्बू के अभिलेख में कहा है, कि अत्यंत दानशील राजा पूर्णवर्मा अद्वितीय पराकमी है जिसे शत्रुओं के बाण कभी परास्त नही कर सके।

"श्रीमान् दाता कृतज्ञो नरपतिरसमो यः पुरा तारुमायात्।
नाम्ना श्रीपूर्णवर्म्मा प्रचुर रिपुशराभेद्य विख्यातवर्म्मा।।"

जावा में इस समय पौराणिक हिन्दु धर्म प्रचलित हो गया था। पूर्णवर्म्मा विष्णुभक्त था। राजा को विष्णू का अवतार मानने की प्रथा थी। पूर्णवर्मा के दो शिलालेखोंपर राजा के पदचिन्ह जिन्हे पादविम्बद्वय कहा है, उत्कीर्ण है। उनकी तुलना विष्णुपद से की गई है। पूर्णवर्म्मा के ये पदविंबद्वय उसकी अधीनता स्वीकृत करनेवाले भक्त नृपतियों के लिये सुखकर और शत्रुओं के लिये शल्यरुप बताये गये है।

(तस्येदं पादविम्बद्वयमरिनगरोत्सादने नित्यदक्षम्।
भक्तानाम् यन्नृपाणाम् भवति सुखकरं शल्यभूतं रिपूणाम् ।।)

दूसरे अभिलेख में पूर्णवर्म्मा को अवनिपति कहकर उसके पदचिन्हों को विष्णुपद समान कहा गया है।

(विक्रान्तस्यावनिपतेः श्रीमतः पूर्णवर्म्मणः।
तारुम नगरेन्द्रस्य विष्णोरिव पदद्वयम् ।।)

कबोन कोपी से प्राप्त अभिलेख में शिलालेख के साथ हाथी के पाद उत्कीर्ण है। उन्हे ऐरावत हाथी के पाद कहा गया है। ऐरावत देवराज इन्द्र का हाथी होने के कारण दैवी या लोकोत्तर समझा जाता है। दैवी गुणसम्पन्न राजा पूर्णवर्म्मा के पदबिम्बों के साथ ही उसके ऐरावत हाथी के पदविम्वों की पूजा होना स्वाभाविक लगता है।

चौथा अभिलेख पूर्णवर्मा के २२ वे शासन वर्ष में उत्कीर्ण कराया गया था। इस अभिलेख में पूर्णवर्म्मा के पितामह को राजर्षि और पिता को राजाधिराज कहा गया है। पूर्णवर्म्मा के पिता राजाधिराज ने चन्द्रभागा नाम की एक नहर खुदवाई थी, जो तारुम नगरी से होकर समुद्र में जा गिरती थी। स्वयं पूर्णवर्मा ने भी एक नहर का निर्माण कराया था, जिस का नाम गोमती था। उल्लेखनीय है कि चन्द्रभागा और गोमती दोनो ही भारतीय नदियाँ है जिनके नाम पर इन के नाम रखे गये। शिलालेख में उस का सुंदर वर्णन है।

पुरा राजाधिराजेन गुरुणा पिनबाहुना। ख्याता ख्याताम् पुरीं प्राप्य चन्द्रभागार्ण्णवम् ययौ।।

प्रवर्धमान द्वाविंशसत्वत्सरेश्रीगुणोजसा। नरेन्द्रध्वजभूतेन श्रीमता पूर्णवर्म्मणा।।

प्रारभ्य फाल्गुने मासे खाता कृष्णाष्टमीतिथौ। चैत्र शुक्ल त्रयोदश्यां दिनैस्सिध्दैक विंशकै।

आयता षट् सहस्त्रेण धनुषां स शतेन च। द्वाविंशेन नदी रम्या गोमती निर्मलोदका।।

पितामहस्य राजर्षेर्विदार्य शिबिरावनिम् । ब्राहमणैर्गोसहस्त्रेण प्रयाति कृतदक्षिणः ।।

राजा पूर्णवर्म्मा ने गोमती नाम की जो नहर खुदवाई थी वह ६१२२ धनुष लंबी थी। उस की खुदाई फाल्गुन कृष्ण अष्टमी को आरंभ हुई थी और चैत्र शुक्ल त्रयोदशी के दिन केवल २१ दिन में तैयार हुई थी। नहर के निर्माण के पूरा हो जाने पर राजाने ब्राहमणों को एक हजार गाँवे दान की थी। इस प्रकार अभिलेख प्राचीन जावा के शुध्द भारतीय सांस्कृतिक वायुमण्डल का परिचय देते है। भारत में गुप्त काल में तो सांस्कृतिक वातावरण था, उसी का प्रतिबिम्ब जावा में दिखाई देता है।

जावा के प्राचीन लेखों में मेरबबू पर्वत की उपत्यका में तुम - सक नामक स्थान पर एक अभिलेख मिला है। एक विशाल चट्टान पर केवल एक सुंदर श्लोक उत्कीर्ण किया है।

उशुच्यम् बुरुहानुजाता क्वचिच्छिलावालुक निर्गतेयम् ।।

क्वचित् प्रकीर्ण्णा शुभशीततोया संप्रश्रुतामेध्य करीव गंगा।।

यह शिलालेख न किसी राजा का नाम देता है, न कोई तिथी या सम्वत बताता है। पता नही कदाचित् कोई भारतीय युवक अपनी यात्रा में अतीव रमणीय पर्वत की उपत्यका में पहुँचा। उपर से पर्वत की पथरीली ढलान से कूदती हुई शुभ्र शीत जलधारा उसे दिखाई दी। वह जलधारा उसे मानो कमल से उदित हुई, शिलाओं के बीच से, तो कही वालुका स्थल से सरसराती हुई प्रवाहित होती दिखाई दी। पवित्र गंगा नदी के स्मरण से, मातृभूमी की भावना से हृदय भर आया। उसकी इस भावना ने काव्य रुप धारण किया। छोटेसे अभिलेख द्वारा प्रकट हुई उसकी भावना चौदह सौ वर्ष के अनंतर हम तक पहुँच गयी। इस अभिलेख पर सोलह चिन्ह

उत्कीर्ण है जिस में शंख, चक्र, गदा, त्रिशूल, परशु माला, कमल और कुंभ की आकृतियाँ है।

वोर्निया या वरहिण द्वीप

वायु पुराण में वरहिण द्वीप का उल्लेख है। यह वरहिण द्वीप ही आजका वोर्निया है। वर्तमान इन्डोनोशिया मे सुमात्रा, जावा और वोर्निओ द्वीप का तीन चौथाई भूप्रदेश समाविष्ट है। प्रशान्त महासागर मे जावा के पूर्व में फैले १३,६७७ द्वीपों का समावेश इन्डोनेशिया में होता है। उसमें के लगभग ३ हजार द्वीपों पर वस्ती है। वाली, मदुरा, सुलावेसी, पश्चिम इरियन जय (न्यू गिनी का पश्चिम भाग) ये ओर अन्य महत्वपूर्ण द्वीप इन्डोनेशिया में है। कुल क्षेत्रफल १९ लाख ४३४४ वर्ग किलोमीटर है।

वोर्निओ विश्व का तीसरे क्रमांक का विशाल द्वीप है। ७ लक्ष ४३ हजार ३३० चौ. वर्ग कि. मीटर, उसका क्षेत्रफल हैं। जावा याने यवद्वीप से यह सात गुना वडा है।

वोर्निओ का प्राचीन नाम है 'कालिमन्तान'। कालिमन्तान का अर्थ है हीरे की नदी। वोर्निओ वहाँ के हीरों के लिये प्रसिध्द था।

दक्षिणपूर्वी एशिया के पश्चिम में भारत है। अतः पश्चिम दिशा को 'वारत' (भारत) शब्द का प्रयोग किया जाता है। कालिमन्तान के चार विभाग है। कालिमंतान वारत (पश्चिम), कालिंमतान तेंग (मध्य) कालिंमतान सेलतन (दक्षिण) और तिमूर। वोर्निओ में प्राप्त अभिलेख और पुरातत्वीय अवशेष हमें वोर्निओ के प्राचीन भारतीय उपनिवेशों की जानकारी प्राप्त कराते है।

यज्ञकर्ता सम्राट मूलवर्मा -

वोर्निओ के कुतेई प्रदेश के अंतर्गत 'महाकाम' नदी के तट पर मुअरा कामङ् नामक स्थान पर कलियुगाब्द ३६ वी (ख्रि.४ थी) शती के अभिलेख प्राप्त हुए है। यज्ञ के यूप (स्तम्भ) पर ये लेख उत्कीर्ण है। एक अभिलेख वोर्निओ के प्राचीन हिंदू राजवंश की जानकारी देता है। इस राजवंश का मूल पुरुष था कुण्डुंग। कुण्डुंग 'कौंडिन्य' इस नाम का ही रुप है। कम्बुज (कंवोडिया) एवं चम्पा (विएतनाम) के भारतीय उपनिवेश स्थापन करनेवाला भी कौण्डिन्य ही था। दक्षिण पूर्व एशिया में भारतीय उपनिवेश के निर्माण हेतु जो भी साहसी युवक प्रथम जाकर अपना कर्तृत्व सिध्द करता था उसे कौण्डिन्य ही कहा जाता था। दो हजार वर्ष पूर्व जब प्रथम कौंडिन्य कम्वुज में जा पहुँचा तवसे साहसी भारतीय यात्रियों के लिये 'कोण्डिन्य' एक विशेषण बन गया। सभी कौण्डिन्य नामक व्यक्तियों को द्रोण पुत्र अश्वत्थामा के साथ जोडा जाता है। कदाचित, कोण्डिन्य के वंशधरों ने ही भिन्न भिन्न द्वीपों में विभिन्न काल में भारतीय उपनिवेश स्थापित किये होंगे। अभिलेख में कहा गया है,

श्रीमतः श्रीनरेन्द्रस्य कुण्डुंगस्य महात्मनः । पुत्रोश्ववर्म्मा विख्यातः वंशकर्ता यथांशुमान् ।।
तस्य पुत्राः महात्मानः त्रयस्त्रय इवाग्नयः । तेषां त्रयानां प्रवरः तपोबलदमन्वितः।।
श्रीमूलवर्म्मा राजेन्द्रो यष्ट्वा बहुसुवर्णकम् । तस्य यज्ञस्य यूपोऽयं द्विजेन्द्रैः सम्प्रकल्पितः।।

("कुण्डुंग नाम के नरेन्द्र का पुत्र अश्ववर्म्मा था। अंशुवर्मा के समान वह एक नये वंश के प्रवर्तक के रूप में विख्यात हुआ। उसके तीन पुत्र थे। उनमें तप बल और दम की दृष्टि से मूलवर्मा सर्वश्रेष्ठ था। मूलवर्मा ने बहुसुवर्णक यज्ञका अनुष्ठान किया। उस यज्ञ के हेतु ब्राहमणों द्वारा उसने यह यूप बनाया")

बोर्निओ में प्राचीन उपनिवेश स्थापित करनेवाले कुण्डुंग के वंश में तीसरी पीढ़ी का राजा था मूलवर्मा जिस के संदर्भ में यह अभिलेख है। बोर्निओ द्वीप पर पूरी तरह से मूलवर्मा का अधिपत्य स्थापित होने के पश्चात ही उसने बहुसुवर्णक यज्ञ किया होगा। यह यज्ञ अश्वमेघ, सूर्यमेध, अग्निष्टोम आदि यज्ञों के समान महत्वपूर्ण एवं प्रतिष्ठित माना जाता था।

बोर्निओ में शिवपूजा प्रचलित हो गयी थी इस का भी संकेत एक अभिलेख से प्राप्त होता है; जिस में कहा है,

श्रीमतो नृपमुख्यस्य राज्ञः श्रीमूलवर्म्मणः। दानं पुण्यतमे क्षेत्रे यद्दत्तं वप्रकेश्वरे।।

द्विजातिभ्योऽग्नि कल्पेभ्यः विंशतिं गोसहस्रिकम्। तस्य पुण्यस्य यूपोऽयंकृतो विप्रेरिहागतैः।।

वप्रकेश्वर भारत के ज्योतिर्लिंग स्थान के समान एक पुण्यक्षेत्र होगा जहाँ पर राजाने यज्ञ किया। यज्ञ के लिये 'यूप' का निर्माण करवाया। यूप का निर्माण करनेवाले, यज्ञ की वेदी को रचानेवाले एवं यज्ञ सम्पन्न करानेवाले ब्रहमवृंद भारत से आये हुए थे। भारत में इस समय गुप्त साम्राज्य था। गुप्त कालीन भारत का संबंध दक्षिणपूर्वी द्वीपों के साथ घनिष्ठ था। भारतीय शासकों का ही आदर्श सम्मुख होने के कारण इन द्वीपों पर शासन करनेवाले नृपति राज्यव्यवहार, और धार्मिक व्यवहार में उनका अनुसरण करते थे। भारत से यज्ञ हेतु आमंत्रित किये हुए ब्राहमणों को २० हजार गौ की दक्षिणा यह तो उस काल की स्वाभाविक प्रथा थी। यह दान उनके उचित कार्य का परामर्श था।गौ को धन के रुप में देखा जाता था।

बोर्निओ की पश्चिम दिशा में सुलावेसी (सेलीबीज) द्वीप समूह है। दक्षिण में जावा समुद्र है। जावा से बोर्निओ में आवागमन स्वाभाविक एवं सरल था ही। बोनिओं के लगभग मध्य से विषुववृत्त की रेखा जाती है। उत्तर-दक्षिण दिशा में बोर्निओ के मध्य पर्वत शृंखला है जिसके गुनुंग (शिखर) औसतान २ हजार मीटर उँचे है। इस पर्वत की मध्य शृंखला याने मरल पर्वत, जिस का और एक नाम है आर्य पर्वत। इस पर्वत से महाकाम नदी निकलती है जो सुलावेसी सागर में गिरती है। सारे अभिलेख इसी क्षेत्र में याने तोरुम प्रांत में प्राप्त हुए है। महाकाम नदी

के मुहाने से ४८ किलोमीटर अन्दर समरिन्द नगर है जो आज तोरम प्रांत की राजधानी है। समरिंद से दक्षिण मे सागरतट पर वालीक पापान बन्दरगाह हैं। प्रथम भारतीय उपनिवेश कुण्डुंग ने इसी प्रदेश मे स्थापित किया गया होगा। अश्ववर्मा के समय पूर्व बोर्निओ में कारीमाता द्वीप समूह और कापुआस नदी के तटपर भारतीयो ने और उपनिवेश स्थापित किये। अर्थात् अनेक राज्यो का निर्माण हुआ होगा, जिन का इतिहास अतीत मे खो गया हैं। कापुआस नदी के तटवर्ती प्रदेश में वटो पहत में चट्टानों पर उत्कीर्ण लेख प्राप्त हुए है। कुल आठ लेख हैं जो बौध्द पंथ के प्रभाव के निर्देशक है। बौध्द तत्व के महत्त्वपूर्ण सूक्त इन अभिलेखों में उत्कीर्ण किये है।

ये धर्मा हेतु प्रभवा तेषां हेतुं तथागतो ह्यवदत् ।
तेषांच यो निरोध एवं वादी महाश्रमणः।।
अज्ञानाच्चीयते कर्म जन्मनःकर्म कारणम् ।
ज्ञानान्न क्रियते कर्म कर्माभावान्न जायते।।

मलेशिया में प्राप्त अभिलेखों से बोर्निओ के ये अभिलेख साम्य रखते हैं।

अन्य पुरातत्वीय अवशेष

अभिलेखों के अलावा कतिपय पुरातत्त्वीय अवशेष बोर्निओ में प्राप्त हुए हैं। मुअरा कामङ् के उत्तर में तेलेन नदी की ऊपरी धारा के पूर्व में कोम्बेङ् नामक स्थान पर एक गुँफा है। इस गुँफा मे दो कक्ष में बलुए पत्थर से निर्मित १२ मूर्तियाँ और पत्थर की कलाकृतियाँ तथा लकडी की कडियाँ प्राप्त हुई है। शिव, गणेश, अगस्त्य, ब्रह्मा, नन्दी, नन्दीश्वर, स्कंद और महाकाल की मूर्तियाँ इसमें है।

शिव की मूर्ति बहुत ही सुंदर है। शिवजी कमलासन पर खडे है। दायी भुजाओं में माला और त्रिशूल है। बाये हाथ में चमर है। सिर पर मुकुट है। गलेमें माला है। पैरों में कडे पहने हुए है। तृतीय नेत्र बन्द है और मुद्रा सौम्य प्रसन्न है। सारी मूर्तियाँ शुध्द भारतीय कला की प्रतीक है। सम्भवतः महाकाम नदी के तट पर ही कहीं अद्‌भुत् मन्दिर रहा होगा। उस मंदिर में इन देवताओं का निवास होगा। कालचक्र की गति में आक्रामकों के भयसे भक्तों ने मूर्तियों को कोम्बेङ् की गुँफा में लाकर छिपा दिया।

मूलवर्म्मा के समय सम्पूर्ण बोर्निओ द्वीप एक साम्राज्य में परिवर्तित हुआ। अतः अभिलेखो ने उस की प्रशंसा करते समय उसे पृथ्वी विजेता कहा और राजा युधिष्ठिर से उसकी तुलना की।

।।श्री मूलवर्मन राजेन्द्रः समरे जित्वा पार्थिवान् स करदान यथा राजा युधिष्ठिरः।।

दक्षिण, पूर्व और पश्चिम बोर्निओ में जिस प्रकार पुरातत्वीय सामग्री प्राप्त हुई है उसी

प्रकार उत्तर बोर्निओ भी भारतीय संस्कृति से ओतप्रोत हो गया था। सारावाक में हिंदू एवं बौध्द देवताओं के मन्दिर थे लिंवंग में श्रीगणेश की मूर्ति प्राप्त हुई है। यह मूर्ति गुप्तकालीन गणेश प्रतिमा का स्मरण कराती है। सारावाक में भी वज्रयान तांत्रिक बुध्द पंथ ने प्रवेश किया था। सन्तुबोंग में बुध्द की गुप्तकालीन मूर्ति प्राप्त हुई। सन्तुबोङ् के पास ही बोंगकिस्सम में बुध्द स्तूप के अवशेष प्राप्त हुए हैं। स्तूप के अधिष्ठान पर का चबुतरा ८ फूट X १० फूट का पाया गया। उसके नीचे तल में रजत की पेटी प्राप्त हुई। इस मंजुषा (सन्दुक) में बुध्द की धातु थी। कुल १४२ सुवर्ण की वस्तुएँ मिली है। इनमें कमल, हाथी, कछुआ चंद्रकोर, सर्प, सुर्य, मनुष्याकृतियाँ एवं मणी तथा अँगुठियाँ आदि वस्तुएँ है। स्तूप की रचना के पत्थर सारे परिसर में फैले है। दुर्भाग्यवश स्तूप की केवल कल्पना ही की जा सकती है। ध्वस्त अवशेष रचना का केवल आभास ही दिलाते हैं।

बोर्निओ में अपनी स्वतंत्र शासनसत्ता कायम नही रह सकी। श्रीविजय के शैलेन्द्र साम्राज्य के अधीन रहा। उसके पश्चात जावा के मजपहित साम्राज्य के अंकित रहा।

इन्डोनेशिया में और एक द्वीप का समावेश है। लगभग ४ लाख ३० हजार वर्ग किलोमीटर क्षेत्र का यह द्वीप है वर्तमान सुमात्रा। दक्षिण पूर्व एशिया के इतिहास में अद्‌भुत योगदान प्रदान करनेवाला यह द्वीप प्राचीन सुवर्णद्वीप है।

सुवर्णद्वीप (सुमात्रा)

अतीत की एक वैभवशाली घटना

एक हजार तीन सौ वर्ष पूर्व की एक घटना है। शैलेन्द्र की राज्यलक्ष्मी महानगरी 'श्री विजय' शैलेंद्र वंश के बलाढ्य साम्राज्य की रत्नजडित नगरी। पर्व के अवसर पर सजी हुई नव-परिणीता के समान बन ठन कर श्री विजय नगरी तैयार हुई थी। नगरी के प्राचीर का विशाल प्रवेशद्वार काञ्चन वर्ण से चमक रहा था। प्रवेशद्वार के दोनो ओर शिल्पांकित स्तम्भों पर जडे हुए नीलमणि जगमगा रहे थे। ऊपर तोरण के मध्य में जडा हुआ विद्याधर नामक हीरा सूर्यकिरणों से झिलमिला रहा था। इस विद्याधर तोरण से भव्य राजमार्ग सीधा राजप्रासाद तक जा रहा था। विस्तीर्ण राजमार्ग के दोनो ओर द्वितलीय, त्रि-तलीय प्रासाद थे। बीच में सप्ततलीय विशाल भवन भी मस्तक उँचा उठा कर गर्व के साथ खडे थे।

प्रत्येक भवन और प्रासाद के सामने आँगन में और राजपथ पर गृहिणियों ने केसर जल का छिडकावा किया था, जिस की मन्द सुगन्ध वायुमण्डल में गमक रही थी। प्रांगण की शुभ्र अल्पनाओं के कारण राजमार्ग के दोनो ओर बेलबुटेदार बन गये थे। राजमार्ग पर स्थान स्थान पर

पुष्पतोरण बनाये गये थे। चतुष्पथों (चौराहों) पर कदली स्तंभ खडे कर उनमें आम्रपर्ण की मालाएँ बाँधी थीं। दूरस्त्र बुध्द मंदिर से आने वाले मधुर वाद्य के मंगल स्वर वातावरण में गूंज रहे थे।

राजप्रासाद में बडी व्यस्तता दिखाई दे रही थी। समग्र राजपरिवार सजा हुआ था। प्रासाद के प्रांगण में एक ओर प्रभावी सैनिक वाहिनियाँ मानवन्दनाके हेतु सज्ज हो अनुशासन के साथ खडी थी। प्रासाद के समीप स्तूप के पास भव्य सभा मण्डप खडा किया गया था। सभामण्डप की ओर जानेवाले रेखित मार्ग पर एकाध काषाय - वस्त्रधारी भिक्षु 'कही मुझे देर तो नही हुई' ऐसी आशंका भरी मुद्रा से जाते हुए दिखाई पड रहे थे। प्रासाद के प्रवेशद्वार पर एक अलंकृत गजराज अपने शुण्ड में पुष्पमाला लिये महावत के आदेश की प्रतीक्षा में शान्त खडा था।

यह सारी सिध्दता किसलिये हो रही थी? ऐसा कौन भाग्यशाली अभ्यागत था जिसके लिये श्रीविजय नगरी इतनी आनन्दविभोर हो गई थी?

प्रसंग ऐसा ही महत्वपूर्ण था। भारत माता का एक सुपुत्र सुवर्णद्वीप को भेट देने आ रहा था। भारतभूमि और सुवर्णद्वीप का नाता नितान्त स्नेह का, आत्मिक, माता और पुत्र का। भारत से आनेवाला कोई भी हो... श्रीविजय के लिये उसका आना पर्व होता था... वह हमसे स्नेह करें, हमारी प्रशंसा करें, पीठ पर हाथ फेरे... इसी में सुवर्ण द्वीप की जनता अपने को कृतार्थ मानती थी।

और आज का अतिथी सामान्य नही था... नालन्दा विद्यापीठ के कुलगुरु, आचार्य, धर्मपाल, श्रीविजय को अल्पकालीन भेट देने आ रहे थे। यह भेंट एक राजा की दूसरे राजा से नही थी। प्रत्युत् एक धर्मचक्रप्रवर्तक आचार्य धर्मरक्षक राजा की राजधानी पधार रहे थे। भारत के विद्या-विभूषित आचार्य का शैलेन्द्र सम्राट और उसकी प्रजासे ऐसा ही नाता था।

आचार्य धर्मपाल की यह सुवर्णद्वीप की यात्रा कलियुगाब्द ३९ (ख्रि. ८) वी शती में हुई थी जब सुमात्रा में शैलेन्द्र वंश राज्य कर रहा था। श्रीविजय अर्थात् वर्तमान पलेम्बंग राजधानी थी। मलयद्वीप (मलाया) यवद्वीप (जावा) वरहिण द्वीप (बोर्निओ) और सैंकडो छोटे द्वीप श्रीविजय साम्राज्य के अंकित थे।

सुमात्रा का प्रथम भारतीय उपनिवेश

कलियुगाब्द ३५ वी (ख्रि. ४ थी) शती में सुमात्रा में भारतीय उपनिवेश स्थापित हो गये थे। कलियुगाब्द ३४९४ (ख्रि. ३९२) में भिक्षु कालोदक ने एक बौध्द ग्रंथ का चीनी भाषा में अनुवाद किया। उसमें जम्बूद्वीप का वर्णन करते समय लिखा गया है कि "समुद्र में २५० राज्यों

की सत्ता है। उनमें एक 'विजय' नामक राजसत्ता है।"

श्रीविजय (पलेम्बंग) का यह प्रथम उल्लेख है। कलियुगाब्द ३७८५ (ख्रि. ६८३) का एक अभिलेख उस समय के सेनापती या मंत्री जयनाग का उल्लेख करता है। श्री विजय अर्थात् वर्तमान पलेम्बंग के पश्चिम में ५ किलोमीटर दूरीपर तलंग तुवो ग्राम में यह अभिलेख प्राप्त हुआ। शिलालेख पल्लव ग्रंथ लिपी में उत्कीर्ण किया हुआ है। चैत्र शुध्द द्वितीया शालीवाहन शक ६०६ तिथी का स्पष्ट उल्लेख है। "महाराज की सूचना के अनुसार श्री जयनाग ने राजधानी के निकट श्री क्षेत्र उद्यान का निर्माण किया। एक तलाव (सरोवर) का निर्माण किया। विविध वृक्ष लगवाये।" इसकी जानकारी अभिलेख में है।

दूसरा महत्वपूर्ण अभिलेख बुकित सेगुंतंग पहाडी के निकट सुंगी तलङ् नदी के किनारे 'केडुकन बुकित' ग्राम में प्राप्त हुआ। यह अभिलेख एक सागरी अभियान की जानकारी देता है। इस अभियान को 'श्रीविजय सिध्द यात्रा' कहा हैं। दो लक्ष सेना ने इस अभियान में भाग लिया था।

सुमात्रा के सागर तट से केवल ११ किलोमीटर दूरी पर "बङ्का" नामक छोटा द्वीप है। वहाँ मेन्दुक नदी के तटपर कोट कपूर ग्राम में प्राप्त शिलालेख वैशाख शुध्द प्रतिपदा शक ६०८ अर्थात् कलीयुगाब्द ३७१० (ख्रि. ६०८) का है। उस समय जावा श्री विजय साम्राज्य के अधीन नही था। भूमि जावा पर नौसैनिकी अभियान किया गया इस की सूचना अभिलेख में है। जो प्रजा राजनिष्ठ है उसका अभिनन्दन तथा द्रोह करनेवाले प्रजा के लिये सावधानता की सूचना भी अभिलेख देता हैं।

यह श्री विजय जहाँ शैलेन्द्र राजवंश था कलियुगाब्द ३८ वी (ख्रि. ७ वी) शती के उत्तरार्ध में एक बलशाली हिन्दू सत्ता बन गयी। भारत में गुप्त साम्राज्य का जो ऐतिहासिक महत्व था वही शैलेन्द्र साम्राज्य का दक्षिण पूर्व एशिया में दिखाई देता है।

दक्षिण पूर्व एशिया का सुवर्णयुग

सम्भवतः शैलेन्द्र वंश के पूर्वज भी भारत से ही आये थे यद्यपि कुछ इतिहासकार उन्हे चम्पा एवं कंबुज के शैलराज वंश से जोडते है। मलाया, जावा, सुमात्रा, बोर्निओ, फिलिपाइन्स इन प्रशान्त सागर के द्वीपों पर कतिपय भारतीय उपनिवेश स्थापित हुए थे। शैलेन्द्रों ने उन सभी को एक शासकीय सूत्र में बाँधकर विशाल साम्राज्य का निर्माण किया। उनके द्वारा शक सम्वत का प्रयोग तथा अभिलेखों में विशुध्द भारतीय राजाओं की परम्परा का पालन करने के आधार पर शैलेन्द्र वंश को भारतीय मूल का कहा जा सकता है।

शैलेंद्र वंश ने राजकीय एकता के साथ स्वाभाविक सांस्कृतिक एकीकरण का आविष्कार

प्रकट किया। आर्थिक दृष्टि से भी अद्भुत सम्पन्नता प्राप्त करा दी। चीन और भारत के मध्य स्थित यह महान सागरी सत्ता थी। शैलेन्द्रों का नाविकदल अजेय था। शैलेन्द्र वंश के प्रतापी सम्राटों का क्रमबध्द इतिहास अभी तक उपलब्ध नही हुआ है।

कलियुगाब्द ३८७७ (ख्रि. ७७५) का लिगोर (मलाया) अभिलेख श्री विष्णु नाम के शैलेन्द्र सम्राट का परिचय देता है। जो बौध्द पंथी था और उसने शाक्यमुनी, अवलोकितेश्वर और वज्रपाणि के मन्दिरों का निर्माण कराया। मलाया पर शैलेन्द्रों का ही अधिपत्य था। जावा के दो अभिलेखों से ज्ञात होता हैं कि वहाँ पर भी कोई शैलेन्द्र राजवंश की शाखा शासन कर रही थी। कलियुगाब्द ३८८० (ख्रि. ७७८) के इस कलसन् (जोगजाकर्ता - जावा) ग्राम में प्राप्त अभिलेख में कहा गया है,

राज्ये प्रवर्धमाने राज्ञः शैलेन्द्र वंशतिलकस्य।
शैलेन्द्रराज गुरुभिस्तारा भवनं कृतं कृतिभिः।
शकनृपकालातीतैर्वर्षशतैः सप्तभिर्महाराजः।
अकरोद्गुरुपूजार्थं ताराभवनं पणंकरणः।
ग्रामः कालसनामा दत्तः संघाय साक्षिणःकृत्वा।।

(शैलेन्द्र वंशतिलक राजा के समृध्दशाली राज्य में शैलेन्द्र राजाओं के राजगुरुओं द्वारा तारा - मंदिर का निर्माण कराया गया। शक सम्वत ७०० में शैलेन्द्र महाराजा पणंकरण ने अपने गुरु के सम्मान में एक तारा मन्दिर बनवाया। कालस नामक गाँव बौध्द संघ को दान में दिया)

जावा के जोगजाकर्ता प्रदेश के केलुरक नामक स्थान से अन्य एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि शैलेन्द्र वंश तिलक राजा धरणीन्द्र का गुरु कुमारघोष था। कुमारघोष गौड देश का निवासी था। राजाने कुमारघोष द्वारा मंजुश्री की मूर्ति प्रतिष्ठापित की थी। राजाने यह अनुरोध भी किया कि भावी नृपति इस धर्मसेतु की रक्षा के लिये सदा तत्पर रहे। अभिलेख के अन्त में श्री संग्राम धनञ्जय राजा का उल्लेख है जो इन्द्र (धरणीन्द्र) का उत्तराधिकारी था और राजगुरु कुमारघोष का उसने सत्कार किया था।

सम्राट श्री बालपुत्र -

भारत में बिहार एवं बंग प्रदेश में कलियुगाब्द ३९४३ (ख्रि. ८४१) में पालवंश के राजा देवपाल का शासन था। उसका एक ताम्रपत्र नालन्दा (बिहार) की खुदाई में प्राप्त हुआ। सुवर्णद्वीप के महाराज श्री बालपुत्र देव अर्थात् श्रीविजय के शैलेन्द्र सम्राट ने नालन्दा में एक विहार बनवाया था। पालवंशी राजा देवपाल की सेवा में अपने दूत भेजकर बालपुत्र देवने उस विहार की स्थायी व्यवस्था करने की प्रार्थना की थी। प्रार्थना को सहर्ष स्वीकार कर देवपाल ने राजगृह विषय

(जिले) के नन्दिवनक, मणिवाटक, नटिकाग्राम तथा हस्तिग्राम और गया विषय के पालमक ग्रामों को विहार के व्यवस्था हेतु दान किया। इन ग्रामों की आय से 'चतुर्दिशार्य्य भिक्षुसंघ के "बलिचरु - सत्रिचीवर पिण्डपातशयनासनग्लानप्रत्मय भैषज्य" आदि का खर्च चलाना था।

इस ताम्रपत्र में सुवर्णद्वीप के राजा का परिचय कराते समय लिखा है,

आसीदशेषनरपाल विलोल मौलिमालामणि द्युति विवोधितपादपद्म।
शैलेन्द्रवंशतिलको यवभूमिपालः श्रीवीरवैरिमथनानुगताभिधानः।।
तस्या भवन्नयपराक्रम शीलशाली राजेन्द्र मौलिशत दुर्ललितांध्रियुग्मः।
सूनुर्युधिष्ठिर पराशर भीमसेन कर्ण्णार्जुनाज्र्जित यशाः समराग्रवीरः।।

(शैलेन्द्र वंश को भूषित करनेवाला यवद्वीप का नरेश श्रीवीरवैरिमथनानुगत कहलाता था। युधिष्ठिर, भीमसेन, कृष्ण एवं अर्जुन के समान समरांगण में आगे रहकर जिनपर विजय प्राप्त किया है ऐसे शतावधि शरणागत शत्रुओं के मुकुट और उनके गलेकी रत्नमालाएँ उसके चरणों को स्पर्श करती थीं।)

अभिलेख में आगे लिखा है, "इस शैलेन्द्रवंशतिलक यवभूमिपाल का पुत्र समराग्रवीर था। उसका विवाह चंद्रवंश के श्रीधर्मसेतु की कन्या तारा के साथ हुआ था। समराग्रवीर को तारा से एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका नाम श्री बालपुत्र था। उसने नालन्दा में एक विहार का निर्माण कराया। और उसके कतिपय खर्चों को चलाने के लिये पालवंशी राजा देव पाल से दूत द्वारा अनुरोध कर पाँच ग्राम दान में दिलवाये।

दक्षिण भारत में चोलवंशी राजा राजकेसरीवर्मा का एक विस्तीर्ण ताम्रपत्र उपलब्ध हैं। यह अभिलेख संस्कृत एवं तामिल दोनो भाषाओं में है। अभिलेख के अनुसार शैलेन्द्र वंशी राजा श्रीमारविजयोत्तुंगवर्माने अपने पिता चूडामणिवर्मा के नामपर नागपट्टण में एक बौध्द विहार का निर्माण कराया था। इस विहार में निवास करनेवाले भिक्षुओं के खर्च को चलाने के लिये चोल राजा राजराज ने एक ग्राम दान में दिया था। मारविजयोत्तुंगवर्मा को अभिलेख में शैलेन्द्रवंशसंभूत (शैलेन्द्र वंश में उत्पन्न), श्रीविषयाधिपति और कटाहद्वीप पर अपने अधिपत्य को विस्तृत करनेवाला कहा गया है।

अरबी लेखकोंने भी शैलेन्द्र साम्राज्य का वर्णन किया है। मसूदी (कलियुगाब्द ४०४५ - ख्रि. ९४३) ने लिखा है कि (शैलेन्द्र) महाराज का साम्राज्य अत्यन्त विशाल है। उसकी सेना अनगिनत है। जो द्वीप इस महाराज के अधिपत्य में है, तेज से तेज जहाज भी दो साल में उनका पूरा चक्कर नही लगा सकता। संसार का कोई भी राजा उसके समान धनी नही है।" अरबी लेखक इस राज्य को 'जावक' या जावा कहते थे।

कलियुगाब्द ३८७६ (ख्रि. ७७४) में शैलेन्द्रों की नौ सेना ने कम्बुज (कंबोडिया) और चम्पा (विएतनाम) पर भी आक्रमण कर दिया। चम्पा को स्थायी रुप में अपने साम्राज्य में रखना शैलेन्द्रों के लिये संभव नही हुआ। अरबी व्यापारी सुलेमान के (कलियुगाब्द ३९५३, ख्रि. ८५१) विवरण से कंबुज याने ख्मेर पर शैलेन्द्रों द्वारा आक्रमण की जानकारी मिलती है। शैलेन्द्र सत्ता के समृध्द साम्राज्य से ख्मेर राजा अप्रसन्न था। शैलेन्द्र राजा को नष्ट करने की उसकी इच्छा थी। शैलेन्द्र राजा ने १००० जहाजों से कंबुज पर आक्रमण किया और ख्मेर राजा को पूरी तरह परास्त किया।

इब्न खोरदाद और सौदागर सुलेमान के विवरण से शैलेन्द्र राज्य की आर्थिक समृध्दि का भी पता चलता है। उनके अनुसार महाराज (शैलेंद्र) की दैनिक आमदनी २०० मन सोना थी। महाराज इस सोने को ठोंस ईंटो के रुपमें परिवर्तित करके जल में फेककर संग्रहित करता था। महाराज का खजाना जल में ही था।

श्री विजय - भारतीय संस्कृति का प्रभावी केन्द्र।

श्री विजय दक्षिणपूर्व एशिया का प्रभावी केन्द्र था। पश्चिम में भारत और भारतद्वारा पश्चिम और मध्य एशिया, ग्रीस, रोम, इजिप्त तक व्यापारी संबंध थे। उत्तर पूर्व में चीन, जपान, कोरिया तक जलमार्ग से आवागमन था। इस समय पूर्व का सारा विश्व तो बुध्द उपासक बन गया था। बौध्द धर्म के तीर्थक्षेत्र भारत में थे। बौध्द तत्वों की शिक्षा देने वाले विश्वविद्यालय भारत में थे। भारत पुण्यभूमि थी, बुध्दभूमि थी, ज्ञान विज्ञान की भूमि थी। सभी बौध्द पंथी देशों के लिये भारतभूमि प्रेरणास्रोत थी। भिन्न भिन्न देशों से भिक्षु भारत की यात्रा हेतु निकलते थे। मार्ग सुवर्णद्वीप होकर जाता था। भारत से भी कतिपय आचार्य स्थविर उन देशों की यात्रा करते थे। उनका जलमार्ग भी सुवर्णद्वीप होकर ही जाता था।

प्रसिध्द चीनी यात्री इत्सिंग कलियुगाब्द ३७७३ (ख्रि. ६७१) में चीन से भारत की यात्रा करने हेतु निकला। जलमार्ग से २० दिन का प्रवास करके वह सुवर्णद्वीप अर्थात् सुमात्रा में पहुँचा भारत में जाकर वह बौध्द ग्रंथों का आमूल अध्ययन करना चाहता था। परन्तु उस समय नालन्दा विद्यापीठ में प्रवेश मिलना सरल नही था। प्रवेशार्थी को प्रथम प्रवेश परीक्षा देनी पडती थी। प्रवेश परीक्षा में केवल ३० प्रतिशत विद्यार्थी उत्तीर्ण होते थे। संस्कृत भाषा अनिवार्य थी।

सुमात्रा इस समय भारतीय विद्या का केन्द्र बन चुका था। इत्सिंग ने पहला पडाव श्री विजय में ही रखा। वहाँ छः मास रहकर उसने वहाँ के आचार्यों के पास संस्कृत व्याकरण का अध्ययन किया। उसके आधारपर उसे नालंदा विश्वविद्यालय में प्रवेश प्राप्त हुआ। चौदह वर्ष भारत में निवास कर यह बुध्दिमान चीनी यात्री पुनः सुवर्णद्वीप में आया। अपने साथ वह सैंकडो

संस्कृत ग्रंथ लाया था। वह उनका चीनी भाषा में अनुवाद करना चाहता था। अनुवाद कार्य की दृष्टि से आवश्यक सन्दर्भ ग्रंथ और कठिनाई के समय आवश्यक अधिकारी व्यक्ति का मार्गदर्शन इत्सिंग को सुमात्रा में मिल सकता था। सुवर्णद्वीप सर्वार्थों में भारत की प्रतिकृति था। इत्सिंग ने लिख रखा है कि भारत का वायुमण्डल, धर्म, पंथ, चालचलन, रुढि परम्परा, समाज रचना, उत्सव पर्व, वेशभूषा, भाषा आदि सब यथावत् सुवर्णद्वीप में भी हैं। वह छःवर्ष सुवर्णद्वीप में रहा और अपना कार्य सम्पन्न कर चीन वापस गया। सांस्कृतिक दृष्टिसे शैलेन्द्र काल में सुवर्णद्वीप के उच्च स्थान की कल्पना एक दृष्टान्त से आ सकती है। नालंदा विश्वविद्यालय के समान भारत में विक्रमशिला विश्वविद्यालय भी विख्यात था। बंगाल के पाल राजाओं ने इस की स्थापना की थी। विद्वान आचार्यों की उज्ज्वल परम्परा इस विश्वविद्यालय की भी उपलब्धि थी। आचार्य अतीश दीपंकर विक्रमशिला विश्वविद्यालय के कुलगुरु थे। उनका अध्ययन सुवर्णद्वीप में हुआ था। दस वर्ष तक उन्होंने सुवर्णद्वीप के आचार्य धर्मकीर्ति का अन्तेवासी बनकर शिक्षा ग्रहण की थी। इस प्रकार भारत के प्रख्यात विश्वविद्यालय के लिये विद्वान और योग्य कुलगुरु की आपूर्ति कर सुवर्णद्वीप ने मानो अपने गुरु के शताब्दियों के ऋण के प्रति अपनी श्रध्दा के सुमन गुरुदक्षिणा के रुपमें समर्पित किये।

भारत के पूर्वी तटपर नागपट्टनम (नेगापट्टन) में चूडामणिवर्मदेव द्वारा विहार का निर्माण तथा श्रीबालपुत्रदेव द्वारा नालन्दा में विहार का निर्माण केवळ श्रध्दा का आविष्कार नही था। शैलेन्द्र राजाओंने विचार पूर्वक भारत में ये केन्द्र प्रस्थापित किये थे। देशविदेश के स्थविर, आचार्य, भिक्षु वहाँपर निवास करते थे। नागपट्टनम् पूर्वी तट का द्वीपान्तर का प्रवेशद्वार था। चूडामणिवर्मदेव विहार के अवशेष संभवतः एक मस्जिद के रुप में नेगापट्टन बंदरगाहपर आज विद्यमान है।

चोल और शैलेन्द्र - एक दुर्भाग्यपूर्ण संघर्ष -

कलियुगाब्द ४११९ (ख्रि. १०१७) में दो शक्तिशाली सागरी सत्ताओं का संघर्ष शैलेन्द्र सत्ता के विनाश का कारण बना। दक्षिण भारत में चोल वंशी राजा बडे प्रतापी थे। दक्षिण भारत के प्रायः सभी प्रदेश तथा मालद्वीप समूह उनके अधीन था। राजराज प्रथम (कलियुगाब्द ४०८७ - ख्रि. ९८५) ने कलिंग भी जीत लिया था। बंगाल जीतकर गंगातट तक चोल साम्राज्य का उसने विस्तार किया। राजराज का पुत्र राजेन्द्र प्रथम ने 'गङ्गैकोण्ड' उपाधि धारण की।

हिंदु महासागर और बंगाल की खाडी के पश्चिमी तट पर चोल साम्राज्य था और उनके पूर्वी तटपर शैलेन्द्र साम्राज्य स्थित था। जलशक्ति में दोनो साम्राज्य अत्यन्त समृध्द थे। राजराज प्रथम के समय शैलेन्द्र साम्राज्य के राजसिंहासन पर श्री चूडामणिवर्मदेव विराजमान था। दोनो

सम्राटों में मित्रता थी। परन्तु उनके मृत्यु के पश्चात ये सम्बंध कायम नही रहे। राजेन्द्र प्रथम ने शैलेन्द्र राजा श्री संग्राम विजयोत्तुंगवर्मा पर आक्रमण किया। भयानक संघर्ष के पश्चात् शैलेन्द्र राज पराजित हो गया। चोल सेना ने श्री विजय की सम्पत्ति लूट ली। चोल राजेन्द्र के लिये शैलेन्द्र साम्राज्यपर कायम अधिपत्य रखना असंभव था। उसके लौटते ही शैलेन्द्रो ने अपनी स्वाधीनता घोषित की। संघर्ष दो पीढी तक चलता रहा। तद्नंतर चोल साम्राज्य भी क्षीण हो गया।

शैलेन्द्र सत्ता भी इस विनाशकारी संघर्ष से फिर उभर नही सकी। शैलेन्द्रों के अधीन राजा अपने अपने द्वीपोंपर स्वाधीन होते गये। राजनीति का अधिष्ठान सत्ता लालसा नही धर्म होना चाहिये। सांस्कृतिक आधारपर समानशील सत्ताओं में आत्मीयता एवं परस्पर सहकारिता के संबंध रहने चाहिये। इतने दूरस्थ सागर पार की भारतीय सत्ताओं को भारतीय सत्ताओं से आधार व मार्गदर्शन की अपेक्षा थी। परन्तु केवल आर्थिक एवं राजनैतिक प्रभुत्व की महत्वाकांक्षा दोनो सत्ताओं के विनाश का कारण बनी।

जावा के मध्य भाग में इसी समय और एक शक्तिशाली साम्राज्य का उदय हुआ।

यवद्वीप का मतराम साम्राज्य

जावा के मध्य भाग में केडू प्रदेश में अतीव रमणीय पहाडी है। इस पहाडी की उपत्यका में प्राचीन शिवमन्दिर के भग्नावशेष दिखाई देते है। बारह सौ वर्ष पूर्व के ये अवशेष जावा के वैभवशाली प्राचीन इतिहास के साक्षी है। कलियुगाब्द ३८३४ (ख्रि. ७३२) का पल्लव लिपी में उत्कीर्ण शिलालेख जावा के प्राचीन इतिहास का सुवर्णपृष्ठ सम्मुख लाता है। उस कालके पराक्रमी राजा सञ्जय के संदर्भ में इस अभिलेख में लिखा है,

राजा शौर्यादिगुण्यो रघुरिव विजितानेत सामन्तचक्रः।
राजा श्रीसन्जयाख्यो रविरिव यशसा दिग्दिग्विख्यात लक्ष्मी।।

प्रजा की इच्छानुसार राजा की आज्ञा से मन्दिर का निर्माण तो हो गया। प्राणप्रतिष्ठा का मुहूर्त था शक संवत्सर ६५४ (६ अक्तूबर ७३२) दोपहर १ बजे। राजाने शिवलिंग की प्रतिष्ठापना की। इसी हेतु भारत से आये हुए पुरोहितों ने राजा संजय से प्राणप्रतिष्ठा कराई।

ब्रहमा, विष्णु और महेश की स्तुति के अनन्तर यह अभिलेख यवद्वीप (जावा) की प्रशंसा करता है। और फिर उस समय का इतिहास प्रकट होता है।

"राजा सन्नाह ने शत्रुओं को परास्त कर मनु के समान शासन किया और जनक (पिता) की तरह प्रजा का पालन किया। सञ्जय उसका पुत्र था। उत्तराधिकारी था। वह बुध्दिमान् लोगों द्वारा सम्मानित था। (श्रीमान यो माननीयो बुधिजन निकरैः)। वह शास्त्रसूक्ष्मार्थवेदी अर्थात्

शास्त्रों के गूढ तत्वों का ज्ञाता था। "वह रघू के समान शौर्य संपन्न था। उनके सामन्त राजाओं को जीतकर उसने उनको अपने अधीन बनाया था" यही समय था श्रीविजय के शैलेन्द्र साम्राज्य के विस्तार का। साम्राज्य के अधीन रहकर सञ्जय ने ही साम्राज्य का विस्तार किया। साम्राज्य की प्रतिष्ठा स्थापित की। मध्य जावा में प्रम्बनन में उसने अपनी राजधानी रखी।

संजय के उत्तराधिकारी राजाओं को संघर्ष करने पडे। राजधानी को पूर्व जावा में स्थलान्तरित करना पडा। परन्तु तीन पीढीयों के पश्चात् फिर से प्रम्बनन के निकट ही मतराम में उन्होने राजधानी का निर्माण किया। स्वाभाविकतः यह राज्य मतराम साम्राज्य के नाम से विख्यात हुआ। उस समय के अभिलेखों में व ताम्रपत्रों में मतराम नरेशों के बहुत से नाम आते है।

'श्री महाराज रकई वतुकुर घः बलितुंग धर्मोदय महाशंभु' इस प्रकार से विस्तीर्ण बिरुद सहित नाम शिलालेखों में आते है। महाशंभु का उत्तराधिकारी दक्षोत्तम था। धर्मोदय नामक व्यक्ति महाशंभु के शासन में महामंत्री के पद पर था। उसके तीन अभिलेख प्राप्त हुए है। वह अत्यंत न्यायी और प्रजाहिदक्ष राजा था।

कलियुगाब्द ४०३० (ख्रि. ९२८) तक मतराम राज्य वैभव के शिखर पर था। उस समय मध्य एवं पूर्व जावापर भी मतराम का शासन था। लगभग २८ राज्य मतराम के अधीन थे। दो सौ वर्ष का यह मतराम राज्य का काल कला की दृष्टी से एक सम्पन्न युग था। मतराम राजा शैव पंथी थे। उनके स्वामी शैलेंद्र बौध्द पंथी थे। जावा में इस काल में अद्वितीय मन्दिर और स्तूपों का निर्माण हुआ।

जावा में बौध्द पंथ का महान प्रचारक गुणवर्मा -

शैलेन्द्र साम्राज्य का उदय होने के पूर्व ही जावा, सुमात्रा, मलाया आदि द्वीपों में बौध्द पंथ का प्रसार हुआ था। इसका श्रेय महान् बौध्द आचार्य गुणवर्मा को दिया जाता है। गुणवर्मा क्षत्रिय था। कश्मीर का राजपुत्र था। तीस वर्ष की आयुमें कश्मीर के राजसिंहासन का पद प्राप्त हो रहा था। परन्तु गुणवर्मा ने राजपद अस्वीकार किया। श्रीलंका में जाकर बौध्द तत्वों का अध्ययन किया। साक्षात्कार हो गया। ज्ञानप्राप्ति होते ही सुवर्णद्वीप की ओर प्रस्थान किया। जावा की राजमाता ने गुणवर्मा से दीक्षा ली। श्रीलंका (सिंहलद्वीप) में गुणवर्मा ने 'अभिधर्म - महा-विभास' शास्त्र का विशेष अध्ययन किया था। हीनयान पंथ के मूलसर्वास्तिवाद - निकाय के वे प्रचारक थे। गुणवर्मा की सुवर्णद्वीप यात्रा के कुछ पहले ही विख्यात चीनी बौध्द भिक्षु जावा की यात्रा करके लौट गये थे।

जनश्रुति के अनुसार गुणवर्मा के जावा पहुँचने के एक दिन पहले जावा की राजमाता ने

सपने देखा था कि उस के राज्य में एक पवित्र व्यक्ति तीव्रगामी नाव द्वारा जावा पहुँचा है। स्वाभाविकतः राजमाता के आदेशपर गुणवर्मा का भव्य स्वागत हुआ। उनके तेजस्वी व्यक्तित्व, असाधारण पाण्डित्य और सारगर्भित विचारों से राजपरिवार और जन साधारण भी प्रभावित हुए। इसी समय जावा के राज्यपर शत्रु का आक्रमण हुआ। जावा नरेश अपने दीक्षा-गुरु-गुण- वर्मा के पास पहूँचे। उनसे निवेदन किया, "हे देव, बौध्द धर्म के अनुसार - आक्रमणकारी शत्रुओं से लडना उचित है या नही?" गुणवर्मा ने दृढ शब्दों में उत्तर दिया,

"प्रत्येक व्यक्ति का और विशेषतः राजा का यह कर्तव्य है कि वह डाकुओं आततायियों और आक्रमणकारियों को दण्ड दे।" राजाने फिर वीरता से शत्रुओं को परास्त किया। यवद्वीप से गुणवर्मा की कीर्ति चीन पहुँच गयी। चीन के प्रधान भिक्षु हुई कुआन और हुई साँग ने चीन के सम्राट के सामने प्रार्थनापूर्वक प्रस्ताव रखा कि वे गुणवर्मा को आमंत्रित करे। कलियुगाब्द ३५३३ (ख्रि. ४३१) में चीन के सम्राट ने गुणवर्मा को चीन लाने के लिये राजदूत भेजे। नानकिंग में स्वयं चीनी सम्राट गुणवर्मा से मिले। चीन में बौध्द धर्म का प्रसार करते हुए गुणवर्माने ११ संस्कृत ग्रंथों को चीनी भाषा में अनुवादित किया।

गुणवर्मा के पश्चात भी कतिपय बौध्द भिक्षु सुवर्णद्वीप में निरन्तर जाते रहे। शैलेन्द्र सम्राट बौध्द धर्मी थे। उनके काल में बौध्द धर्म का प्रसार पूरे दक्षिणपूर्व एशिया में हो गया। शैलेन्द्र सम्राटों के काल में ही बोरोबुदूर के विश्वमें अद्वितीय स्तूप का निर्माण हुआ।

पाषाण निर्मित महाकाव्य : बोरोबुदूर :

शैलेन्द्र साम्राज्य का ही नही सारे प्राचीन बौध्द जगत् का आध्यात्मिक स्मारक बोरोबुदूर के स्तूप के रुप में खडा है। पाषाण में उत्कीर्ण महाकाव्य है वह, नितान्त महाकाव्य। गौतम बुध्द की जन्म भूमि में भी स्तूप का ऐसा लोकविलक्षण आविष्कार नही हो सका।

आध्यात्मिक अभिव्यक्ति के लिये चयनित स्थान भी प्राकृतिक दृष्टि से नितान्त रमणीय है। जोगजाकर्ता के उत्तर में २५ किलोमीटर पर एक पहाडी की चोटी पर यह महाचैत्य बना है। प्राकृतिक सौंदर्य की दृष्टि से यह स्थान जितना मनोरम है, वास्तुकला ने उससे भी बढकर अपना चमत्कार यहाँ प्रदर्शित किया है। स्तूप सप्ततलीय है। सात मंजिला है। प्रथम चार तल एक के उपर एक चबुतरे है। प्रथम चबुतरे की लम्बाई ४०० फूट है। उपर की तीन मंजिले गोलाकार है। सातवे मंजिल का व्यास ९० फूट है। प्रत्येक मंजिलपर विस्तीर्ण दीर्घाएँ है। सबसे ऊपर मध्य में घण्टाकार चैत्य है। प्रथम तल के दर्शनी भाग पर चारो ओर सुन्दर बुध्दमूर्तियाँ है। पूर्व दिशा में अक्षोभ्य, दक्षिण में रत्नसंभव पश्चिम में अमिताभ और उत्तर में है अमोघ सिध्द। दीवारों पर नरक यातनाओं का शिल्प साकार हो उठता है। मन - विषण्ण होता है परन्तु अगले ही पल वृत्ति

आनंद में परिवर्तित हो जाती है। स्वर्गीय सुख की अनुभूति शिल्प में प्रकट हो जाती है। तथागत भगवान के विलोभनीय रुप देखते देखते दूसरी मंजिल की दीर्घा में प्रवेश करें तो भगवान् की लीलाएँ प्रकट रुप धारण करती है। बुध्द जीवन के सारे प्रसंग, जातक कथाएँ। अवदान कथाएँ साक्षात् सम्मुख आ जाती है।

महादेवी माया का सपना... बुध्द जन्म...महाभिनिष्क्रमण ... धर्मचक्रप्रवर्तन... महापरिनिर्वाण तक की सैंकडो लीलाएँ अशांति और अचेतना से शान्ति और रहस्यमयी चेतना की ओर ले जाती है। दीर्घाओं में चलते रहे.... तीन किलोमीटर का चक्कर हो जाता है। ध्यानी बुध्दों की ४३२ मूर्तिओं का दर्शन होता है। और १५०० शिल्पपट अवलोकन करके पाँव ही नही आँखे भी थक जाती है। चार चबुतरों पर दिशाओं का ध्यान रखकर गवाक्षों में अक्षोभ्य, रत्नसंभव, अभिताभ और अमोघ सिध्द की मूर्तियाँ है तो पाँचवे तल पर के गवाक्षों में वैरोचन की मूर्तियाँ है। दीवारों के शिल्पपट पर कितने ही नाग, किन्नर, यक्ष, राक्षस, काल, मकर, कल्पवृक्ष, पारिजात, हंस पशुपक्षी आदि अंकित है।

दीर्घाओं के दोनो पार्श्वों में उपर की मंजिल पर जाने के लिये सीढियाँ बनाई गयी है। उनके उपर मेहराब बने है। मेहराबों के बीच में कीर्तिमुख है, जिन से फूल लटक रहे हैं। द्वारों के ऊपर मूर्ति गवाक्षों की तरह मूर्ति शिखर बने है। द्वार कलात्मकला से अलंकृत है। किसी एक द्वार से भी सभी द्वारों तथा सीढीयों का सुन्दर दृश्य सम्मुख आता है। वर्षा के पानी के निकलने हेतु प्रत्येक तलपर बीस बीस प्रणालिकाएँ बनी हुई हैं। ऊपर के तीन गोलाकार तलोंपर क्रमशः ३२, २४ और १६ स्तूप बनाएँ है। कुल ५०४ स्तूपों से पूरा मन्दिर अलंकृत है। उपर के स्तूप घण्टाकार एवं जाली युक्त है। अन्दर की बुध्द मूर्तियाँ दिखाई देती है।

चण्डी कलसन्, चण्डी सरी और चण्डी सेवू।

शैलेन्द्र काल का सबसे पुराना चैत्य या मंदिर है चण्डी कलसन का। यहाँ युगाब्द ३८८० (ख्रि. ७७८) का अभिलेख प्राप्त हुआ है। इसे शैलेन्द्र राजा ने देवी तारा के लिये बनवाया था। अभिलेख में कलस (या कालस) गाँव के बौध्द संघ को दान में दिये जाने का उल्लेख है। इसी कारण मन्दिर चण्डी कलसन कहा गया। मन्दिर चौकोर अधिष्ठानपर खडा है। प्रमुख द्वार के ऊप विशाल कीर्तिमुख है। पाँच कमल लटक रहे है। द्वार एवं दीवारें सुंदर मूर्तियों से अंकित है। जहाँ से छत प्रारंभ होती है, वहाँ बुध्द की मूर्तियाँ पंक्तिओं में बनी हुई है। इन में चार ध्यानी बुध्द की मूर्तियाँ भी है। मन्दिर अवशेषरुप में है। अन्दर सिंहासन एवं तारा देवी की मूर्ति आज नही दिखाई देती।

चण्डी कलशन के उत्तर में एक किलोमीटर पर चण्डी सरी के मन्दिर के ध्वस्त अवशेष

है। यह मन्दिर ५७ फूट लंबा और ३३ फूट चौडा, दो मञ्जिला था। दोनो मञ्जिल पर तीन तीन सिंहासन थे जिन पर बुध्द मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित की गई थी।

कलियुगाब्द ३८८४ (ख्रि. ७८२) का लगभग २५० बुध्दमन्दिरों का समूह इसी क्षेत्रमें अर्थात् प्रम्बनन की घाटी में था। ६०० फूट लंबे और ५४० फूट चौडे आँगन में चारो ओर दो पंक्तिओं में मन्दिर बनाए गये हैं। इन की संख्या १६८ है। मुख्य मन्दिर अन्य ७२ मन्दिरों से घिरा हुआ है। बहुत से मन्दिर बनाए गये है। बहुत से मन्दिर और मूर्तियाँ खण्डहर में बदल गई है। बीच का मन्दिर सबसे ऊपर उठता है और दोनो ओर के मन्दिरों की उंचाई कम होती गई है। मूर्तियाँ, अलंकरण और शिल्प तो अवशेष रुप दिखाई देते हैं फिर भी मन्दिर की भव्यता और आकर्षकता ध्यान में आती हैं।

जगज्जननी का पाषाण रुप - प्रम्बनन।

मध्य जावा की प्रम्बनन घाटी में प्राचीन काल में साक्षात् अलका पुरी अवतारित हुई थी। एक ओर जहाँ सुन्दर बुध्द मन्दिर बने, वही स्वर्ग के सारे देवी देवताओं ने भी इस घाटी को अपना निवास बनाया। यहीं पर जगज्जननी, जो वहाँ लारा जोग्रंग नाम से विख्यात थी, उसके १५६ मन्दिरों का समूह है। लारा जोग्रंग के विषय में एक सुंदर आख्यायिका जावा में प्रचलित हैं। तब जगज्जननी एक लावण्यवती राजकन्या थी। एकबार वह अपने प्रासाद में निद्राधीन थी, तब एक युवक ने अपूर्व साहस किया। मध्यरात्रि में वह उसके सामने उपस्थित हुआ और अपना प्रेम निवेदन किया। राजकन्या चकित हुई फिर भी धीरज से उसने कहा, "मैं आप की इच्छा पूरी करुंगी यदि आप मेरी एक शर्त पूर्ण करें।' उसकी शर्त भी बडी विचित्र थी। एक रात्रि के अन्दर छः सुवर्णशिखंरांकित मन्दिरों का निर्माण करना। उसे विश्वास था कि युवक इस शर्त से ही पराजित हो अपना विचार छोड देगा। परन्तु युवक ने कार्य प्रारंभ किया। सूर्योदय होने के पूर्व मन्दिर खडे हुए। केवल शिखरों का आरोपण शेष था कि पूर्व दिशा में उसे उषःकाल की रक्तिमा दिखाई दी। निराश और खिन्न होकर उसने सोचा, "मैं हार गया, मैं उस से विवाह नही कर सकता।"

कुछ समय के बाद उसके ध्यान में आया कि जो देखा वह माया थी। उषःकाल तो अब हो रहा है। लारा जोग्रंग ने वंचना की है। वंचना से संतप्त युवक ने शाप दिया और लारा जोग्रंग पाषाणरुप बन गयी।

यहाँ आठ मुख्य मन्दिर है। तीन मन्दिरों की दो पंक्तियाँ और पंक्तिओं के बीच दो मंदिर विद्यमान है। छोटे छोटे मन्दिरों की तीन पंक्तियों ने इन मन्दिरों को घेरा हैं। केन्द्र का मन्दिर मुख्य मन्दिर है। यह शिव मन्दिर ९० फूट लम्बे और दस फूट उँचे अधिष्ठान पर बनाए हुए चबुत्तरे पर खडा है। ७ फूट चौडा परिक्रमा मार्ग है। गर्भगृह में महेश्वर के साथ आदि शक्ति दुर्गा

का भी दर्शन होता है। प्रदक्षिणा पथ पर रामायण कथा के अद्‌भुत शिल्प साकार हुए है।

शिल्पांकित रामकथा -

प्रभुरामचंद्र के जीवन के वनवास के चौदह वर्षो का कथाभाग अंतःकरण को स्पर्श करता है। सीता हरण के प्रसंग का चित्रण देखने पर लगता है यह घटना साक्षात् सामने घट रही है। दशानन के मुखपर व्यक्त आसुरी आनंद, शिल्प के अचेतन होने की भावना से ऊपर उठकर, मन में विषाद उत्पन्न करता है। दशानन के हाथों से मुक्त होने का प्रयास कर हताश हुई भूमिकन्या सीता के मुख के करुण भाव अन्तःकरण को हिला देते है।

एक अन्य दृश्य में सीता के विरह से व्याकुल प्रभु रामचन्द्र दिखाई देते है। छाया के समान साथ देनेवाला बन्धु लक्ष्मण असंमजस में पडा है। ... "क्या हो गया यह ... कैसे सांत्वन दूँ अब प्रभु को" ऐसे संभ्रमतापूर्ण व्याकुलता के भाव लक्ष्मण की मुखमुद्रापर दृष्टिगोचर होते है। आगे के शिल्पपट में जटायु का दर्शन होता है। अश्रुपूर्ण नेत्रों से सिर पकडे बैठे हुए प्रभु राम और दुखी लक्ष्मण... घायल अवस्था में पडा हुआ जटायु ... मानो कह रहा है, "मैं ने पूरा प्रयास किया ... मेरा बल कम पड गया ... केवल आपके दर्शन लेकर आपको वार्ता देने के लिये ही इस देह में प्राण शेष है।" ... जटायु से प्राप्त समाचार से अति व्याकुल बने प्रभु अगले शिल्प में दिखाई देते है।

सुग्रीव से भेंट हुई। महापराक्रमी हनुमान प्रभु के दास बने। प्रभु ने वाली के वध का आश्वासन दिया। प्रभु राम की वीरता से जाग्रत आत्मविश्वास से सुग्रीव ने खम ठोककर गर्जना की। किन्तु आश्चर्य की बात ... वाली और सुग्रीव का युध्द चल रहा है। मदमत्त हाथियों के समान दोनो परस्पर प्रहार कर रहे है। सुग्रीव शिथिल हो रहा है ... उसकी मुद्रा पर भय भाव है और जिसके विश्वास पर यह संग्राम मोल ले लिया वे प्रभु रामचन्द्र चुपचाप खडे है .... उनके मुखपर संभ्रम है .... 'इन दोनों में से वाली कोनसा है? .... और उसी के बाद है वाली वध के प्रसंग का शिल्प ... पहचान के लिये गले में माला पहना हुआ सुग्रीव और उर में रामबाण घुसने से घायल हुआ वाली .... प्रभु राम दाहिना पैर पीछे लेकर सिध्द स्थिति में खडे ... बाये हाथ में धनुष्य ... दाहिने हाथ से बाण आकर्ण खींच कर छोडा हुआ ... लक्ष्य सन्धान के लिये ग्रीवा तनिक झुकी हुई।

अब सुग्रीव सिंहासन पर बैठा है ... मुख पर सन्तोष है ... दाहिनी ओर वाली की यंत्रणा से मुक्त हुई महारानी रुमा प्रसन्नवदना बैठी है। राजसभा में वानर प्रजा की भीड है... कुछ वानर पल्थी मारे हुए अपनी पूँछ एक ओर लेकर बैठे है ... एक के हाथ में कलश है ... दूसरा फलों की टोंकरी लिये घुटनों के बल खडा है। सभी की मुद्राएँ नटखट परन्तु प्रसन्न ...

हनुमान जी भी खडे है। एक हाथ कमर पर ... और दूसरे हाथ से कटिवस्त्र संभालते हुए ... युवराज अंगद भी साथ में दिखाई देते है ....। ऐसे कितने की शिल्प ... अचेतन पाषाण के ये शिल्प सजीव हो उठते हैं।

प्रभु रामचन्द्र के वानर सेना के साथ लंका की ओर प्रस्थान का दृश्य ... वानर बडे प्रसन्न दिखाई दे रहे है। साथ चलते हुए दो वानर आपस में मानो कोई गोपनीय बात कर रहे हैं। पीछे एक ने अपनी पूँछ छाते जैसी सिर पर ली हुई है। दूसरा चलते चलते अपनी पूँछ का फुंदा सहला रहा है। तीसरा सब की ओर देखकर मानो गुस्से में कह रहा है, "अरे, फूर्ती से पग उठाओं ... फिर भी एक महाशय दूर पीछे अलसाये से दीख रहे है।... सबके निकल जाने पर पेडों पर चढकर फलाहार करनेका उनका विचार जान पडता है।

मार्ग न देनेवाले सागर पर कुपित होकर धनुष ताने हुए राम एक शिल्प में दिखाई देते है। सागर में मगर, मछली और अन्य जलचर भयाक्रान्त होकर इतस्ततः भागते हुए दिखाई दे रहे है। एक भयभीत नागकन्या कृध्द रामके सम्मुख हाथ जोडकर अनुनय कर रही है।

प्रत्येक चित्र को खडे होकर देखतें रहे तो मन अघाता नहीं। रामायण में एक दृष्टि से कौतुहल का विषय बना हुआ व्यक्ति है कुम्भकर्ण। युध्द में अनेक बार पिटकर आत्मविश्वास खोया हुआ रावण कुंभकर्ण को जगा लाने का आदेश देता है। इतना बडा युध्द ... नरसंहार ... पर इस महाशय के कानों में उसकी भनक भी नही पडी। बायी करवटपर पडे, महाशय खर्राटे भर रहे है। एक राक्षस हाथ में शंख लिये कुंभकर्ण के कानो में फूँक रहा है। ... दूसरा हाथ की गदा से ढोंस रहा है ... तो कुछ राक्षस उसपर उछलकूद कर रहे है। एक घुडसवार राक्षस तो कुंभकर्ण की जाँघो पर घोडदौड कर रहा है। फिर भी कुम्भकर्ण मस्त सोया पडा है। ... उसके सिर की ओर से एक विशालकाय हाथी उसके पर्वतप्राय देह पर चढा आ रहा है। कोई राक्षस दाँत होठ चबाकर उसे उठाने का प्रयास कर रहे हैं। तो कोई यह सब करते हुए अपने आप मुस्करा रहे है।

इस मध्यवर्ती शिवालय के दोनो ओर ब्रह्मा और विष्णु के मन्दिर हैं। विष्णु के मन्दिर में कृष्णलीला के अनुपम शिल्प उत्कीर्ण है।

जावा में पाण्डवों के मन्दिर -

मध्य जावा में ही समुद्रतल से ६५०० फूट उँचा दिएंग का पठार है। यह समतल पठार ८००० फूट लंबा और २५०० फूट चौडा है। चारों ओर पहाडियों की श्रृंखला है। और ऐसे रमणीय स्थान पर यवद्वीप के सबसे प्राचीन मन्दिर है। कलियुगाब्द ३९ वी (ख्रि. ७) शती में इन मन्दिरों का निर्माण हुआ। ये मन्दिर पाण्डवों के मन्दिर के नाम से विख्यात है। कुल आठ मन्दिर हैं। मन्दिर के समीप प्राप्त मूर्तियाँ शिव, दुर्गा, गणेश, ब्रहमा, विष्णु आदि देवताओं की है। सारे

मन्दिर गुप्तकालीन शैली के है।

मैदान में बायी ओर भीम का, तो दायी ओर अर्जुन का मन्दिर खडा है। सामने है चण्डी पुन्तदेव अर्थात युधिष्ठिर मंदिर। नकुल एवं सहदेव के मन्दिर के साथ चण्डी श्रीखण्डी, चण्डी घटोत्कच और चण्डी द्वारावती के मंदिर है। मन्दिरों के अलंकरण अत्यन्त सुन्दर और कलात्मक है। मन्दिरों के चारो ओर प्राचीन काल की पुष्करिणियाँ, दीवारे, सीढियाँ और भवन की नींवे विद्यमान है। मैदान के चारो ओर ढलान पर और चोटीओं पर पुराने ध्वंसावशेष दिखाई देते हैं। कुछ पाषाण स्तम्भ गढे हुए है जिनके साथ दंत कथाएँ जुडी हुई है। अर्जुन यहाँ अपने हाथियों को बाँधा करता था। उसकी गौंयें रात को यही की एक गुहा में विश्राम किया करती थी। कहीं राख की तह पडी हुइ मिलती हैं। इस राख में कभी कभी सोने की अँगुठिया, कंकण और अन्य आभूषण मिल जाते हैं।

प्रम्बनन की घाटी के दक्षिण पूर्व और दिएंग पठार के उत्तर पश्चिम में केदू का मैदान है। यहाँ पर कलियुगाब्द ४० (ख्रि. ८) वी शती के मन्दिरों के अवशेष है। विख्यात चण्डी मेंडत यही पर है। मंदिर का अधिष्ठान ९० फूट लम्बा ७८ फूट चौडा और ६६ फूट उँचा चबुतरा के रुप में है। इस उँचे अधिष्ठान पर आकाश में उभरता हुआ मन्दिर दिखाई देता है। मन्दिर के चारो ओर ३६० फूट लंबा और १६५ फूट चौडा प्रांगण है। प्रांगण में कतिपय मन्दिरों के उध्वस्त अवशेष विद्यमान है। मंदिर की दीवारों पर सुंदर मूर्ति पंक्तियाँ है। मध्य की पंक्ति के उत्तरपूर्व में पद्मासनाधिष्ठित अष्टभुजा देवी की मूर्ति हैं। उसके दाये हाथों में शंख, वज्र, बिल्व तथा माला है। बाये हाथों में परशु, अंकुश, पुस्तक और अग्नि पात्र है। इस मूर्तिपंक्ति के सामने की ओर पद्मसर से तीन पद्मासन उठते हुए दिखाई देते है। उनमें बीच के पद्मासन पर एक चतुर्भुजी देवी, संभवतः सरस्वती है। उसके दो हाथ ध्यानमुद्रा में गोद में पडे है। तीसरे हाथ में पुस्तक और चौथे हाथ में माला है। इसी मन्दिर में बुध्द और बोधिसत्त्व की भी सुंदर मूर्तियाँ है।

भारतीय संस्कृति के आद्य प्रचारक - अगस्त्य -

भारतीय परम्परा में, प्राचीन काल में अगस्त्य, ऋषि का कार्य अत्यंत महत्वपूर्ण है। वे मित्रावरुण के पुत्र थे। ऋग्वेद में मान्य और मांदार्य यह उन के पैतृक नाम आते है। वसिष्ठ के वे बन्धु थे। उस काल में विंध्य पर्वत उसके घने अरण्य से व्याप्त पहाडी, उँचे पर्वत शिखर, हिंस्र पशुओं के निवास आदि कारणों से अनुल्लंघ्य था। अगस्ति ने विध्य पर्वत में अपने आश्रम प्रस्थापित किये। जनजातियों का जीवन भी सभ्य और सुसंस्कृत बनाया। दक्षिण भारत और उत्तर भारत में अगस्त्य के कारण संबंध प्रस्थापित हुआ। विंध्य विजय यह अगस्ति का महत्वपूर्ण कार्य था। इसी कारण उनका नाम 'अगस्ति' (अगं विन्ध्यं) स्त्यायति इति) पडा। अर्थात् जो अग या न

चलनेवाले पर्वत के उडान को स्तंभित कर दे। दक्षिण भारत में वातापि, ब्रहमगिरी, द्राक्षाराम, अगस्त्यम्पल्ली, पोदियमलै और अगस्त्यवरम् आदि स्थानों पर अगस्ति के क्षेत्र है। 'अगस्ति' का दूसरा ऐतिहासिक कार्य था सागर विजय। सागर भी अनुल्लंघ्य था। अगस्ति ने सागरी मार्ग को भी निष्कंटक किया। इसीलिये पौराणिक आख्यायिका में कहा है कि उसने सागर को अपने अञ्जुलि में भरकर आपात् किया। अनेक जनश्रुतियाँ एवं आख्यायिकाओंके अनुसार अगस्ति पूर्व समुद्र पार कर के सुवर्णद्वीप में भी गये।

वायुपुराण के 'भुवनविन्यास' में मलयद्वीप और यवद्वीप के साथ 'अगस्ति' का नाम जुडा हुआ है। 'मलयद्वीप में महामलय पर्वतपर अगस्ति' भवन है और अगस्ति वहाँ निवास करते है। अगस्ति इस प्रकार द्वीपांतर करनेवाले प्रथम भारतीय थे। स्वाभाविकतः वे सागर पार द्वीपांतर जानेवाले साहसी भारतीयों के महान् प्रेरणा स्रोत बने।

यवद्वीप (जावा) में जो भारतीय गये उनकी प्रेरणा 'अगस्त्य' ही थे। वे अगस्त्य के उपासक थे। जावा में अगस्त्य की पूजा प्रचलित थी। कलियुगाब्द ३८६२ (खि. ७६०) में जावा में अनेक भारतीय उपनिवेश थे। अनेक राज्यों की स्थापना हुई थी। इस में देवसिंह नाम के एक राजा का राज्य था। उसका पुत्र था लिम्ब गजयान। लिम्ब गजयान ने महर्षि अगस्ति की मूर्ति स्थापित की। मलंग के उत्तर में 'दिनय नव्रात' इस स्थानपर प्राप्त अभिलेख में इसका उल्लेख है। यह मूर्ति पाषाण की है।"अत्यंत तेजःपुञ्ज दृढ मुद्रा ... सिरपर जटाभार ... वक्ष पर झुलनेवाली श्वेतशुभ्र दाढी, भुजा पर कसे हुए भुजबन्ध, कटिबन्ध के नीचे खेलती हुई मेखला... सिंह सदृश पुष्ट स्कन्ध ... आत्मविश्वास को व्यक्त करती हुई पुष्ट छाती और उसपर सीधे कमरतक फैला हुआ यज्ञोपवीत ... हाथ में कमण्डलु है। जावा में इस प्रकार के मूर्तियों की उपासना प्रचलित थी।

जावा के धार्मिक ग्रंथों में एक ग्रंथ है 'अगस्त्य पर्व'। अगस्ति ऋषि का पुत्र द्रधत्सु प्रश्न पूछता है और उसके पिता महर्षि अगस्ति उसे संसार की व्युत्पत्ति का रहस्य समझाते है। सृष्टि निर्माण - सृजन और प्रलय, मनु और मन्वन्तर, स्वर्ग नरक और सप्तलोक, दक्ष प्रजापति और उस की कन्याओं से उभरे वंश, देव, गंधर्व, विद्याधर आदि के चरित्र यह सारे विषय अगस्त्य पर्व में आये है।

जावा का नवीन राजवंश - 'सिन्दोक'

मतराम राज्य दुर्बल होने के बाद पूर्व जावा में एक नवीन पराक्रमी राजकुल का उदय हुआ। संभवतः मतराम राजकुल से सम्बन्धित 'सिन्दोक' इस राजवंश का प्रवर्तक था। मतराम के अन्तिम दो राजाओं तुलोडोंग और वावा के शासन काल में वह उच्च राजकीय पद पर रहा

था। कलियुगाब्द ४०३१ (ख्रि. ९२९) में सिन्दोक का राज्यभिषेक हुआ। उसने 'श्री ईशान धर्मोत्तुंग देव' की उपाधि धारण की। विक्रमोत्तुंग देव, विक्रमधर्मोत्साह और विजयधर्मोत्तुंग ये उसकी अन्य उपाधियाँ थी। सिन्दोक के बीस अभिलेख प्राप्त हुए हैं। जिनमें प्रायः शैव मन्दिरों को दिये गये दानों का उल्लेख है।

सिन्दोक के कोई पुत्र नही था। सिन्दोक की कन्या 'ईशानोत्तुंग विजया' सिन्दोक के पश्चात सिंहासनाधीश हुई। उस का विवाह लोकपाल नाम के एक राजवंशी व्यक्ति के साथ हुआ था। ईशान्योत्तुंग विजया का पुत्र 'श्रीमकुटवंशवर्धन' अपनी माता के पश्चात् राजा बना। वह प्रतापी था। उसके बारेमें अभिलेख में कहा गया है।

शौरिश्चाप्रतिमप्रभाभिरमयो भास्वान् इवाभ्युद्यतः।
शत्रूणामिभकुम्भ - दलने पुत्रः प्रभुर्भूभुजाम् ।।

(वह उदीयमान सूर्य के समान अप्रतिम प्रभावाला शूर और निर्भय था, और शत्रु सेना के हाथियों के मस्तक उसी तरह से नष्ट कर देता था, जैसे कि घडों को फोडा जाता है।)

श्रीमकुटवंशवर्धन की दुसरी पुत्री 'गुणप्रियधर्मपत्नी' नाम की थी । उसका विवाह उदयन के साथ हुआ था। श्रीमकुटवंशवर्धन ने बालीद्वीप पर 'गुणप्रियधर्मपत्नी' को शासक के रुप में नियुक्त किया। उसका पति उदयन धर्मोदयनवर्मदेव नाम से विख्यात था। उदयन और गुणप्रियधर्मपत्नी का पुत्र था ऐर्लङ्गदेव।

आदर्श राजा धर्मवंश

श्रीमकुटवंशवर्धन की दूसरी पुत्री का विवाह एक राजवंश के 'धर्मवंश' नामक व्यक्ति से हुआ था। मकुटवंशवर्धन के पश्चात् धर्मवंश राज्याधिष्ठित हुआ (कलियुगाब्द ४०८६ - ख्रि. ९८४) उसने जावा की स्थानीय संस्कृति और श्रेष्ठ भारतीय संस्कृति का मनोहर संगम सिध्द किया। राज्यव्यवहार की भाषा संस्कृत थी किन्तु साधारण जनों के बीच उनकी अपनी भाषा थी। इस प्रजा में भारतीय संस्कृति के प्रति आत्मीयता जगानी हो तो संस्कृत का मूल्यवान् साहित्य उन के घरों तक पहुँचाना होगा, इस बात का भान धर्मवंश को था। उसके राज्यकाल में अनेक संस्कृत ग्रंथों के प्राकृत भाषा में अनुवाद हुए। रामायण और महाभारत की कथाएँ घरघर में पहुँची।

प्रजाहितदक्ष धर्मवंशने प्रजा के हित में नियम बनाये। उन्हे अधिनियमों का रुप दिया जो मानव धर्म शास्त्र (मनुस्मृति) पर आधारित थे। शासन व्यवस्था को सुकर बनाने हेतु उसने अमात्य, आत्मराज, अधिमंत्रि, कोषाध्यक्ष, धर्माध्यक्ष, जलधि मंत्रि आदि अनेक अधिकारी

नियुक्त किये। राज्यके आर्थिक समृध्दि का आधार रहता है कृषि और वाणिज्य। छोटी छोटी नहरे बँधवा कर उस ने कृषि को बढावा दिया। यवद्वीप के श्रेष्ठिओं, व्यापारीओंकी नौकाएँ प्रशांत महासागर, बंगाल की खाडी और हिंदू महासागर में सञ्चार करने लगी।

स्थिर और समृध्द यवद्वीप के राज्यपर इसी काल में अचानक प्राकृतिक विपदा का कठोर प्रहार हुआ। अभिलेख इस भयंकर संकट का वर्णन 'प्रलय' शब्द से करते है। सहस्त्रावधि लोग गतप्राण हुए। गाँव नगर उजड गये। महाराज धर्मवंश का देहावसान हुआ था। राज्य का कोई उत्तराधिकारी नही था।

यवद्वीप का अर्जुन - ऐर्लङ्ग

ऐसे कठिन समय पर एक कर्तृत्ववान और पराक्रमी व्यक्ति आगे आया। वह था बाली का राजपुत्र अर्थात् गुणप्रियधर्मपत्नी का पुत्र ऐर्लङ्ग। ऐर्लंङ्ग का विवाह धर्मवंश की कन्या से हुआ था। जब प्रलय हुआ शत्रुओं के आक्रमण भी शुरु हुए तो अपने एक मंत्री नरोत्तम के साथ ऐर्लङ्ग ने वनगिरी में एक मठ में शरण ली। साधुओं के रुखे सुखे भोजन पर गुजारा किया। कलियुगाब्द ४११२ (ख्रि. १०१०) में जनता के प्रमुख व्यक्तिओं तथा ब्राहमणों ने उससे राज्य का भार संभालने की प्रार्थना की। पर उसका कार्य सुगम नही था। सभी सामंत राजा स्वंतत्र हो गये थे। शत्रुओं की कमी नही थी। प्रजा दीन और असहाय्य हो गयी थी। ऐर्लङ्ग ने एक एक करके सभी शत्रुओं को परास्त किया। उसमें ९ वर्ष का काल बीता। अभिलेख इसका वर्णन करते है,

"भूभृन्मस्तक सत्कपाद युगदस्सिंहासने संस्थितः।" (जब ऐर्लङ्ग सिंहासनपर बैठा तो उसके पैर इन अधीनस्थ राजाओं के मस्तकों पर रखे गये।) कलियुगाब्द ४१२१ (ख्रि. १०१९) में उसका राज्याभिषेक हुआ। उसने "रके हलु श्रीलोकेश्वर धर्मवंश ऐर्लङ्ग अनन्तविक्रमोत्तुंग देव" उपाधि धारण की। अभिलेख में उसके दिग्विजय का वर्णन है। भीष्मप्रभाव नामक राजा के विरुध्द सेना भेजी गयी और वुरतन के रणक्षेत्र में उसे परास्त कर दिया गया। साक्षात् दशानन के समान राजा अधमापनुद को परास्त कर उसके नगरों को भस्म कर दिया गया। एक राज्य की रानी राक्षसी समान बलवती थी। उसको हरा कर राज्य छीन लिया गया। बुखरी के राजाके साथ युध्द हुआ जिसमें राजा मारा गया और उसका राज्य नष्ट किया गया, वेंकेर के राजा विजय को सेनाने पकड के मृत्युदण्ड दिया।

इस प्रकार पूर्ण जावा पर ऐर्लङ्ग का एकछत्री अधिकार हो गया। श्रीविजय के शैलेन्द्रों की शक्ति चोल आक्रमण के कारण टूट चुकी थी। शैलेन्द्र एवं ऐर्लङ्ग में मित्रता हो गयी। ऐर्लङ्ग विष्णु का उपासक था। गरुडमुख को उसने अपना राजचिन्ह बनाया। ब्रन्तिस नदी पर बाँध

बनवाकर कृषि व्यवस्था की। नदी के मुहाने का बन्दरगाह भी उससे सुरक्षित हुआ। अभिलेख के अनुसार क्लिङ्य (कलिंग), सिंहल (लंका), द्रविड (दक्षिण भारत), कर्नाटक, चम्पा (विएतनाम), ख्मेर (कंबोडिया), आर्य (आर्यावर्त), पण्डिकिर (पाण्डय व केरल) और रेमन (म्याँमा) के व्यापारियों के जहाजों से यवद्वीप के बन्दरगाह भरे रहते थे। इस तरह यवद्वीप पूर्व और पश्चिम के देशों के आंतरराष्ट्रीय व्यापार का केंद्र बन गया।

चोल आक्रमण के बाद शैलेन्द्र राज संग्राम विजयोत्तुंग वर्मा की मृत्यु हुई। ऐर्लङ्ग ने उसकी पुत्री के साथ विवाह किया। ऐर्लङ्ग के राजकवि कण्व ने इस प्रसंग पर ऐर्लङ्ग विवाह नामक काव्य की रचना की। लोग ऐर्लङ्ग को विष्णु का अवतार मानने लगे। जिस मठ में ऐर्लङ्ग ने अपने जीवन के कठिन प्रसंगो में आश्रय लिया था वहाँ पर उसने आश्रम का निर्माण कराया। साहित्य के लिये भी उसका काल सुवर्णयुग था। अर्जुन विवाह, भीम काव्य, सुमन सान्तक, समरदहन, अर्जुन विजय, कृष्णायन आदि काव्यों की रचना इस काल में हुई।

ऐर्लङ्ग ने एक महान् आदर्श निर्माण किया। 'वार्धक्ये मुनिवृत्तीनाम् ' के अनुसार अंतिम काल में वह संन्यासी बनकर आश्रम में चला गया। ऋषि जन्टयु (जटायु) नाम धारण किया। कलियुगाब्द ४१४४ (ख्रि. १०४२) में उसका देहान्त, हुआ। मृत्यु के पश्चात् गरुड वाहक विष्णु के रुप में उसकी मूर्ति बनायी गयी।

कडिरी राज्य (कलियुगाब्द ४१४४ - ४३२४, ख्रि. १०४२-१२२२)

राजा ऐर्लङ्ग देव ने अपने जीवन काल में ही राज्य को दो भागों में विभक्त कर दिया था। ऐर्लङ्ग की ज्येष्ठ कन्या 'श्री संग्रामविजयधर्मप्रसादोत्तुंग देवी' राज्य की उत्तराधिकारी थी परन्तु उसने साधुजीवन ग्रहण कर लिया था। जावा का पश्चिमी प्रदेश पञ्जलू राज्य नाम से प्रसिध्द था। इसकी राजधानी कडिरी थी। कडिरी का प्रथम नरेश श्रीजयवर्ष दिग्जय था। उसने शास्त्रप्रभु और जयप्रभु उपाधियाँ धारण की थी। उसके पश्चात् कामेश्वर प्रथम केडिरी का राजा हुआ। उसके बहुत से अभिलेख उपलब्ध है। यवद्वीप के राजा बडी लम्बी उपाधि और नाम धारण करते थे। कामेश्वर का उपाधिसहित नाम था,

"श्री महाराज रके सिरिकन श्री कामेश्वर सकलभुवनतुष्टिकरण सर्वानिवार्यवीर्यपराक्रम दिग्विजयोत्तुङ्ग देव।" कामेश्वर का विवाह जंगल देश के निवासी वज्रदेव की पुत्री श्रीकिरण के साथ हुआ था। स्मरदहन काव्य में श्रीकिरण को जंगल की सर्वश्रेष्ठ महिला बताया गया है। कामेश्वर और श्रीकिरण को लेकर जावा की भाषा में पञ्जी नाम के कथानक लिखे गये है।

कामेश्वर के पश्चात् उसका पुत्र जयभय राज्य का स्वामी बना। इसके राज्यकाल में कवि सेडह ने 'भारत युध्द' काव्य की रचना की। इस काव्य में जयभय की प्रशंसा है जिसमें उसे विष्णु का

अवतार कहा है। अभिलिखों में बिरुद के साथ उसका पूरा नाम आता है जो इस प्रकार है,

"श्रीमहाराज श्रीधर्मेश्वर मधुसूदनावतारानिन्दित सुहृत्‌सिंहपराक्रम दिग्विजयोतुङ्ग देव" कवि सेडह अपने जीवन काल में अपना 'भारत युध्द' काव्य पूरा नही कर सका जो बाद में कवि पुनलुह द्वारा पूर्ण हुआ। कवि पुनलुह ने हरिवंश और घटोत्कचाश्रय इन दो अन्य काव्यों की भी रचना की।

सिंहसारि राजवंश - कलियुगाब्द ४३२४-४३९४ (ख्रि. १२२२-१२९२)

कडिरी का शक्तिशाली राज्य कलियुगाब्द ४३२४ (ख्रि. १२२२) में नष्ट हुआ। अंतिम राजा कृतजय दुव्यहारी था। उसके दुर्व्यवहार के कारण ब्राहमणों एवं धर्माचार्यों ने तुमपेल के अंग्रोक नामक राजा का आश्रय लिया। अंग्रोक ने कडिरी का राज्य भी जीत लिया। उसकी राजधानी सिंहसारि नगरी थी। सिंहसारि के राज्य में लगभग २६ वर्ष अव्यवस्था ही थी। सत्ता संघर्ष चलता रहा। कलियुगाब्द ४३५० (ख्रि. १२४८) में जयविष्णुवर्धन सिंहसरि के सिंहासन पर आरुढ़ हुआ। उसने राजा बनते समय "सकल कलनकुलमधुमार्धन कमलेक्षण" ओर 'स्वपिताँ महास्तवनाभिन्नाश्रन्तलोकपालक' की उपाधियाँ धारण की। अपने जीवनकाल में ही उसने अपने पुत्र कृतनगर को अपना सहकारी राजा बना दिया। पिता की मृत्यु के पश्चात् कृतनगर सिंहसारि के राजसिंहासन पर आरुढ़ हुआ (कलियुगाब्द ४३७०, ख्रि. १२६८)

युगप्रर्वतक सम्राट कृतनगर

कृतनगर एक महान राजा हुआ। वह कुशल राजनीतिज्ञ था। प्रतापी था। धार्मिक था। काल के अनुरुप राजनीति में परिवर्तन करने की क्षमता रखता था। यवद्वीप का राज्य तो उसे अपने पिता से ही प्राप्त हुआ था। पर इतने से वह संतुष्ट नही था। समीप के अन्य द्वीप उसने अपनी सैन्य शक्ति से अधीन कर लिये। कलियुगाब्द ४३८६ (ख्रि. १२८४) में उसने बाली द्वीप को राज्य में सम्मिलित किया। उसके बाद पहङ् (मलाया प्रायद्वीप), मलयु (मध्य सुमात्रा में जाम्बी), गुरुन्न और बकुलपुर (बोर्निओ), सुण्डा द्वीप, और मदुरा द्वीप जीतकर सिंहसारि सम्राज्य में उनको सम्मिलित कर लिया। नागर कृतागम और परतोन ग्रंथों में इन विजय यात्राओं का वर्णन आया है।

सुमात्रा के बतनघरी जिले में 'पदङ् रोको' नामक स्थान पर एक अभिलेख मिला है। कृतनगर ने अमोघपाश की एक सुंदर मूर्ति को चार अधिकारियों तथा तीस परिचारकों के साथ जावा से सुमात्रा भेजा था। धर्माश्रम में उसे प्रतिष्ठित कराया गया था। कृतनगर का धर्माध्यक्ष 'नादज्ञ' प्राणप्रतिष्ठा के लिये वहाँ गया था। इस अभिलेख में कृतनगर को 'चतुर्द्वीपेश्वर', 'मुनि'

'धर्मशास्त्रविद्' 'जीर्णोध्दार क्रियाद्युक्त आदि विशेषण दिये है। अन्य अभिलेख में कहा है,

अशेष तत्वसम्पूर्णो धर्मशास्त्र विदां वरः।
प्रज्ञारश्मिविशुध्दाङ्गः सम्बोधि ज्ञान पारगः।।

(वह धर्मशास्त्र के वेत्ताओ में श्रेष्ठ, सम्पूर्ण तत्वों का ज्ञाता, ज्ञान के प्रकाश से अवलोकित तथा सम्बोधिज्ञान में पारङ्गत था।)

कृतनगर ने राजभवन में शिव और बुध्द दोनों की मूर्तिओं की अर्चना प्रारंभ की यद्यपि वह स्वयं तन्त्रयान (वज्रयान) मार्ग पर आस्था रखता था और इस सम्प्रदाय द्वारा प्रतिपादित साधना का अनुष्ठान कर सिध्द पद को प्राप्त करना चाहता था। उसने अपना एक नाम 'श्रीज्ञान शिववज्र' रखा था।

इस समय चीन का महत्वांकाक्षी मंगोल सम्राट कुबलाई खाँ ने एशिया के सभी राज्यों पर आक्रमण किये थे। कम्बुज (कंबोडिया) लव (लाओस) और चम्पा (विएतनाम) पर सेनाएँ भेजी थी। स्वाभाविकतः यवद्वीप को भी चीनी सम्राट अधीन करना चाहता था। कृतनगर ने कुब्लाई खाँ से संघर्ष की पूरी तैयारी की थी। चम्पा में अपने राजदूत भेज कर चम्पा से संधि कर ली थी। कलियुगाब्ध ४३९० (ख्रि. १२७७) में कुब्लाई खाँ के दूत यवद्वीप की राजसभा में आ टपके और उन्हों ने बादशहा का आदेश सुनाया। कुब्लाई खाँ चाहता था कि कृतनगर उसकी अधीनता स्वीकार करे और स्वयं चीन में आकर उपहार प्रदान करें। परन्तु चीनी राजदूतों को अपमानित होकर लौटना पडा। कुब्लाई खाँ ने प्रतिशोध स्वरुप चीनी सेनाएँ आक्रमण के लिये भेज दी।

सिंहसारि में विद्रोह और राज्यक्रांती

यवद्वीप की सेनाएँ विविध अभियान पर राजधानी के बाहर थी। ऐसे समय पर कडिरी के शासक जयकत्वंग ने विद्रोह किया। कृतनगर की सेना को परास्त करके जयकत्वंग ने कृतनगर की हत्या की और सिंहसारि पर कब्जा किया। कृतनगर की ओर से सेना संचालन करनेवाला सेनापति था विजय। वह कृतनगर का दामाद था और बाली का राजपुत्र था। पराजित अवस्था में विजय जावा को छोडकर मदुरा द्वीप पर चला गया। मदुरा में कृतनगर द्वारा नियुक्त अधिकारी 'आर्यवीरराज' था। विजय ने उसके साथ विचार कर एक योजना बनायी।

योजना के अनुसार विजय ने जयकत्वंग के सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया। अपने प्रति उसका विश्वास उत्पन्न किया और पडी भूमि का एक प्रदेश जागिर के रुप में माँग लिया। वहाँ पर नयी बस्ती प्रारंभ की, जिस का नाम मजपहित रखा गया। वहाँ बेल का एक वृक्ष था जिस का फल तीखा था। उसीसे संस्कृत में इस बस्ती का नाम 'बिल्वतिक्त' पडा और जावा की भाषा में 'मजपहित' ।

विजयने वीरराज के साथ मिलकर जो योजना बनायी थी, उसे क्रियान्वित करने का समय आनेके पूर्व ही मंगोल सेना का जावा पर आक्रमण हुआ। कृतनगर को सबक सिखाने के हेतु कुब्लाई खाँ ने सेनापति यिकोमुसा के नेतृत्व में सेना भेजी थी। परन्तु अब जयकत्वंग जावा का राजा था। चीनी नौदल सागर तट पर तैयार खडा था। अब विजय ने कूटनीति का अवलंब किया। गुप्त रुप से से वीरराज की सहायता से बाली और मदुरा का नौ दल संघटित किया। चीनी सेनापति से संपर्क कर के गुप्त रुप से बातचीत आरंभ की। चीनी सेनापति को इस प्रकार के विद्रोही राजनीति में लाभ दिखाई दिया। जगकत्वंग को हटाकर विजय को राजा बनाने से वह चीनी सम्राट की अधीनता स्वीकार करनेवाला था। और चीनी सेनापती का उद्देश वही था।

जब चीनी सेना जयकत्वंग के सेनादल पर टूट पडी, ठीक उसी क्षण विजय की नौ सेना का बेडा सागर में असावधान खडी अवशिष्ट मुगल सेना पर बरस पडा। मुगल नौ सेना का सर्वनाश हुआ। लगभग सभी जहाज जलाये गये। इधर राजधानी के संग्राम में जयकत्वंग मारा गया। विजय की सेना ने नगर के भीतर प्रवेश किया तो नगर के घर घर से और मार्ग मार्ग पर प्रजा ने चीनी सेना पर आक्रमण शुरु किया। विजय की सेनाने शीघ्र ही चीनी सेना को परास्त किया। सेनापती और बची खुची चीनी सेना सागर की तरफ प्राण बचाकर भाग गयी। बहुत थोडे जहाज चलाने की अवस्था में थे। सेनापती यिकोमुसा अपने कुछ सैनिकों के साथ भागने में सफल हुआ। उसकी बाकी सारी सेना का विनाश हुआ।

कीर्तिराज जयवर्धन।

राजपुत्र विजय की इस देदीप्यमान विजय से समस्त प्रजा आनन्द और उत्साह से विभोर हो गयी। विजय ने राज्याभिषेक के समय नाम धारण किया 'कृतराजस जयवर्धन'। उसने मजपहित को राजधानी बनाया। कृतराजस का सर्व जीवन संघर्ष में व्यतीत हुआ। उसके पत्नी का नाम था परमेश्वरी जो कृतनगर की कन्या थी। दूसरी रानी का नाम था गायत्री। तीसरी रानी थी इन्द्रेश्वरी। वह मलयु की राजकुमारी थी। इन्द्रेश्वरी से कृतराजस को पुत्र हुआ। उसका नाम "जयनगर' था। कृतराजस ने अपने जीवनकाल में ही जयनगर को कडिरी का राजकुमार बना दिया था। मदुरा के शासक वीरराज को कृतराजस ने उच्च पद दिया। इस प्रकार मजपहित साम्राज्य की स्थापना कर कलियुगाब्द ४४११ (ख्रि. १३०९) में कृतराजस ने अपनी इहलीला समाप्त की।

कृतराजस के पश्चात् जयनगर मजपहित राज्य का स्वामी बना। कृतराजस के मृत्यु के पश्चात अनेक सामन्त विद्रोही हुए। जयनगर अल्पवयस का था। ऐसे समयपर 'गजमद' नामक एक अत्यंत कर्तृत्ववान् राजनीतिज्ञ मंत्री ने अपने चातुर्य से जयनगर के राज्य को संभाला।

लगभग दस बडे विद्रोह हुए। एक बार राजाको गजमद और १५ अंगरक्षकों सहित मजपहित छोडकर भागना पडा। परंतु अन्ततः गजमद ने सारे विद्रोहियों को परास्त किया। जयनगर ने गजमद को प्रधान मंत्री पद दिया। जयनगर का गजमद के प्रति व्यवहार अच्छा नही रहा। बाली की जनश्रुति के अनुसार जयनगर ने गजमद की पत्नी से ही दुव्यवहार किया जो उसके विनाश का कारण बना।

राणी त्रिभुवना

कलियुगाब्द ४४२३ (ख्रि. १३२१) में जयनगर की हत्या की गई। उसके कोई सन्तान नही थी। उसकी विमाता गायत्री राजपत्नी की ज्येष्ठ कन्या 'त्रिभुवना' जयनगर के पश्चात सिंहासन पर आरुढ़ हुई। उसका पूर्ण नाम था 'त्रिभुवनोत्तुंग देवी जयविष्णुवर्धिनी गीतार्या' । उस की माता गायत्री ने बौध्द भिक्षुणी का व्रत धारण करने के कारण त्रिभुवना को सिंहासन प्राप्त हुआ। त्रिभुवना का विवाह चक्रधर नामक क्षत्रिय से हुआ था। त्रिभुवनाने बाईस वर्ष शासन किया। गजमद उसका प्रधान अमात्य था। इस काल में मजपहित सम्राज्य का शासन बाली, मदुरा, सुमात्रा, मलाया, बोर्निओ, सुलावेसी और अनेक छोटे द्वीपों पर था। गजमद ने इस विस्तीर्ण साम्राज्य की आदर्श राज्य व्यवस्था निर्माण की। जर्मनी के एकीकरण और समृध्दि के लिये बिस्मार्क ने जो कार्य किया, वही गजमद ने मजपहित में किया।

त्रिभुवना के पश्चात् हयङ्वुरुक १६ वर्ष की आयु में राजा बना। गजमद उसका भी अमात्य रहा। मजपहित साम्राज्य इस काल में विस्तार और समृध्दि की चरमसीमापर पहुँचा था। इसी के शासन काल में 'नागरकृतागम' ग्रंथ की रचना हुई। इस ग्रंथ में मलाया, सुमात्रा, जावा और बोर्निओ के सिवाय जावा के पूर्व में स्थित २७ अधीनस्थ द्वीप बताये है। हयङ्वुरुक ने 'राजस नगर' की उपाधि धारण की थी। वह स्वयं बुध्दिमान् एवं प्रतापी था।

कलियुगाब्ध ४४९१ (ख्रि. १३८९) में राजसनगर की मृत्यु हुई।

मजपहित साम्राज्य का पतन।

राजसनगर की मृत्यु के पश्चात् गृहकलह के कारण साम्राज्य का विघटन प्रारंभ हुआ। कृतनगर के समय से मलाया, सुमात्रा, बोर्निओ द्वीपों के कतिपय राजा यवद्वीप की अधीनता मानते थे। कृतनगर ने उनका चीन से संबंध भी तोड दिया था। चीन को राजदूत भेजने के लिये वे घबराते थे। परन्तु अब सभी राजाओं ने चीनी सत्ता का संरक्षण स्वीकार किया। सामन्त भी स्वतन्त्र होने लगे। इसी काल में सारा समृध्द व्यापार अरब और मुस्लीम व्यापारियों के हाथ में गया। पूर्ण सागरतट पर उनका वर्चस्व छा गया। भारत में भी सभी बन्दरगाहों पर उनका ही

वर्चस्व था। व्यापारियों के माध्यम से जावा में धर्मातर शुरु हुआ। भारत में भी ऐसी कोई हिन्दू सत्ता नही थी जो इस मुस्लीम आक्रमण को रोके। भारत से निरन्तर पंदरह सौ वर्ष तक ब्राहमण, राजपुत्र, आचार्य और कलाकारों का जो प्रवाह दक्षिणपूर्व एशिया की ओर बहता रहा था। वह सूख गया। भारत स्वयं मुस्लीम आक्रमकों से संघर्ष करते करते शक्तिहीन होता जा रहा था। दक्षिण पूर्व एशिया के हिन्दू सत्ताओं को जीवन रस देने की क्षमता भारत खो बैठा था।

मलाया, जावा, बोर्निओ, सुमात्रा के राजा और सामन्तों ने इस्लाम धर्म का स्वीकार करना प्रारंभ किया। डेढ़ हजार वर्ष की भारतीय परम्परा देखते देखते खण्डित हो गई। मन्दिरों का विध्वंस हुआ। मूर्तियों कों तोडा गया। धर्मान्तर की आँधी ने भारतीय संस्कृति की जड़े ही हिला दी। कलियुगाब्द ४७ (ख्रि. १६) वी शती के प्रारंभ में फिर भी मध्य जावा में मजपहित वंश का एक राज्य था। परंतु कलियुगाब्द ४६२२ (ख्रि. १५२०) में वह भी नष्ट हो गया। किन्तु इस क्षेत्र की जनता ने भारतीय जीवन शैली को पूर्ण तिलाञ्जलि नही दी। धर्मपरिवर्तन के बाद भी हिन्दू और बौध्द धर्म की परम्पराए बनी हुई है।

इन्डोनेशियायी संस्कृति का प्राण : रामकथा

इण्डोनेशिया की राजकीय परम्परा बदल गयी। परन्तु सांस्कृतिक परम्परा आज भी कुछ मात्रा में भारतीय संस्कृति से अपना नाता व्यक्त करती है। इन्डोनेशिया की भाषा, साहित्य, विधि (कानून) आदि क्षेत्र पर भारतीयता का प्रभाव आज भी विद्यमान है। ब्रहमाण्ड पुराण और रामायण इन ग्रंथो पर आज भी श्रध्दा दिखाई देती है।

मतराम साम्राज्य के काल में योगेश्वर नामक कवि ने 'रामायण ककविन् ' की रचना की। आज लगभग एक सहस्त्र वर्ष के बाद भी इस रामकथा का प्रभाव इन्डोनेशिया पर दिखाई देता है। रामायण ककविन् का आधार तो वाल्मीकि रामायण ही है।

रामायण के बालकाण्ड में राम कथा के संदर्भ में वाल्मिकि का यह आत्मविश्वास सच प्रतीत होता है। जब तक गिरी पर्वत स्थिर है ... सरिताएँ महीतल पर बहती है तब तक राम कथा सभी लोक में प्रचलित रहेगी।

''यावत् स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले। तावत् रामायण कथा लोकेषु प्रचरिष्यति।।''

रामायण कक्विन् में योगेश्वर ने भी यही भावना प्रकट की है।

साक्षात् मन्मथशील सङ्रघुसुतामिनुहि विषय धर्म दिङ् सिरात्।
कान्त रामायण भद्रवाद निर मोघ मवङि् रुमिसिप् तिके हति।।

सम्पूर्ण जगत् के प्रति अपना धार्मिक कर्तव्य पूर्ण करने में राघवेन्द्र श्री राम का स्वभाव

साक्षात् मन्मथ के समान है जो विषयधर्म की पूर्ति में अपना कर्तव्य पूर्ण करता है। इसीलिये ईश्वर को भद्रवाद (उत्तम शब्द) से संवलित यह रामायण उस सुरभि के समान बने जो धंस कर लोगों के हृदय में पहुँच जाती है।

योगेश्वर विलक्षण प्रतिभाशाली कवि है। उस की राम कथा प्रामाणिक है। कुछ स्थानोंपर उसकी प्रतिभा ने सुन्दर प्रसंग वर्णित किये है। जब हनुमान सीता की अँगुठी और सन्देश लेकर लौंटते हैं तब योगेश्वर कवि के हनुमान सीता का साक्षात् पत्र लाते है। प्रभुरामचन्द्र वह पत्र हाथ में लेते ही व्याकुल हो उठते है। उनके नेत्र से अश्रुधारा बहने लगती हैं और पत्रों के अक्षर धुलकर अस्पष्ट हो जाते हैं। वे व्याकुल स्वर में कहते है,

"मारुति, भय्या लक्ष्मण, संभालो मुझे। यह पत्रलेख तो देखो तुम। हाय, यह तो धुल गया। अब मैं क्या करूँ? प्रिया के अक्षरों को कहाँ से लाऊँ? आह! व्यथा भार से सन्तप्त मुझे कुछ ध्यान नही रहा। यह भी नही जान सका कि पत्र में आगे क्या लिखा था। हाय रे दुर्भाग्य!"

(ऐ सङ् मारुति! तोस्तुलुङ् कुतसौ सङ् लक्ष्मणादिर्वुलत्।
न्दह् तोन्तोन्त इकेङ् तुलिस् हन लिब्रद् मक्वेह् सुरुद् तन्कतोन् ।।
हाह् तन्बुह अपरञ्जुनिन्य तकुनिङ् संके लरन्याक् हिडिप् ।।
धू घातह् करिका कुनिङ्ङ् हमिङ् रेकान् सुसुक् रिङ् हति।।)

योगेश्वर ने रामायण कक्विन् रचते समय शार्दूलविक्रीडित, स्रग्धरा आदि छन्दों का उपयोग जावा की भाषा में किया है। संस्कृत भाषा से जावा की भाषा का सम्बन्ध भी उस से स्पष्ट होता हैं।

निसर्ग वर्णन करते समय तो कवि की प्रतिभा और ही पल्लवित हो जाती है। महेन्द्र पर्वत को वर्णन करते हुए कवि कहता हैं,

नभस्तल एक युवति कन्या के समान था। मुक्ताहार जैसे नक्षत्रपुञ्ज उसकी करधनी थे। महेन्द्रपर्वत उसका अभिलाषक था। इसी कारण वह आकाश तक पहुँचने के प्रयास में उँचाई तक फैला हुआ था।"

(कन्या मुडा तुल्य निकङ् नभस्तल
किण्डिल्य तङ् वितङ् कित् माणिक तिन् ।
य तेक कह्यन इकङ् गुनुङ् कुनिङ्
मतङ्न्य मावान् दुभुदुग् तिकङ् लङ्ित् ।।)

हनुमान जी जब आकाश में उडान लगाकर चलने लगे तो उनके आकाश मार्ग के सञ्चार का वर्णन कवि योगेश्वर करते हैं। "वह आकाशमार्ग से चले विद्युल्लेखा की तरह। गरुड सूर्य

तथा पवन से भी अधिक था उनका वेग। वह सूर्य के समान तेजस्वी दीख रहे थे। कपिल वर्ण चमरी गाय के रोम समूह के समान उनके रोम समूह लंबे, सुंदर, देदीप्यमान् तेजोमय थे। हनुमान ने अपना शरीर विशाल बना लिया तथा उडते हुए पर्वत के समान वे भीषण दीखने लगे। उन्होंने सवेग झम्पापात किया तथा सूर्यचन्द्रादि ग्रहगणों से भी उपर उठ गये।"

(कदि दिवाकर तेकन यर्कतोन् , कुलु निरेज्ज्वल तेजमयान् कतोन् ।
तुवि मलित् मदवा कदि चामर, कपिलवर्ण अपूर्व्व रि भास्वर।।
अथ मिसत्त सिरङ् पवनात्मज, गगन येक हवन् निर्मङ् लयङ्।
गरुड सूर्य ङ्ङिन् तमत्तर पडे, लकु निराद्भुत शीघ्र मनोजय।।)

कवि योगेश्वर सचमुच इन्डोनेशिया का वाल्मिकी ही है। वाल्मिकि की भावनाओं से वह एकरुप हैं। रामायण ककविन केवल अनुवाद नही है। न वह भाष्य है। उसके शब्दों में स्वयं वाल्मीकि प्रकट होते हैं। रावण की हर रोज की धाक में रहते हुए भी सीता का प्रभु रामचन्द्र पर का विश्वास अडिग् है। रावण जब राम के बारे में उल्टी सीधी बाते करता है। तो सीता उसे फट्करती है,

"हे रावण! तुम क्या जानते हो राजपुत्र रघुत्तम के विषय में? वे सच्चे अर्थों में पृथ्वी के धनुर्धरों में एक मात्र है। वह परमेश्वर के अवतार है। निश्चय ही तुम समरभूमि में उन के द्वारा मारे जाओगे।"

अपपङ् ऋङ्गैमुंइ सिरङ् रघुत्तम। तकरिन् सिरेकन् धनुर्धरेङ् जगत।
पुरुषोत्तमाश सिर देव मानुष । नियताल को पिजह दे निरेङ्रण ।।

जावा में आज भी रामायण का प्रभाव है। राम लीला उनके समाज जीवन में विद्यमान है। रामायण ककविन् की भूमिका इस परम्परा में प्रमुख दिखाई देती है। इन्डोनेशिया का प्राचीन साहित्य स्वाभाविकतः भारतीय परम्परा का है। कडिरी का राजा जयभय के काल में 'भारत युध्द' नामक ग्रंथ की रचना हुई। यह रचना महाभारत के भीष्म पर्व, द्रोण पर्व, कर्ण पर्व और शल्य पर्व इन चार पर्वो पर आधारित हैं।

हेम्पु दर्मय द्वारा रचित स्मरदहन काव्य 'कुमार संभव' पर आधारित है। पौराणिक कथाओं पर आधारित कतिपय साहित्य जावा की भाषा में है। छंदशास्त्र, व्याकरण, आयुर्वेद आदि विषयों पर भी साहित्य का निर्माण हुआ। मनुस्मृति और राजनीति पर स्वतंत्र साहित्य नही दिखाई देता परन्तु इन ग्रंथों का प्रभाव इन्डोनेशिया के राष्ट्रीय और सामाजिक जीवन में विद्यमान है। जावा की भाषा संस्कृतोद्भव है यद्यपि लिपि नागरी से साम्य नहीं रखती। मजपहित साम्राज्य के पतन काल में और इस्लामी आक्रमण के झंझावात में धर्म एवं संस्कृति रक्षा हेतु

बाली द्वीप में अनेक ब्राहमण, आचार्य, राजवंशी व्यक्ति, पण्डित आदि ने आश्रय लिया। इस्लाम से संघर्ष कर इस छोटे द्वीप ने भारतीय संस्कृति का एक केन्द्र निरन्तर जागृत रखा।

बाली द्वीप ।

इन्डोनेशिया के दो प्राचीन नाम है जो भारतीय साहित्य में आते है। एक है द्वीपान्तर और दूसरा है नुसान्तर (नूसद्वीप)। सैंकडो द्वीपों का समूह इस अर्थसे इन नामों का प्रयोग किया गया है। जावा के पूर्व में नुसा तेंगारा द्वीप समूह है। जावा से तिमोर द्वीप तक जावा के पूर्व प्रशान्त महासागर में फैले सैंकडो द्वीप 'नुसा तेंगारा' या छोटा सुंद द्वीप समूह नाम से विख्यात है। इन में जावा से केवल तीन किलोमीटर की दूरी पर बाली द्वीप है। यह बली द्वीप नाम से भी पहचाना जाता है। बाली का क्षेत्रफल ५५६१ वर्ग किलोमीटर है। दक्षिणोत्तर विस्तार १४५ कि.मी. है तो पूर्व पश्चिम अंतर ८८ किलोमीटर का है। द्वीप के मध्य में पर्वतशृखंला है। गुनुंग आगुंग या वाली यह पर्वत का सर्वोच्च ज्वालामुखी शिखर (१०४७३ फूट) है।

बाली में प्रथम भारतीय उपनिवेश उसी काल में स्थापित हुआ जब जावा और बोर्निओ में भारतीय उपनिवेश का निर्माण हो रहा था। बाली की गाथाएँ कहती है कि भगवान बुध्द की माता माया देवी बाली की कन्या थी। जनश्रुति के अनुसार बाली में भी प्रथम उपनिवेश का निर्माण कौडिन्य वंशीय ब्राहमण ने किया। कलियुगाब्द ३६ वी (ख्रि.५) शताब्दि में बाली पर हिंदु शासन था। वहाँ का राजा विधिवत् अभिषिक्त होता था। उसका सिंहासन सुवर्ण का और पावपोश चाँदी का होता था। वह रेशमी वस्त्र तथा रत्नजड़ित मुकुट धारण करता था। चामरधारिणी कामिनियाँ उसके साथ रहती थी। उसका रथ हाथी खींचते थे। रथ पर छत्र लगा रहता था। राजा के आगे नगाडा बजता था, शङ्खध्वनि होती थी। चीनी इतिहास ग्रंथों में भी कहा है कि कौडिन्य का वंश बाली में राज्य करता था।

बाली में सब से पुराना ताम्रपत्र कलियुगाब्द ३९९७ (ख्रि. ८९३) का प्राप्त हुआ है। उसी काल का १९ वर्ष बाद का एक अभिलेख भी उपलब्ध हुआ है। अभिलेख के अनुसार बाली में उस समय उग्रसेन नाम के राजा का शासन था। कलियुगाब्द ४०१७ (ख्रि. ९१५) से ४०३५ (९३३) तक उसका शासन था। उसके पश्चात् तबनेन्द्रवर्म देव राजा हुआ। उसके बाद चन्द्राभयसिंहवर्मदेव का शासन था। कलियुगाब्द ४०७७ (ख्रि. ९७५) में जनसाधुवर्मदेव शासनकर्ता था जिसके पश्चात् रानी श्री विजय महादेवी ने बाली पर शासन किया।

बाली यवद्वीप (जावा) के निकट होने के कारण जब भी यवद्वीप के राजाओं ने अपने साम्राज्य का विस्तार किया बाली पर युध्द के प्रसंग आये। प्रथम धर्मवंश, उसके बाद कृतनगर ने बाली को जीतकर अपने अधिकारी वहाँ पर नियुक्त किये। मजपहित राजाओं ने भी बाली पर

अपना अधिकार स्थापित किया था। मुस्लीम आक्रमणों के सामने जब मजपहित राजा नही टिक सके तो तो वे जावा छोडकर बाली चले गये। बाली हिन्दु शरणार्थियों का आश्रय बन गया। जावा की प्राचीन हिन्दु संस्कृति बाली में केन्द्रीभूत हो गई। बाली में हिन्दु राजाओं की परम्परा थी। परम्परा के अनुसार वहाँ पर देव अगुङ् क्षत्रियों का मूल पुरुष था। केवल एक सौ वर्ष पूर्व तक देव अगुङ् की सात शाखाएँ बाली में विभिन्न स्थानों पर राज्य कर रही थी। बाली में शरणार्थियों को आश्रय देनेवाला राजा था अगुङ् केतु। उसने गेलगेल में राजधानी स्थापित की। बाली के राजा ने इस्लामी आक्रमण का यशस्वी प्रतिकार किया। महान् साम्राज्यों का पतन हुआ। मलयद्वीप, यवद्वीप, बोर्निओ, सुमात्रा सभी द्वीपों के राजाओं ने धर्मांतर किया। सारे मुस्लिम राज्य बन गये। परन्तु बाली ने अपना हिन्दु धर्म, संस्कृति एवं परम्परा अक्षुण्ण रखी।

कलियुगाब्द ४७४१ (ख्रि. १६३९) में मतराम के सुलतान ने बाली पर आक्रमण किया परंतु वह विफल रहा। कलियुगाब्द ४९४१ (ख्रि. १८३९) में बाली को डच सत्ता स्वीकार करनी पडी। डच सेना के अत्याधुनिक जहाज और शस्त्रास्त्र के सामने बाली की सेना पराजित हुई। फिरभी बाली में स्वतंत्रता के लिये संघर्ष चलता रहा। मजपहित राज का वंशज अगुङ् अंग था। उसने क्लुङ्कुङ् में राजधानी स्थापन की थी। कलियुगाब्द ५०१० (ख्रि. १९०८) में उसने डचों के साथ संघर्ष छेडा। तीन वर्ष तक संघर्ष चलता रहा। डचों ने प्रासाद को घेर लिया। बिना शर्त आत्मसमर्पण की माँग की। स्वाभिमानी हिन्दु राजा ने आत्मसमर्पण स्वीकार नही किया।

उसने अपने वंश की कृपाण हाथ में ली। सुवर्णद्वीप के न जाने कितने संघर्षों में शताब्दियों से उस कृपाण ने शत्रुओं का संहार किया था। राजवंश के पुरुष, स्त्री, बालबच्चे, सगे सम्बन्धी सब मरने के लिये सन्नध्द हो गये। चिन्तोड के रजपुतों के सदृश वे प्रासाद से निकल आये। शत्रुओं पर टूट पडे। सब के सब शत्रुओं से झुजते हुए वीरगति को प्राप्त हुए। दक्षिण पूर्व एशिया का एक मात्र हिन्दु राज्य दो हजार वर्षों के इतिहास के साथ सर्वदाके लिये लुप्त हो गया।

आज भी बाली के लोग वोङ् मजपहित (मजपहित जन) कहलाने में गर्व करते है। प्राचीन भारतीय संस्कृति की धारा आज भी वहाँ पर प्रवाहित है। बाली की जनता प्रधानतया शैव पंथीय है। बाली का गुनुंङ् अनुङ् पर्वत बाली धर्मग्रंथों का महा मेरु या कैलास है। इस मेरु पर्वत की पश्चिमी ढलान पर ११ किलोमीटर की परिधि में मेरु शैली के २५ मन्दिर है। उसमें प्राचीनत्तम मन्दिर है 'मार्कण्डेय' का । दूसरा प्रमुख मन्दिर है पुरा वैसकीह' का अर्थात् वासुकि का। वासुकि के मन्दिर के विशाल प्राङ्गण में ब्रहमा, विष्णु और महेश के पलिङ्गह (देवी पीठ) है।

डेनपसार बाली की राजधानी है। जनश्रुति के अनुसार डेनपसार की ईशान्य दिशा में

बेदौलु में मय दानव का राज्य था। बेदौलु याने बेद हुलु जिस का अर्थ होता है मायावी। मय दानव में ऐसा सामर्थ्य था, कि शीश कटने पर वह पुनः जीवित हो जाता था। अन्ततः भगवान् शिव की आज्ञा से इन्द्र ने बाटुर पर्वतपर मय का वध किया। मय के रक्त की नदी पेतान् कहलाती है। मय ने अनेक देवताओं को मारा था। उनको पुनर्जीवित करने हेतु इन्द्रने पर्वत पर अपने वज्र का प्रहार किया जिससे अमृतमय जलधारा प्रकट हुई। जलधारा से इन्द्रतीर्थ का निर्माण हुआ। यही एम्पुल सरोवर हैं। सरोवर से पकेरिसान नदी प्रवाहित हुई। यह बाली द्वीप की गङ्गा है।

बाली में वेदविद्या विद्यमान है परन्तु उसका स्वरुप बदल गया है। वेदों के बाद महत्वका धार्मिक ग्रंथ है ब्रहमाण्ड पुराण। उसके बाद तुतुर याने तात्विक ग्रंथों का महत्व है। तात्विक ग्रंथों के दो वर्ग है। पुरोहितों के लिये जो ग्रंथ है उस वर्ग में आठ विषयों का विवरण है। भुवन संक्षेप, भुवन कोश, बृहस्पति तत्व, सारसमुच्चय, तत्वज्ञान, कदम्पत, संजोस्त्रांति और तंत्रकमोक्ष। दुसरे वर्ग के ग्रंथ ब्राह्मण छोडकर अन्य वर्णों के लिये है। उसमें राजनीति, नीतिशास्त्र, कामन्दक नीति, नरनाट्य, रणयज्ञ और तिथि दशगुणित आदि ग्रन्थ है। अनेक प्राचीन संस्कृत ग्रंथों का रुपांतर बाली की 'कवि' भाषा में किया हुआ है। कथा साहित्य भी विपुल है जिनमें पराक्रमी राजपुत्र, गंधर्व, राक्षस, राजकन्याएँ आदि पात्र होते है।

बाली में भी 'आजिशक' की गाथा है। हस्तिनापुर के पाण्डव वंश का यह राजपुत्र। कलियुगाब्द ३१८० (ख्रि. ७८) में वह बालीद्वीप में आया। और तब से संवत्सर गणना प्रारंभ हुई। अर्थात् यही शालिवाहन शक संवत्सर है। बाली में इसी संवत्सर पर आधारित पञ्चाङ्ग प्रचलित है। वहाँ के उपासना पण्डित 'पदण्डा' कहलाते हैं। उपासना के पूर्व वह वस्त्र, मेखला, उत्तरीय, योगपट्ट आदि धारण कर पैर, मुँह हाथ धोता है। फिर पद्मासन में बैठता है। प्रत्येक कृति मन्त्र के साथ होती है। फिर तालविधान के मन्त्रोच्चार के साथ शिव की पञ्चमूर्ति (साध्य, ईशान् , अघोर, तत्पुरुष, वामदेव) का आवाहन करता हैं। करशोधन, मार्जन और मन्त्रोच्चार कर के प्राणायम किया जाता है। तोय तीर्थ बनाने की विधी कर के न्यास किया जाला है। मन्त्रसहित अर्ध्य दान, भस्मविलोपन, चन्दन लेपन करके यज्ञोपवीत, मेखला आदि धारण करता है। साधना के स्तर पर प्रवेश करने के बाद जपविधि प्रारंभ होता है। जब तक शिरोवेष्ट धारण किया है तब तक उसमें साक्षात् शिव विराजमान् होते हैं। साधना के अनन्तर शिरोवेष्ट उतारा जाता है। सारे मन्त्र शुध्द संस्कृत में होते हैं।

बच्चों को भी किशोरावस्था में ही शिवस्तुति, क्षमापन स्तोत्र आदि पढाएँ जाते है। शिव कवच, विष्णुकवच और रामकवच बाली में आजभी घर घर के नित्यपाठ में है।

इन्डोनेशिया के अन्य द्वीप।

इन्डोनेशिया में हजारो द्वीप है। जावा के पूर्व में बाली, लोंबोक, सुम्बावा, कोमोडो, फ्लोअर्स, लेम्बाटा, सुम्बा, तिमोर ये द्वीप हैं। पापुआ न्यू गिनी का पश्चिमी भाग याने इरियन जय तक का यह द्वीप समूह नुसा तेंगारा या लघु सुंद द्वीप समूह है। इसके सिवा सैंकडो छोटे द्वीप है। कुछ पर बस्ती है। कुछ निर्जन है।

ये द्वीपसमूह कभी शैलेन्द्र साम्राज्य में थे। मजपहित काल में यह द्वीप जावा के अधीन थे। बाली के पास लोम्बोक द्वीप है। उसका क्षेत्रफल ५४३५ वर्ग किलोमीटर है। यहाँ पर की प्राचीन जनजाति है 'ससक'। इस लिये प्राचीन काल में यह 'ससक द्वीप' कहलाता था। कलियुगाब्द ४८२५ (ख्रि. १७२३) में बाली द्वीप के राजा ने उसको अधीन कर लिया। एक सौ साल तक यह द्वीप बाली के अधीन था। बाली के प्रभाव से लोम्बोक में भारतीय संस्कृति ने प्रवेश किया। चक्रनगर उस समय की राजधानी थी। उससे निकट मतराम नगर था। बाली के राजाने चक्रनगर में ब्रहमा विष्णु महेश के मन्दिर का निर्माण किया जो आज भी विद्यमान है।

हिंदु मुस्लिम और ससक परम्पराओं के मिश्रण से वहाँ पर 'वेक्तु तेलु' नामक सम्प्रदाय प्रचलित है। लोम्बोक में रिंजनी पर्वत है। इस पर्वत का अत्युच्च शिखर १२२२४ फूट उँचा है। एक उँची पहाडी पर गुनुङ्ग पेङ्सोङ् मन्दिर है। लोम्बोक का यह शिवमन्दिर जागृत माना जाता है। निकट ही सुन्दर सरोवर है। कलियुगाब्द ४९०७ (ख्रि. १८०५) में वहाँ पर 'अनक अगुङ् गेडे करंग सेम' नामक राजा मतराम (चक्रनगर के निकट) से राज्य करता था। वृध्दावस्था में वह 'गुनुङ् पेङ्सोङ्' मन्दिर में शिवदर्शन के लिये नही जा सकता था। उसने मतराम के पूर्व में १० किलोमीटर पर उस पर्वत की, सरोवर की और शिवमन्दिर की प्रतिकृति बनवाई। इस मन्दिर परिसर को 'नर्मदा' कहते है। लोम्बोक में ही लिंगसर में और एक सुंदर मन्दिर समूह है। पूर्वी लोम्बोक में 'सुरनदी' है जिस के तट पर बाली शैली का सुन्दर शिव मन्दिर है। लोम्बोक का रिंजनी पर्वत 'ससक' जनजाति के लिये भी पवित्र है। पौर्णिमा के दिन भाविक ससकजन पर्वत पर जा के वहाँ के गरम पानी के कुण्ड में स्नान करते है। कलियुगाब्द ४९९६ (ख्रि. १८९४) में डच लोगों ने द्वीप पर कब्जा कर लिया था। यह अब इण्डोनोशिया में है जिससे मुस्लीम प्रभाव बढता हुआ दिखाई देता है।

सुम्बावा द्वीप का क्षेत्र १५४४८ वर्ग किलोमीटर है। यहाँ पर 'ससक' ही राज्य करते थे। मजपहित सम्राज्य के काल में यहाँ पर 'पुर अनुंग गिरीनाथ' मन्दिर बनाया गया। आज भी यह शिवमन्दिर विद्यमान है। ससक जाति आज मुस्लीम बन गयी है। सुम्बावा पर कभी भारतीय संस्कृति का प्रभाव था जो आज दिखाई नही देता।

सुंद द्वीप समूह के उत्तर में बोर्निओ के पूर्व में सुलावेसी (सेलिबीज) द्वीप है। सुलावेसी का अर्थ होता है लोहद्वीप। इसका क्षेत्र फल १ लाख ८९ हजार ३५ वर्ग किलोमीटर है। इस

द्वीप का आकार केंकडे जैसा है। द्वीप पर तोरजा, बुगिनी, मकासर, मिनाहिस, गोरोंताली आदि जनजातियाँ है। इन्डोनेशिया का यह द्वीप मजपहित काल में जावा के अधीन था। सबसे प्राचीन संदर्भ कलियुगाब्द ३६ वी (ख्रि. चौथी) शताब्दि का है। पूर्णवर्मा ने यहाँ पर गोमती और चन्द्रभागा नहरों का निर्माण किया था। करमा नदी के तटपर सेमपागा स्थान पर बुध्द की पीतल की मूर्ति प्राप्त हुई है। क्षेत्रफल की तुलना में सुलावेसी की जनसंख्या बहुत कम रहती आयी है। भारतीय संस्कृति का स्पर्श इस द्वीप को प्राचीन काल में ही हुआ था। परन्तु अभीतक पर्याप्त पुरातत्वीय साधन प्राप्त नही हुए है। दक्षिण भाग में एक शिवप्रतिमा प्राप्त हुई है।

सुलावेसी के पूर्व में इरियन जय तक के द्वीप समूह को मेलुक द्वीप समुह कहा जाता है। अंबोयना, सपरुआ, सेराम, तेमेत, तिडोर, कमोडो, फ्लेअर्स आदि द्वीप इस समूह में आते है। लगभग कुल ७४५०५ वर्ग किलोमीटर क्षेत्र के एक हजार से अधिक द्वीप है। सेराम (श्रीराम) द्वीप का क्षेत्र ६६२१ वर्ग किलोमीटर है। इस द्वीप पर एक शिवप्रतिमा प्राप्त हुओ थी। मजपहित काल में ये सभी द्वीप जावा के अधीन थे। अधिकांश द्वीपों पर जनजातियों की संस्कृति है परन्तु इस्लामी प्रभाव के कारण वे अपनी संस्कृति खो रहे है। आस्ट्रेलिया के उत्तर में पापुआ न्यू गिनी द्वीप है। इस द्वीप का पश्चिमी प्रदेश इरियन जय अर्थात् आर्य जय कहलाता है। उसकी राजधानी जयपुर है। भारतीय साहसी नाविकोंने कदाचित् दो हजार वर्ष पूर्व ही इन हजारो द्वीपों का परिचय करा लिया था। नये नये द्वीप खोजकर वहाँ उपनिवेश स्थापित किये थे। परन्तु उनके इतिहास के साधन आज तो अपर्याप्त है। प्रशांत महासागर पर उस काल में भारतीय नाविकों का निर्विवाद प्रभुत्व दिखाई देता है। यही कारण है कि प्रशान्त महासागर पार कर इन्डोनेशिया से भारतीय आगे मेसो अमेरिका में और दक्षिण अमेरिका में जा पहुँचे और वहाँ पर उन्होनें अपना प्रभाव निर्माण किया।
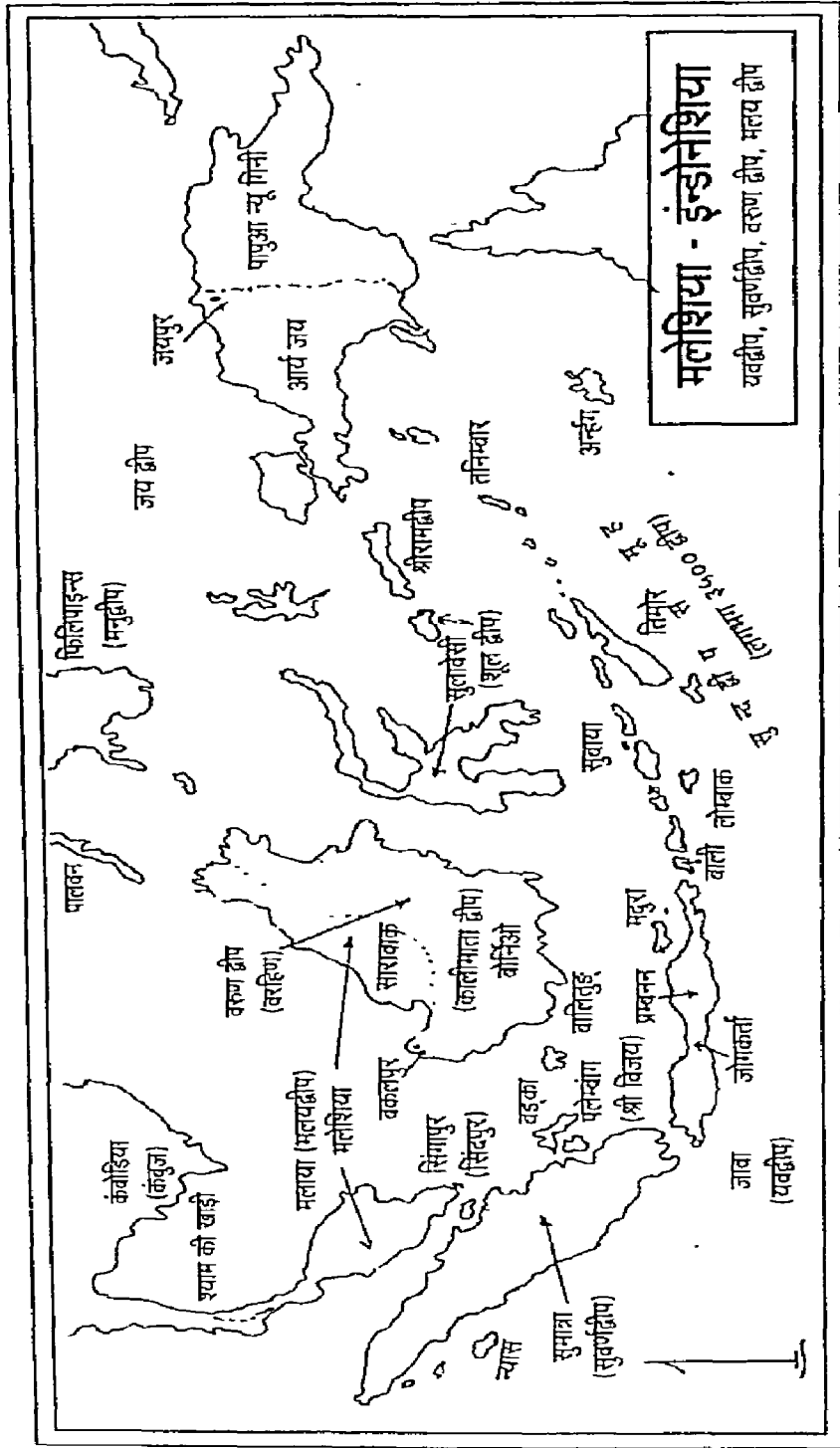
मलेशिया - इन्डोनेशिया
यवद्वीप, सुवर्णद्वीप, वरुण द्वीप, मलय द्वीप
कंबोडिया
(कंबुज)
श्याम की खाड़ी
पालवन
फिलिपाइन्स
(मनुद्वीप)
जय द्वीप
जयपुर
पापुआ न्यू गिनी
आर्य जय
वरुण द्वीप
(वरहिण)
मलाया (मलयद्वीप)
मलेशिया
वकलपुर
सारावाक
सिंगापुर
(सिंदपुर)
(कालीमाता द्वीप)
बोर्निओ
सुलावेसी
(शूल द्वीप)
श्रीरामद्वीप
तनिम्बार
न्यास
वड्का
सुमात्रा
(सुवर्णद्वीप)
पलेम्बांग
(श्री विजय)
वालितुङ्
सुवाया
अर्न्हेम
प्रम्बनन
मदुरा
तिमोर
सुन्द द्वीप समूह
(लगभग ३५०० द्वीप)
बाली
लोम्बाक
जावा
(यवद्वीप)
जोगकर्ता
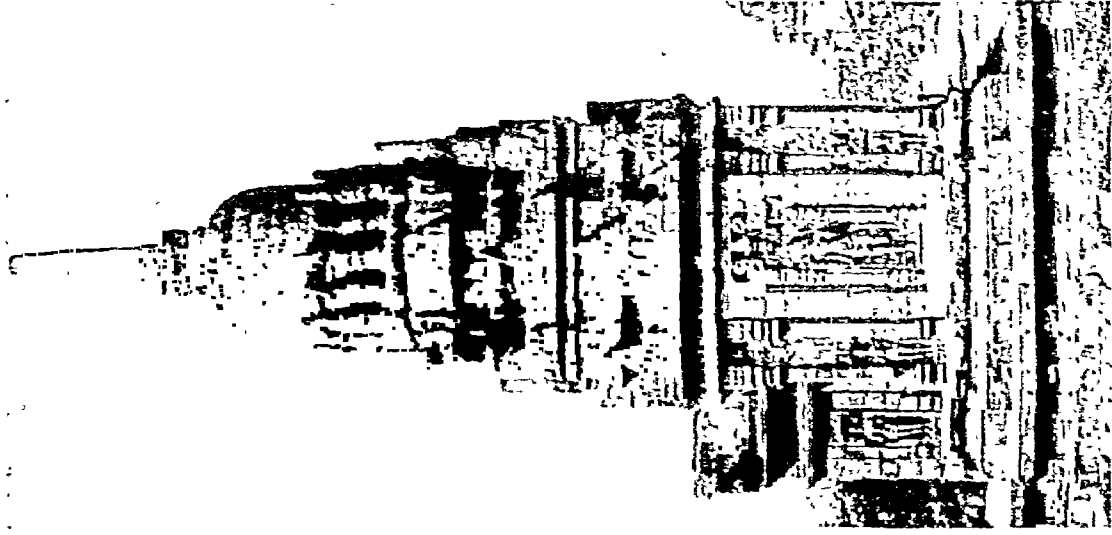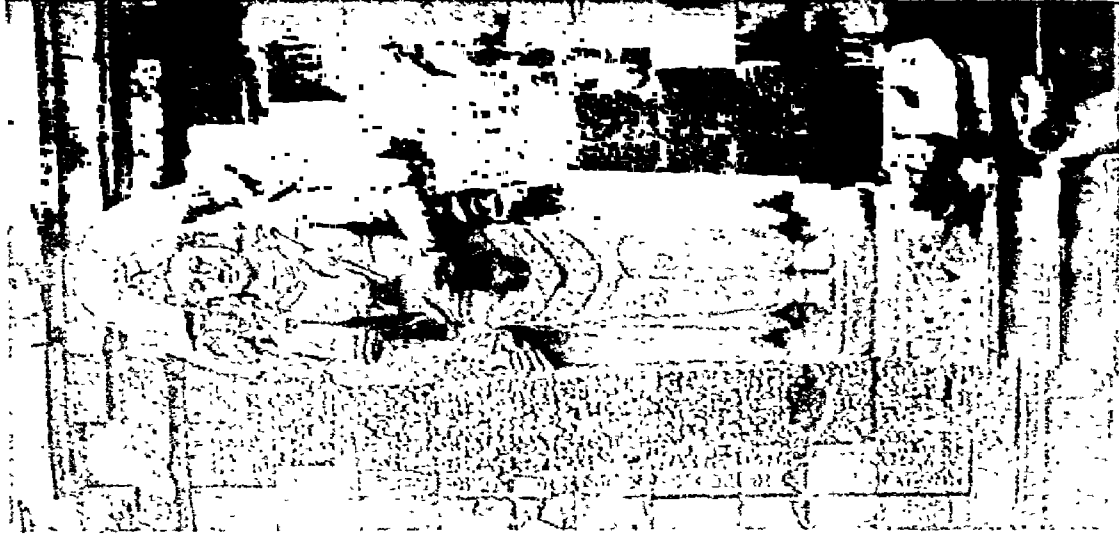
मानचित्र क्र. ७

३१. चण्डी सेवु - (प्रम्बनन - जावा)

३०. चण्डी लारा जोंग्रंग - शिव (प्रम्बनन - जावा)
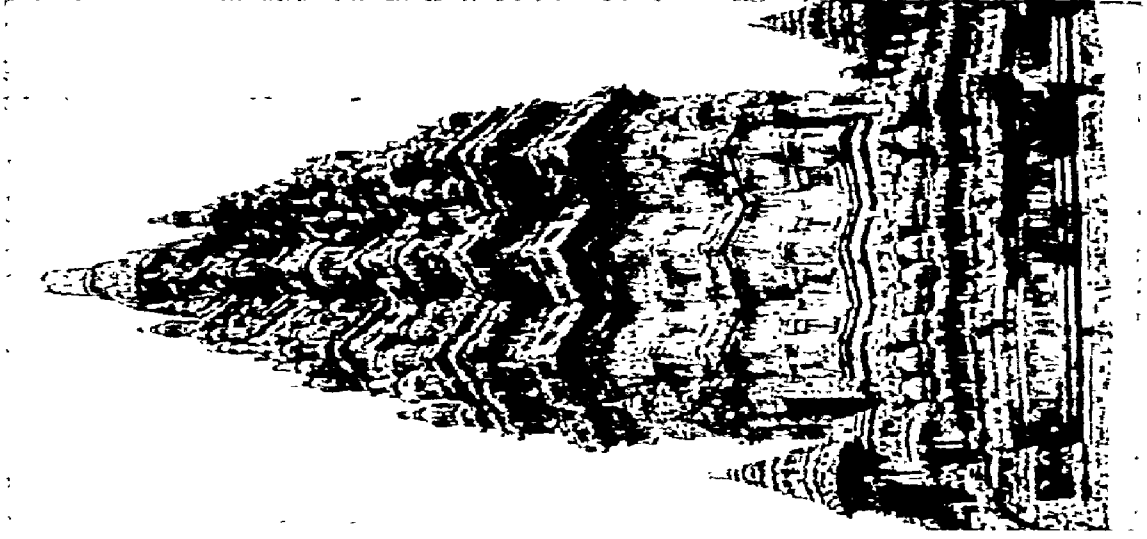
३२. चण्डी लारा जोग्रंग (प्रम्बनन - जावा)
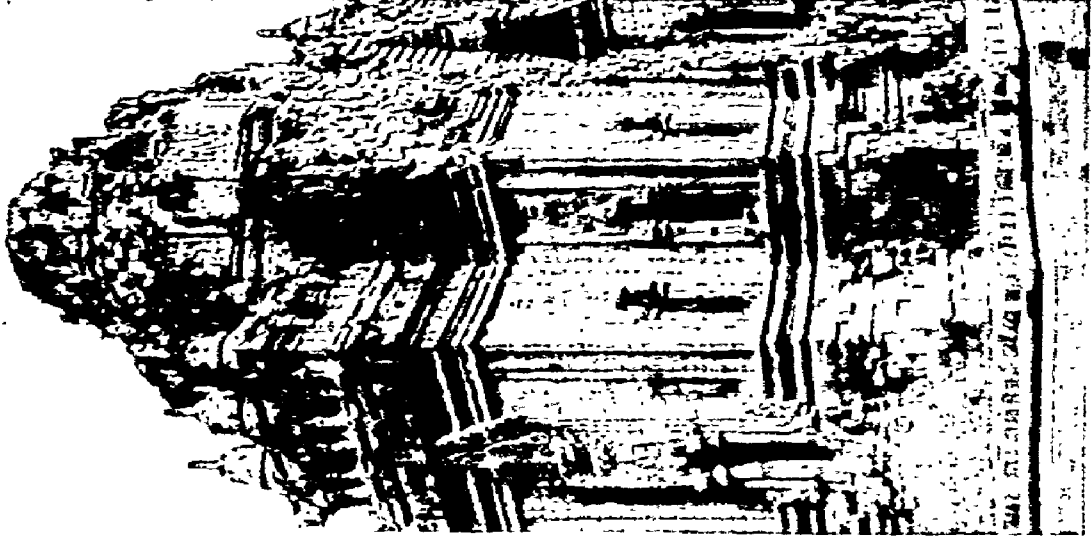
३३. चण्डी कलसन् (प्रम्बनन - जावा)

३४. महिषासुर मर्दिनी दुर्गा (चण्डी सिंगासरी-जावा)

३५. गणेश (प्रम्बनन, जावा)

३६. चण्डी किदाल (प्रम्बनन, जावा)
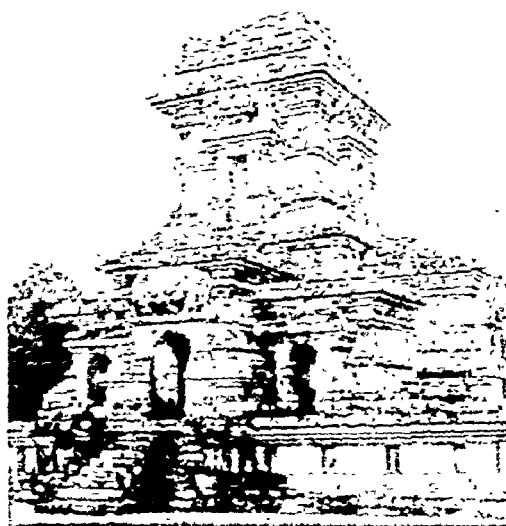
चण्डी सिंगासरी (प्रम्बनन, जावा)
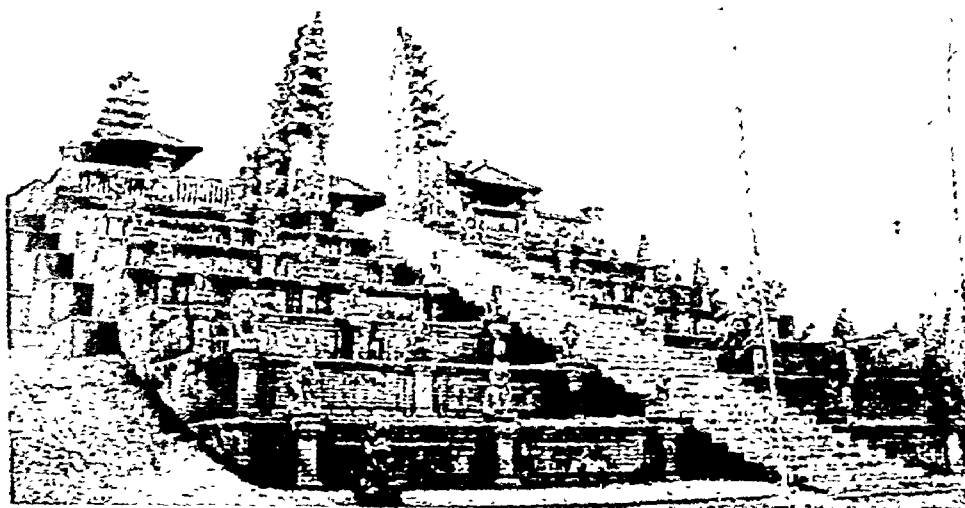
३७. चण्डी बेन्तार मंदिर - (बाली द्वीप)

३८. विष्णु (जावा - इन्डोनेशिया)
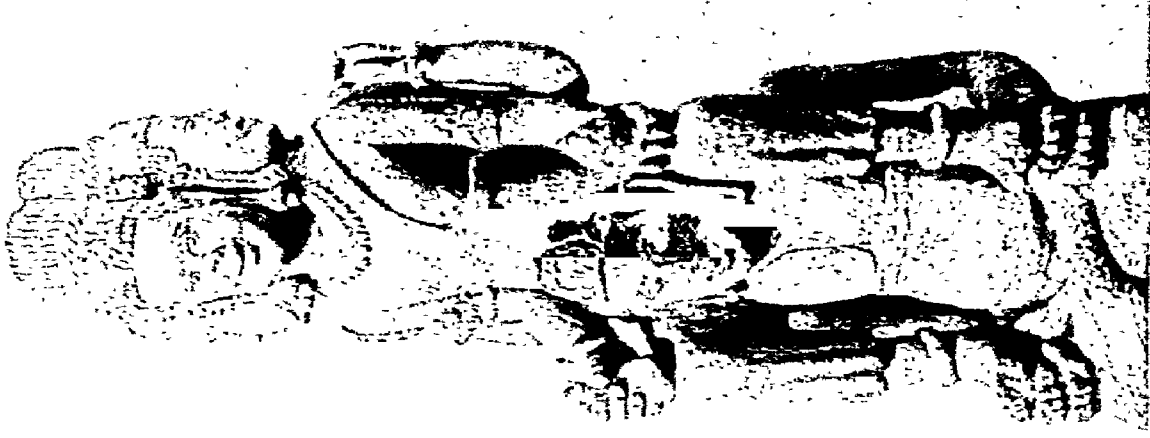
३९. ब्रह्मा (जावा - इन्डोनेशिया)
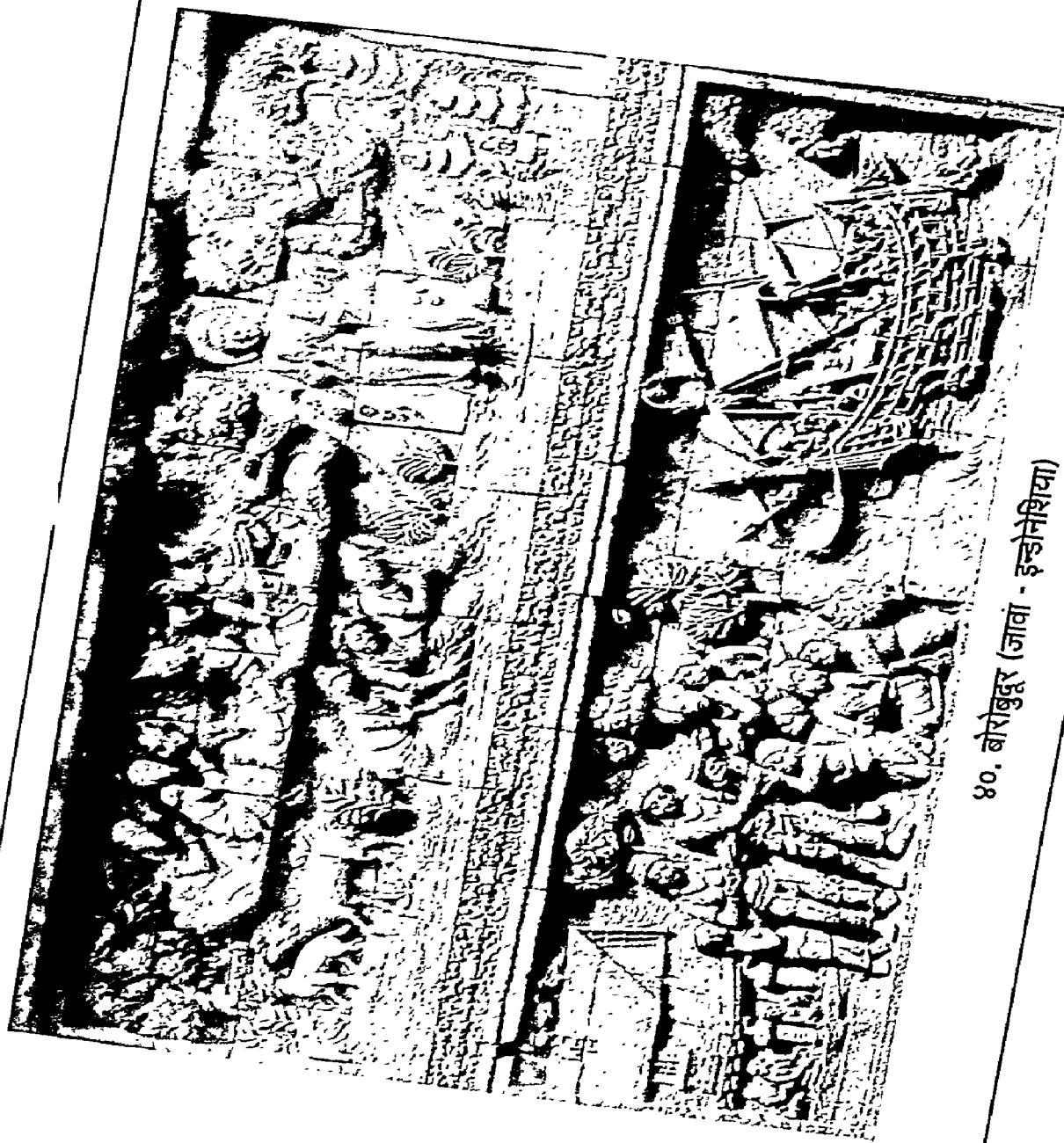
४०. बोरोबुदूर (जावा - इन्डोनेशिया)

४१. बोरोबुदूर (जावा) के शिल्प
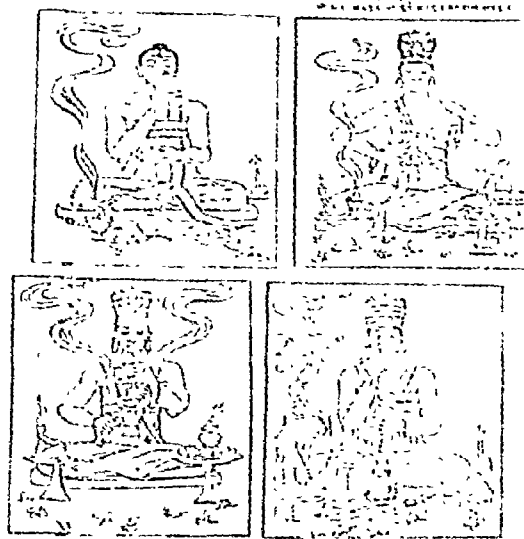
४२. हिन्दु पूजा पध्दति (बाली)

तिबेट (त्रिविष्टप)

पृथ्वीका मानदण्ड : हिमालय।

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधीऽवगाह्य स्थितः पृथिव्यामिव मानदण्डः।।

कालिदास ने हिमालय का वर्णन 'पृथ्वी का मानदण्ड' कहकर किया है। इस विशाल ब्रहमाण्ड का एक ग्रह गोल है यह पृथ्वी। उस गोल का उत्तुंग पर्वतराज हिमालय! लाखो वर्ष पूर्व पृथ्वी के गर्भ में से उछलकर सागर के मध्य में से झपट्टा मारकर यह नगाधिराज उपर आया। सागर की तरंगों को भेद कर अपनी ग्रीवा उँची उठाकर उसने समग्र भूखण्ड पर चारो ओर दृष्टि घुमायी। निवास के लिये उसे यह पुण्यभूमि दिखाई दी। वह हर्षोन्मत्त हुआ। उसे यह भी पता चला कि इस भूमि पर स्वयं भगवान अवतार धारण कर आते हैं।...और उस ने निश्चय किया। उत्तुंग शिखरों के पंख फैला कर, सागर की ममता से मुक्त हो कर वह बाहर निकल आया...तभी से उस का भारत से स्थायी नाता हो गया।

उसके कैलास की धवल शोभा देख देवाधिदेव महादेव भी मोहित हुए। उन्होंने कैलास को ही अपना वासस्थान बनाया।...नगराज ने देखा कि अपनी कन्या उमा इस निराले पौरूष पर मुग्ध है। उसे प्रसन्नता हुई। उमा का उस ने शङ्कर से विवाह करा दिया। भगवान शंकर और आदिमाया पार्वती के वास के कारण सभी देवताओं का निरन्तर आवागमन होने लगा। उस के स्पर्श से हिमालय का अंग अंग पुलकित होने लगा।...वह सोचने लगा - इस पुण्यभूमि के कारण मुझे यह सम्मान प्राप्त हुआ। कैसे मैं इस ऋण से उऋण होउँ?

इस विचार से हिमालय विकल रहने लगा। गङ्गा से अपने पिता की यह व्यथा छिपी न रही। उस ने पिता को सांत्वना दी। गंगोत्री से उछल कर कल कल करती हुई वह निकल पडी...गहन उपत्यकाओं, निबिड़ अरण्यों और जन्मजात साथी रजत-धवल शिखरों से विदा लेकर वह निकल पडी।...अकेली नही निकली।...उसने अपने सखियों को भी सङ्केत किया। और फिर रावी, वितस्ता, सिन्धु, कोसी, गण्डकी सभी...सभी चल पडी...मायके के मधुर गीत गाती हुई उन की धाराएँ समस्त आर्यावत में फैल गई। भारत वर्ष का जीवन उन्हों ने समृध्द किया...सम्पन्न किया। पर...क्या पता, स्यात् गङ्गा और ब्रहमपुत्र की अनबन हुई...वह रूठ

कर निकली तो चल पडी पूर्व की ओर। त्रिविष्टप (तिब्बत) की भूमि पर ल्हासा को छूते हुए उसने एक अलग मार्ग लिया। गौरी शंकर के परे से वह ब्रह्मदेश की ओर मुड गयी।...तथापि, पहले ही स्त्री का मन...उस में फिर वह चञ्चल सरिता,...पता नही स्यात् ब्रह्म देश की इरावती ने उसे सङ्केत किया हो... अर्धचन्द्राकार मोड लेकर ब्रहमकुण्ड से वह पुनः पश्चिमाभिमुख हो गयी। कामरूप का सत्कार स्वीकार कर उस ने वंग-भूमि में प्रवेश किया...वहाँ उसने देखा गङ्गा को...सागर की ओर जाते हुए...अनेक दिनों के वियोग के बाद उसे देखकर उसे अपने पीहर का स्मरण हुआ होगा...वह उसे मिलने आतुर हो उठी...गङ्गा का स्नेह भी उमड आया ...उन्हों ने हाथ पसारे...और ब्रहमपुत्र दौड कर गङ्गा से गले मिली। परस्पर स्नेह का ज्वार उमड पडा...ब्रहमपुत्र उसे त्रिविष्टप की कथाएँ सुनाने लगी।

हिमालय अपनी मानसकन्याओं का कर्तृत्व देख प्रसन्न हुआ। उसका अंग अंग रोमाञ्चित हो उठा जिससे नानाविध लताओं...वनस्पतियों का सृजन हुआ, पशुपक्षियों से कलकूजित वृक्षराजि का निर्माण हुआ।शाल, केतक, कदम्ब आदि बहुविध वृक्षों से सम्पन्न रमणीय वनों में फिर कस्तुरी मृगों और नृत्यकुशल मयुरों के झुण्ड उपस्थित हुए। यत्र-तत्र रमणीय सरोवर दिखाई देने लगे मानो नगराज के स्वेदबिन्दु हो! उन सरोवरों में दूर दूर से हंस कारण्डक आदि पक्षी आ बसे। आम्र, जम्बु आदि वृक्षों को फलभार सें विनम्र हुए देख वनचरों ने भी वास स्थान बनाये। पूर्व दिशा के उत्तुंग पहाडों की वृक्षराजियाँ देख गजराज को भी मोह हुआ। घाटियों और उपत्यकाओं में से गिरने वाले प्रपातों की ध्वनि और केतकी पुष्पों की सुगन्ध से वह हर्षित हुआ। अपनी प्रजा समवेत वह आया...फिर वृषभ आये...ओर आये वन कपि! हिमायल की इस अरण्यभूमि की कीर्ति सुगन्ध को उन्होंने दूर दूर तक पहुँचाया। सभी ऋतुओं में समान रूपेण समृध्द वन प्रदेश को देख वनराज प्रसन्न हुए। हिमगिरि की गर्भस्थ गुफाओं में वनराजाओं ने भी अपने सिंहासन स्थापित किये।

अमृतरस का प्रवाह लिये दौडनेवाली सरिताएँ वर्षा ऋतु में किसी अल्हड किशोरी के समान उछलती जाती है तो शरद् ऋतुमें किसी मानिनी सदृश रूठ कर कुप्पा हो बैठती है।...और जहाँ ग्रीष्म का आरम्भ हुआ कि पिघले हुए हिमरत्नों का भार उदर में लेकर गर्भिणी जैसी सलज्ज मन्द मन्द पदन्यास करते हुए प्रवाहित होती है।

इन सरिताओं और पशुपक्षिओं से गुंजित रमणीय वनभूमि के प्रति ऋषि मुनियों में बडा आकर्षण उत्पन्न हुआ...पूर्ण की खोज में प्रस्तुत मनीषियों ने हिमालय की गोद में शरण ली। उन के पुण्यमय पादस्पर्श से हिमालय और अधिक पुलकित हुआ।

ऐसा यह मानदण्ड! भारत वर्ष का हिमरत्नों से जड़ा किरीट! इस किरीट के शांकव शीर्ष

पर एक और चमकदार श्वेतवर्ण हीरा है। हिम-बिन्दुओं के स्वर्णिम मूठे में बिठाये इस हीरे की दक्षिण कोर पर बहमपुत्र ने वेलबूटा बना दिया है। हिमालय की गिरि शाखाओं ने उस पर छोटेबडे पठारों की कल्पना सजाई है। सहस्त्ररश्मि के रथ के अश्व अपनी प्रति दिन की यात्रा को आरम्भ करने से पूर्व मानो प्रथम यहाँ किञ्चित् विश्राम करते है। देवताओं के निवास की ओर उत्तर दिशा में जाने वाला मार्ग यहीं से होकर जाता है। और हिमनगराज अपनी ग्रीवा उठाकर उन पुण्यात्माओं की ओर कौतुहलपूर्वक देखता है। हिमालय के समान ही उस की उत्तरी कोख में बसा हुआ त्रिविष्टप भी इस भरतभूमि का चिरकाल ऋणी है।

भारतीय संस्कृति का उज्ज्वल प्रतीक 'त्रिविष्टप'।

दलाई लामा समग्र त्रिविष्टप में सर्वश्रेष्ठ राष्ट्रपुरूष एवं धर्मपुरूष माने जाते है। चतुर्दश दलाईलामा कहते है "संस्कृति, शिक्षा, धर्म, उपासना, साहित्य, कला आदि सभी क्षेत्रो में तिब्बत का मार्गदर्शन भारत ने ही किया है। मौलिक विचार दर्शन का प्रवाह भारत से अव्याहत रूपेण तिब्बत की ओर बहता रहा और ज्ञानातुर तिब्बत ने उस प्रवाह का हृदय से स्वागत कर उस में अवगाहन किया।"

लगभग साढे तीन हजार वर्ष पूर्व भारत में हिमालय की गोद में कपिलवस्तु में एक महान आत्मा ने जन्म लिया। राज परिवार में जन्म पा कर भी उसने वैराग्य ग्रहण किया। सभी सुख-सुविधाओं के सुलभ होते हुए भी उसने साधारण जनों के दुःखों को अनुभव किया। उग्र तपस्या कर वह योगी बन गया। 'सिध्दार्थ था, बुध्द बन गया। ध्रुव ने अटल पद प्राप्त किया था, गौतम ने 'अक्षय ज्ञान' को प्राप्त कर लिया।

जीव जन्म पाता है...पर आने से जाने तक उसे जीवन में दुःख निवारण का उपाय कौनसा? औषधि क्या है? अमृत की खोज जितनी कठिन, पारस पत्थर की प्राप्ति जितनी दुर्लभ, कल्पवृक्ष का दर्शन जितना दुर्गम, उतना ही कठिन इस प्रश्न का उत्तर...प्रत्युत् असम्भव!

तथापि अहो आश्चर्य! सिध्दार्थ गौतम ने इस की कारण मीमांसा की। जीवन के दुःखों को शीतल सुसह्य बनाने की अद्‌भुत कला हस्तगत की। भौतिक विज्ञान में इस प्रश्न का कोई उत्तर नही था आध्यात्म शास्त्र में कोई अनुत्तरित प्रश्न नही था। गौतम बुध्द तो योगी थे...पर व्यक्तिगत मोक्ष के अभिलाषी नही। हृदय में जनसामान्यों के लिये अपार करूणा। विपरीत स्थिति में भी अनोखी मुदिता, उपेक्षा से ओतप्रोत जीवन होते हुए भी जनसाधारण के दुःखों से एकरूपता उसी हेतु हुआ था महाभिनिष्क्रमण और जीवन कार्य था धर्मचक्रप्रवर्तन!

भारत वर्ष के लिये केवल इस में कोई नयी बात नही थी। उसने गौतम की सराहना की एक अन्यतर बात के लिये। बुध्द की प्रेरणा से असंख्य भारतीय विद्वान, भिक्षुओं के रूप में विश्व

में सञ्चार करने लगे। इन प्रचारकों का धरती पर सर्वदूर सर्वत्र समान रूपेण स्वागत हुआ। उन्होने सभी को भारतीय संस्कृति की दीक्षा दी। सभी एक से नही होते। उच्छृंखलता या घमण्ड में व्रत न छोड कर उसका आजन्म पालन करने की जो प्रतिज्ञा तिब्बत ने ग्रहण की, उसका मनसा वाचा कर्मणा निर्वाह किया। हिमालय के उत्तर में मध्यएशिया के पठार पर स्थित इस देश का नाम महाभारत के भीष्म पर्व में आता है। यही है प्राचीन उत्तर कुरू। आर्यविद्या सुधाकर इस ग्रंथ में त्रिविष्टप नाम आया है। इसी के अन्य नाम है किन्नर खण्ड, किं-पुरूषखण्ड और स्वर्ग भूमि।

इस का क्षेत्र फल है लगभग १२ लक्ष ८० हजार वर्ग किलोमीटर। पश्चिम में काश्मीर है तो पूर्वोत्तर दिशा में चीन। काश्मीर के साथ ही नेपाल, भूतान और सिक्कीम की सीमाएँ तिब्बत से जुडी हुई है। तिब्बत १६ से १८ हजार फूट की उँचाई पर बसा हुआ है। मानस सरोवर और राक्षसताल ये पवित्र सरोवर इसी देश में है। चीन की यांग त्सी क्यांग और हँाग हो इन विशाल नदियों के स्त्रोत तिब्बत से ही निकलते हैं। तिब्बत का दक्षिणी भू प्रदेश ब्रहमपुत्र, सिन्धु, शतद्रु (सतलज) और कर्नाली नदियों की घाटी के कारण सुजलाम् सुफलाम् है। इसी भाग में क्यी चू नदी के तट पर तिब्बत की राजधानी ल्हासा नगरी बसी हुई है।

बौध्द मत के रूप में भारतीय संस्कृति का स्वीकार -

तिब्बत की अनुश्रुतियों के अनुसार २००० वर्ष पूर्व मगध से एक राजपुत्र तिब्बत गया। उस ने वहाँ पर राज्य की स्थापना की। उस के ३२ वंशजों ने वहाँ पर राज किया। और एक गाथा के अनुसार कोसल नरेश प्रसेनजित का एक वंशज तिब्बत में राज करता था। वत्स राज उदयन के वंश से भी तिब्बत के राजवंश का सम्बन्ध एक गाथा जोडती है। लगता है, कलियुगाब्द की २५ वी (ख्रि. पूर्व छठी) शताब्दि के भारत के जनपद राज्यों का संबंध तिब्बत से था। परन्तु तिब्बत में लगभग एक हजार चार सौ वर्ष पूर्व एक विलक्षण संयोग से बौध्द धर्म का प्रवेश हुआ। तब से आज तक तिब्बत बौध्द धर्मी है।

दिग्विजयी नरदेव-कलियुगाब्द ३७३१ (ख्रि.६२९)

नरदेव (मिहील्हा) केवल १३ वर्ष के आयु में तिब्बत के राजसिंहासन पर आरूढ हुआ। इस आयु में भी वह परिपक्व बुध्दि से युक्त था। ग्नाम् रि श्रोण ब्त्साब, इस पराक्रमी राजा का पुत्र था। राज्यारोहण के पश्चात् शीघ्र ही नरदेव ने अपने राज्य का सेना दल संगठित किया। वह दिग्विजयी बनना चाहता था। उत्तर में चीन की बलाढ्य सत्ता थी और दक्षिण में नेपाल नरेश अंशुवर्मा की अधिसत्ता थी । नरदेव ने पहली टक्कर दी नेपाल को। अंशुवर्मा ने समय वक्र देख कर अपनी कन्या का विवाह नरदेव से कर उस से मेल कर लिया। नरदेव की आयु इस समय

सोलह वर्ष की थी और नेपाल की राजकन्या 'थि ब्त्सान' अठारह वर्ष की थी। शि ब्त्सान अपने साथ नैहर से क्या ले जाती? वह ले गयी भगवान बुध्द 'अक्षोभ्य' की सुन्दर मूर्ति...और त्रिविष्टप के राजकुल में बुध्द की उपासना आरम्भ हुई।

नेपाल विजय के अनन्तर सम्राट नरदेव ने चीन पर धावा बोल दिया। उसके पराक्रम से चीन का सिंहासन हिल उठा, चीन के सम्राट ने भी हार मान ली और इस वीर पुङ्गव को अपना जामात बना लिया। चीनी नरेश भी बौध्द मत का था। चीन की राजकन्या वेन् चेङ्ग भी पीहर के देवताओं को साथ लेकर ससुराल आयी। शाक्य मुनि और बुध्द का आठवाँ अवतार माने जाने वाले मैत्रेय उस के कुलदेवता थे। दोनों मूर्तियाँ उसके साथ त्रिविष्टप आयी। ये दोनो राजमहिषी नरदेव की पत्नियाँ थी और गुरु भी। बौध्द धर्म के बारे में राजाकी जिज्ञासा जागृत हुई। तिब्बत की मूल प्रकृति भारतीय होगी। नरदेव ने सोच-विचार कर निश्चय किया-शताब्दियों से हम इस संस्कृति से बिछुडे रहे। अब देर करना ठीक नही। उस ने थोन मि सम्भोत नामक एक बुध्दिमान पण्डित को बुलाकर उसे अपने अंतर की व्यथा बतायी। सम्भोत अपने सोलह सहयोगियों को लेकर आर्य देश की ओर चल पडा। पुण्यभूमि पर पग रखते ही वह भाव विभोर हो गया। गौतम की ज्ञान प्राप्ति के साक्षीभूत पुण्य-पावन मृगदावन को उसने देखा। बोधिवृक्ष के चरणों पर माथा टेक कर उस ने अध्ययन प्रारंभ किया। संस्कृत, पालि, मागधी, अनेक भाषाओं का अध्ययन किया। अनेक पुस्तकालयों के बौध्द ग्रंथ पढे। उन की प्रतिलिपियाँ कर ली। विख्यात लिपिदत्त आचार्य सिंहघोष के पास लिपिशास्त्र का सघन अध्ययन किया। सन्तृप्त हो कर वह तिब्बत वापस गया।

राजा ने उसे गुरू पद दिया। प्रजा ने हर्षभरित हो कर इन गुरू और शिष्य का सम्मान किया। तिब्बत को भाषा थी पर लिपि नही थी। केवल मौखिक परम्परा थी। सम्भोत ने मध्य भारत की प्राचीन लिपि के आधार पर तिब्बती लिपि की रचना की। समग्र त्रिविष्टप ने उसे स्वीकार किया। अनेक बौध्द ग्रंथो के अनुवाद तिब्बती भाषा में किये। केवल व्याकरण शास्त्र पर कारण्डव्यूह, रत्नमेघ आदि आठ ग्रंथों की रचना की।

तिब्बत का सम्राट नरदेव त्रिविष्टप के धर्म, संस्कृति और राष्ट्र कल्पना का प्रेरक और संस्थापक बना। भव्य एकादशतलीय प्रासाद में उसने भगवान बुध्द के करूणामय रूप अवलोकितेश्वर की चन्दन-प्रतिमा की प्रतिष्ठापना की। बौध्द दर्शन के अनुसार दस शिक्षा पदों पर आधारित राज्य-शासन खडा किया। प्रजा के अन्तःकरण में मातृभूमि की कल्पना के सद्भाव जागरित किये। प्रजा की दृष्टि में तो नरदेव मानव देहधारी भगवान बुध्द ही था। अपने प्रिय और आदरणीय व्यक्ति में परमात्मा का रूप देखना एक सहज प्रवृत्ति है। मृत्यु के पश्चात नरदेव को

बुध्द के करूण अवतार स्वरूप मानकर अवलोकितेश्वर के रूप में उसके मन्दिर खडे किये गये। गौतम बुध्द के जीवन में यशोधरा का स्थान था वही स्थान दोनो राजमहिषियों को प्राप्त हुआ। हरित तारा और शुभ्र तारा देवियों के रूप में उन्हे भी अवलोकितेश्वर के वाम और दक्षिण पार्श्व में अर्चना का स्थान दिया गया। नेपाली राजकन्या द्वारा लायी अक्षोभ्य की मूर्ति मन्दिर में स्थापित की गयी। वही वर्तमान में खान्, मन्दिर है। चीनी राजकन्या के साथ शाक्य मुनि एवं मैतरेय की मूर्तियाँ भी एक भव्य मन्दिर में स्थापित की गई। ल्हासा का यह एक प्रमुख मन्दिर आज भी विद्यमान है।

आचार्य शान्तरक्षित 'त्रिविष्टप' में...

भारत और त्रिविष्टप का संबंध प्राचीन था। अति प्राचीन काल से ही भारत से तिब्बत, आवागमन निरन्तर था। हिमालय की गगनचुम्बित हिम मण्डित चोटियाँ, दुर्लंघ्य घाटियाँ, गहरे खाई खड्डें, खूँखार हिंस्र जन्तुओं से भरे दुर्गम सघन जंगल इन सब को पार करते हुए साहसी वीर युवक और संन्यासी तिब्बत जाते रहे। अनेक लोग वहाँ जाकर बस भी गये थे। महाभारत में एक संदर्भ है, "ये वसन्ति कुरूक्षेत्रे ते वसन्ति त्रिविष्टपे।"

कलियुगाब्द ३९ वी (खि. ८ वी) शती में बौध्द के महान आचार्य तिब्बत में गये। उन्होंने तिब्बत को शुध्द प्रेरक बौध्द तत्वज्ञान की शिक्षा दी। इस समय भारत की राजनैतिक स्थिती संकटग्रस्त थी। महान गुप्त साम्राज्य नही रहा था। फिर भी नालन्दा विश्वविद्यालय सुचारू रूप से अध्यापन एवं ज्ञानप्रसार के कार्य में मग्न था। कलियुगाब्द ३७७७ (खि.६७५) में आचार्य ज्ञान-गर्भ के शिष्य शान्तरक्षित नालन्दा विश्वविद्यालय में अध्ययन कर रहे थे। उस समय उन की आयु २५ वर्ष की थी। विख्यात चीनी भिक्षु इत्सिंग नालन्दा में उन का सहपाठी था। आचार्य शान्तरक्षित अध्ययन पूर्ण करने के पश्चात् वही पर आचार्य बने। कुछ काल के पश्चात् उन्हें कुलगुरू का पद प्राप्त हुआ। उन के कार्य की कीर्तिसुगन्ध तिब्बत में पहुँच गई थी। तिब्बत में कलियुगाब्द ३८२६ (खि.७२४) में 'ति-सोंग-दे-सेन्' राजा सिंहासन पर था। उस ने आचार्य शान्तरक्षित को आमंत्रित किया।

आचार्य की आयु अब ७५ वर्ष की थी। फिर भी वे यात्रा के लिये चल पडे! अत्यंत कठिन यातनाएँ और विपत्तियों से सामना करते हुए वे तिब्बत पहुँचे। उस काल में तिब्बत में भूत-प्रेतों में विश्वास रखने और उन की पूजा करनेवालों की संख्या बहुत थी। आचार्य शान्तरक्षित को उन का कडा विरोध सहना पडा। राजा ने परिस्थिती देखकर कुछ काल के लिये वापस लौटने की प्रार्थना की। आचार्य फिर नेपाल चले गये।

आचार्य पद्मसम्भव -

दो वर्ष के बाद राजा ने फिर से आचार्य शान्तरक्षित को लाने के लिये दूत भेजे। आचार्य आयु से थके हुए थे परन्तु उत्साह चण्ड था। बुध्दि असाधारण थी। अब अपने साथ वे महान तांत्रिक आचार्य पद्म सम्भव को साथ लेकर चले। पद्मसम्भव उत्कल के एक राजघराने के सुपूत थे। जनश्रुति कहती है कि उन के पिता इन्द्र बोधिने उन को एक झील में खिले हुए पद्म के मध्य बच्चे के रूप में पाया था। बचपन से ही पद्मसम्भव ने अपनी असाधारण मेधा शक्ति का परिचय देना आरंभ कर दिया था। किशोरावस्था में ही वे खेल, संगीत, काव्य, दर्शन आदि में पारंगत,हुए। युवावस्था में उन का विवाह कुमार देवी नामक एक सुंदर गुणवती कन्या के साथ हुआ, परन्तु पद्मसम्भव राजमहल, पत्नी, सुखवैभव का त्याग कर के तपश्चर्या हेतु चल पडे। सारे भारत की परिक्रमा की। फिर नालन्दा विश्व-विद्यालय में उच्च शास्त्र शिक्षा प्राप्त कर आचार्य बन गये। उनकी गुह्य अथवा रहस्यपूर्ण आत्मिक शक्तियों, वैद्यक शास्त्र में परम सिध्दि, जादूगिरी (इन्द्रजाल), ज्योतिष विद्या में निपुणता और तर्क सामर्थ्य व तेजी से अनपेक्षित स्थिति बदलने की क्षमता देख कर लोग उन्हे दानव समझते थे।

आचार्य शान्तरक्षित एवं आचार्य पद्मसम्भव दोनो मिलकर तिब्बत पहुँचे। अब तिब्बत के भूत प्रेत पूजकों को विद्रोह करने का साहस नही हुआ। शान्तरक्षित के उपदेशों से तिब्बत में जहाँ बौध्द धर्म की जड़े सुदृढ हो गयी और पढे लिखे लोग उन के अनुयायी बन गये, वहाँ भूत-प्रेतों में विश्वास रखने वाले साधारण लोगों में पद्मसम्भव की तंत्र विद्या तथा विचित्र तांत्रिक सिध्दियों के प्रति विशेष आकर्षण पैदा हो गया। तिब्बत में तांत्रिक वाद और बौध्द वाद के समन्वय से बौध्द धर्म ने एक नया रूप ग्रहण कर लिया। पद्मसम्भव तिब्बत के लिये एक महान् मुक्ति दाता देव बने। उन्होंने तिब्बतवासियों को उन के आदिकालीन असभ्य भूत-प्रेतात्मक धर्म एवं नाना भद्दे अनुष्ठानों व रीतियों के चंगुल से मुक्ति दिलाई। बाद में पद्मसम्भव की मूर्तियाँ स्थापित हुई।

आचार्य शान्तरक्षित ने नालन्दा से और भी विद्वानों को धर्मप्रसार हेतु बुला लिया। उस में एक आचार्य कमलशील थे। तिब्बत में एक चीनी भिक्षु व्हात्संग शून्यवाद का फैलाव कर रहा था। एक विराट् सभा में शास्त्रार्थ कर के कमलशील ने उसको पराजित किया। कमलशील को भी लोग बुध्द का अवतार मानने लगे। आचार्य शान्तरक्षित सौ साल की आयु बिताकर तिब्बत में ही निर्वाण पद को प्राप्त हुए। उन के अस्थियों पर साम्य विहार की पहाडी के एक शिखर पर स्तूप स्थापित किया गया।

धर्म शिक्षा के केंद्र - विहार -

इसी कालावधि में सैंकडो विहार बने। 'बुध्दं शरणं गच्छामि' का उद्‌घोष गूँजने लगा। इन विहारों का स्वरूप केवल प्रार्थना मन्दिरों का नही था। प्रत्येक विहार धर्म शिक्षा का एक केन्द्र

था। मत-प्रचार के लिये ग्राम ग्राम में भ्रमण करने वाले भिक्षु इन विहारों में निवास करते थे। स्थान स्थान के छात्र विहारों में आकर ठहरते थे। इन ब्रह्मचर्याश्रमों में धर्म, शास्त्र, व्यवहार ही नही, प्रत्युत् लौकिक शिक्षा का यथा वैद्यक, रसायन, ज्योतिष, गणित आदि विविध ज्ञानशाखाओं के अध्ययन का भी प्रबन्ध था। विहार रहता था नगर से दूर...व्यावहारिक संसार से दूर...प्रकृति के सान्निध्य मे...किसी गिरि-कुहर की गोद में...अथवा रम्य वन की सघन वृक्षराजियों में। विहार के परिसर में सुन्दर उद्यान रहता। उद्यान की वृक्षराजि पर पक्षियों की चहक चलती रहती। अरण्य के श्वापद भी वहाँ निर्भय सञ्चार करते। विहार के प्रवेशद्वार निश्चित शैली के होते थे। पाषाण अथवा लकडी के नक्काशीयुक्त स्तम्भ, दोनों ओर उस पर धनुष्याकार तोरण। चित्र विचित्र वेशधारी द्वारपाल प्रवेशद्वारों पर चित्रित किये रहते। विहार में प्रवेश करने पर अननुभूत गूढता का साक्षात्कार होता। चौकोर विस्तीर्ण सभागृह में छोटे स्तूपों की पंक्तियाँ...सामने के छोर पर भव्य विशाल स्तूप...समन्तभद्र, वज्रपाणि, अवलोकितेश्वर, विश्वपाणि आदि ध्यानमग्न मूतियाँ...उनके अतिरिक्त मैत्रेय, मञ्जुश्री, आकाशगर्भ, क्षितिगर्भ, त्रैलोक्य विजय इन की प्रेम, भावना, सौंदर्य, शक्ति, प्रदेश आदि विविध प्रतीक रूप मानी गयी प्रतिमाएँ भी वहाँ होती है।

भगवान बुध्द के असंख्य अवतारों के साथ अनेक देवीयों की स्थापना होती थी। विद्या की देवी सरस्वती, भूदेवी वसुन्धरा, बुध्दि की देवी प्रज्ञापारमिता आदि अनेक देवीयों का विहार में स्थान रहता। भीतरी दिवारों पर की गई चित्रकारी विहार का वातावरण अधिक गूढ आध्यात्मिक बनाती है। इन स्थिर चित्रों से बुध्दजीवन का चित्रपट ही प्रकट होता है। इनके अतिरिक्त धर्मपाल, लोकपाल, यक्ष यक्षिणी, राक्षस, नाग स्त्री पुरूष, तारा आदि की असंख्य पारम्पारिक कथाएँ इन चित्रों में साकार, हुई पायी जाती है। तिब्बत में आज भी तीन सहस्त्र से अधिक विहार है। उन में कुछ इतने विशाल है कि आठ से दस हजार भिक्षु वहाँ रह सकते है।

त्रिविष्टप धर्म साहित्य -

बुध्द, धर्म और संघ इन तीन तत्त्वों पर बहुत पहले से तिब्बत का धर्म संगठन प्रतिष्ठित रहा। विहारों का प्रयोग पाठशाला और विद्यापीठ के रूप में होने के स्वाभाविक परिणाम स्वरूप सैकंडो पुस्तकालय निर्मित हुए। प्राचीन संस्कृत और पालि ग्रंथों के अनुवाद तिब्बती भाषा में किये गये। आज भी तिब्बत के ग्रंथालयों में ऐसे प्राचीन भारतीय ग्रंथ है जो भारत में अप्राप्य है। धर्मविषयक विवाद उपस्थित होने पर तिब्बत के पण्डित भारतीय ग्रंथों को प्रमाण मानते थे। तंत्र और सूत्रों में यदि कही मतभिन्नता का अवसर आया तो भारत के नागार्जुन, आर्यभट्ट, बुध्दपालित, चन्द्रकीर्ति, शान्तदेव आदि पंण्डितों के ग्रंथों के सिध्दान्त प्रमाण माने जाते थे। इसी में से सहज धर्म साहित्य समृध्द हुआ।

कलियुगाब्द ४४ वी (खि.१३) शती के अन्त में बस्तोन नामक विख्यात इतिहासकार तिब्बत में हुआ। उसने समग्र तिब्बत साहित्य संकलित किया। यह संकलित साहित्य दो भागों में विभाजित है, कंजूर और तंजूर। विनय, प्रज्ञापारमिता, बुध्दावतंसक, रत्नकूट, सूत्र, निर्वाण और तंत्र इन सात विभागों में विभाजित साहित्य के १०८ प्रदीर्घ खण्ड 'कंजूर वाङ्मय' के नाम से जाने जाते है। इसी में संघ, तत्व, नियम, भिक्षु-भिक्षुणी, आचार, समाजजीवन पध्दति, मार्ग, ओषधि, पदार्थ विज्ञान, रसस्य, तंत्र आदि असंख्य विषयों का विस्तृत विवरण है। तंजूर वाङ्मय के भी कुल मिला कर २२५ खण्ड है। इस में सूत्र और तंत्र के प्रमुख विषयों के अतिरिक्त मुखपरम्परा, वंशचरित, इतिहास आदि विषय भी आते है। कुल ४५६६ भिक्षुओं के लेखों का यह संकलन एक प्रचण्ड आद्वितीय उपक्रम है।

दलाई लामा के पीठ की स्थापना -

तिब्बत में बौध्द धर्म का प्रारम्भ सोङ् चेन गम पो अर्थात नरदेव के काल में हुआ। इस के लगभग एक सौ वर्ष के पश्चात् कश्मीर नरेश ललितादित्य ने पश्चिम तिब्बत का भू प्रदेश जीता था। ललितादित्य के कारण अनेक बौध्द पण्डित काश्मीर से तिब्बत में धर्म प्रसारार्थ गये। चीन के साथ भी तिब्बत का संघर्ष चलता रहता था। कलियुगाब्द ४३५२ (खि.१२५०) में चीन का मंगोल वंशीय सम्राट कुबलाई खाँ ने तिब्बत का पूर्व भाग अपने अधीन कर लिया था। परन्तु कुछ वर्ष बाद उसने बौध्द धर्म को स्वीकार किया और तिब्बत पर शाक्य वंशीय बौध्द भिक्षुओं की अधिसत्ता मान्य की।

कलियुगाब्द ४४४६ (खि.१३४५) में तिब्बती धर्मगुरूओं ने शाक्य वंशीय शासकों को परास्त कर राजनैतिक सत्ता अपने हाथ में ली। भिक्षुओं के आपसी संघर्ष के कारण चीन को तिब्बत की राजनीति में हस्तक्षेप करने का अवसर प्राप्त हुआ। कलियुगाब्द के ४७ वी (खि.१६वी) शती के अन्त में चीन ने ल्हासा के निकटस्थ गुळडन मठ के अधिपति 'सोङ्नाम रियाम् सो' को वज्र दलाई लामा पदवी दी। दलाई लामा का पीठ स्थापित किया।

कलियुगाब्द ४७४२ (खि.१६४०) के दरम्यान् चीन की ही सहाय्यता से दलाई लामा 'सत्ताधीश' बन गये। वह शासन और धर्म दोनों के प्रमुख बन गये। मंगोल ओर माञ्चू चिनी सत्ताधीश दलाई लामा को अपना धर्मगुरू मानते थे। चीन तिब्बत को स्वतंत्र देश मानता था परन्तु अपना नियंत्रण तिब्बत पर बना रहे इस दृष्टि से दलाई लामा पर राजनैतिक वर्चस्व रखता था। कलियुगाब्द ४९४३ (खि.१८४१) में जम्मू नरेश गुलाबसिंह का सेनानी झोरावरसिंह ने तिब्बत के अनेक गढ़ जीते। सिन्धु के उगमस्थल तक का प्रदेश जीत लिया। चीन और रूस दोनो देश तिब्बत पर अपना नियंत्रण चाहते थे। ब्रिटीश तिब्बत में व्यापार चाहते थे परन्तु दलाई लामा का प्रतिसाद नही था।

कलियुगाब्द ५००८ (खि.१९०६) में ब्रिटिशों ने चीन के साथ एक करार कर के तिब्बत पर चीन की अधिसत्ता को मान्यता दी। यह सरासर धोखा था। चीन तिब्बत पर नियंत्रण चाहता हुआ भी तब तक उसे स्वतंत्र देश ही मानता था। कलियुगाब्द ५०१६ (खि.१९१४) में ब्रिटीशों ने चीन के साथ और एक करार किया जिस में तिब्बत और हिन्दुस्थान की सीमा निश्चित की गई। उसे ही मॅकमोहन रेषा कहते है। जो करार तिब्बत और हिन्दुस्थान के बीच में होना चाहिये था वह करार ब्रिटीशों ने चीन के साथ किया। उस करार पर चीनी प्रतिनिधी के हस्ताक्षर थे। परन्तु चीन ने तो इस करार को कभी माना ही नही।

तिब्बत का चीन से संघर्ष -

कलियुगाब्द ५०१२ (खि.१९१०) में चीनी सेना ने तिब्बत में घुसकर उस पर कब्जा किया। उस समय के १३ वे दलाई लामाने भारत में आश्रय लिया। दो वर्ष पश्चात ही वह ल्हासा वापस गये। उन्होने स्वतंत्रता की घोषणा की। चीन से संघर्ष छेडा। 'खाम' प्रदेश छोडकर शेष तिब्बत फिर से स्वतंत्र हुआं। कलियुगाब्द ५०५२ (खि.१९५०) में साम्यवादी चीन की सेना फिर से तिब्बत में घूंस गयी। तिब्बत पराधीन हो गया। साम्यवादी चीन के साम्राज्य का भाग बन गया। ९ वर्ष पश्चात् चीन ने दलाई लामा के राजप्रासाद पर ही आक्रमण किया। जब तक दलाई लामा है तब तक चीन को विद्रोह की आशंका रहती थी। वैसे भी शासन चीनी सेना का ही था। बौध्द धर्म व संस्कृति का नाश करना यह भी सैनिक सत्ता का उद्दिष्ट था। बौध्द भिक्षुओं पर अत्याचार होते रहे। विहार उजडने लगे। बुध्द की मूर्तियाँ तोड कर धातु का सैनिक सामान बनाने में उपयोग किया गया। दलाई लामा के 'पोटाला' प्रासाद पर चीनी तोपें गोले बरसाने लगी तब युवा लामा गुप्त रूप से निकलकर भारत के आश्रय में आये।

१४ वे दलाई लामा -

'दलाई लामा' को तिब्बत के लोग देवता ही मानते है। दलाई लामा के निर्वाण के पश्चात् श्रेष्ठ भिक्षुओं की एक समिती नये लामा की खोज में लगती है। मृत दलाई लामा से उन्हे मार्गदर्शन प्राप्त होता है, इस पर उन की श्रध्दा है। मार्गदर्शन के अनुसार छोटे बच्चों का परीक्षण कर के विशिष्ट लक्षणों से युक्त बच्चे का निर्वाचन होता है। शासन द्वारा उस का पोषण और उसकी शिक्षा होती है। शिक्षा के पश्चात द्रीबङ् और सेरा इन स्थानों के मठ में उसे शास्त्रचर्चा में सम्मीलित होना पडता है। हजारो भिक्षुओं की उपस्थिती में उन की परीक्षा होती है।

दलाई लामा कभी मरता नही हैं। एक देह का त्याग कर वह दूसरे देह में प्रवेश करता है। इस पर तिब्बत के लोगों की श्रध्दा है।

४३. शिव (तिब्बत)

४४. यमान्तक शक्ति (तिब्बत)

तिब्बत मे गायत्री मंत्र

४५. 'गायत्री मंत्र'
(तिब्बत)

४६. 'बुध्द', भित्तिचित्र 'मंगोलिया'

ALPHABET FOR TEACHING SANSKRIT MANTRAS IN MONGOLIA

४७. संस्कृत मंत्र शिक्षा के लिये
अक्षरमाला (मंगोलिया)

पंचेन लामा -

दलाई लामा के बाद द्वितीय स्थान पंचेन लामा को प्राप्त होता है। उसे अमिताभ बुध्द अवतार माना जाता था। चीन ने जब तिब्बत पर अधिकार किया तब दस वर्ष के एक बच्चे को पंचेन लामा घोषित किया। उसे साम्यवादी शिक्षा देकर तिब्बत में अपने प्रतिनिधी स्वरूप स्थापित किया। चीन ने तिब्बत पर जिस प्रकार से नियंत्रण रखा है उस से पंचेन लामा भी स्वाभाविकतः दुखी रहा। कलियुगाब्द ५०६९ (खि. १९६७) में चीनी शासन ने अपेक्षा रखी कि पंचेन लामा दलाई लामा को राष्ट्रद्रोही घोषित करें। पंचेन लामाने ऐसी घृणास्पद घोषणा अस्वीकार की। पंचेन लामा को बंदी बना कर पेकिंग में रखा गया। तीन वर्ष के पश्चात् उसे छोडा गया। अब तो चीन में पंचेन लामा की नामधारी सत्ता भी नही रही । कलियुगाब्द ५०९१ (खि. १९८९) में पंचेन लामा की मृत्यु हुई।

दलाई लामा ने भारत में धर्मशाला (हिमाचल प्रदेश) में स्वतंत्र तिब्बत के शासन की स्थापना की। स्वातंत्र्य की ज्वाला दहकती रखने का प्रयास करते रहे। कलियुगाब्द ५०९१ (खि. १९८९) में दलाई लामा (ब्सान झिङ् ग्यं त्सो) शांतता के नोबेल प्राइज से सम्मानित हुए। तिब्बत आज भी स्वतंत्रता की आस मन में लिये किसी की सहायता की प्रतीक्षा में हैं।

तिब्बती रामायण -

तिब्बत में एक हजार दो सौ वर्ष पूर्व की रामायण की हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हुई है। बौध्द धर्म द्वारा वहाँ पर राम कथा गई। इस राम कथा पर गुणभद्र के उत्तर पुराण का प्रभाव है। तिब्बत के रामायण में सीता रावण की कन्या है। उस की जन्म पत्रिका पिता के लिये अशुभ होने के कारण उसको समुद्र में छोड दिया गया।

दशरथ की दो रानियाँ थी। कनिष्ठ रानी के गर्भ में विष्णु ने अवतार लिया उस का नाम रामन रखा गया। ज्येष्ठ रानी के गर्भ से विष्णुपुत्र ने जन्म लिया उसे लक्ष्मण कहा गया। अपने पश्चात राज्य पर किसे बिठाये यह दशरथ की समस्या थी। रामन ने लक्ष्मण को राज्य देने को कहा और स्वयं वन में चला गया। तपश्चर्या में रत राम को वहाँ के लोगों ने समुद्र से प्राप्त सीता या लीलावती अर्पण की। रामन ने उस का पाणिग्रहण किया।

इस रामायण में रावण सीता का हरण करता है परन्तु उसे स्पर्श नही करता। बाकी कथा वाल्मीकि रामायण जैसी ही है।

चीन

"देवानाम् प्रियदर्शी चक्रवर्ति अशोक ने भगवान बुध्द की स्मृति जागरित कर इस विशाल पृथ्वी पर विशाल स्तूप और विहार बनवाकर उसे सुशोभित किया और इस श्रेष्ठ धर्म का तेज समग्र धरती पर विकीर्ण हुआ।"

कल्गन से बीजिंग (पेकिंग) जानेवाले मार्ग पर उपर्युक्त आशय का एक शिलालेख है। संस्कृत सहित छः भाषाओं में यह अभिलेख है। चीन में एक भारतीय सम्राट का दिग्विजय दर्शानेवाला यह अभिलेख भारतीय संस्कृति की विजयध्वजा है। लगभग २२०० वर्ष पूर्व पाटलीपुत्र (वर्तमान पटना) में बौध्द धर्म परिषद् हुई थी। बौध्द धर्म के सहस्त्रों श्रेष्ठ आचार्य परिषद् में सम्मिलित हुए थे। आचार्य मोग्गलीपुत्त तिस्स परिषद् के अध्यक्ष थे। सम्राट अशोक आतिथेय थे। इस बौध्द परिषद् ने समग्र संसार में भगवान बुध्द का सन्देश पहुँचाने का संकल्प घोषित किया। धर्म प्रचारकों के सबल संघटन का निर्माण किया गया। परिषद् से प्रेरणा लेकर सैंकडो प्रचारक स्वयंस्फूर्ति से निकल पडे। संसार के कोने कोने तक गये।

प्रचारकों के प्रवास-पथ और प्रचार क्षेत्र -

हिमालय की पूर्व पश्चिम लम्बाई साढे सात सौ कोस है और उँचाई ऐसी है कि बहुत से शिखरों पर सर्वकाल श्वेत-शुभ्र हिम का साम्राज्य रहता है। भीषण चोटियाँ, गहरी घाटियाँ, बीहड वन, धुआँधार वर्षा, रौद्ररुपिणि नदियाँ और प्रपात तथा इन सबके साथ वन्य पशुओं का बसेरा बना हुआ यह हिमालय। इस की कोख में है 'संसार का नन्दनवन' कहलाने वाला रम्य प्रदेश कश्मीर। यात्रा की दृष्टि से उतना ही कठिन प्रायःदुर्गम।

परन्तु धर्म की प्रेरणा ऐसी बलवती होती है कि असम्भव को सम्भव बना दे। इस कश्मीर की गिलगित उपत्यका में से चीन जाने का भू-मार्ग था। एक अन्य दुर्गम मार्ग था हिमालय के पूर्वी छोर का, ब्रहमदेश को पार कर चीन जाने का। इन दोनों से अधिक प्रचलित तीसरा मार्ग भी था जो मध्य एशिया से होकर जाता था। इन मार्गों से अनेक व्यापारी समूह आवागमन करते थे। मध्य एशिया से जानेवाला मार्ग सिकियाँग प्रदेश में पहुँचाता था। इस मार्ग पर अनेक हिन्दुराज्य थे। मार्ग पर पांथशाला, विश्रामगृह, और पौशालाएँ थी।

चौथा मार्ग था जलमार्ग। प्रायः दक्षिण भारत के सभी यात्री महोदधि (बंगाल की खाडी)

को पार कर सुवर्ण द्वीप (सुमात्रा) और वहाँ से सीधे उत्तर की ओर चीनी समुद्र से चीन के कॅन्टोन समुद्रपत्तन पर जाते थे। स्वाभाविक ही भूमार्ग से मध्य एशीया का गान्धार, ईरान, तुर्कमेनिया, सिकियांग, उससे लगा हुआ चीन तथा दक्षिण में त्रिविष्टप (तिब्बत) और उत्तर मे शिबीर (सायबेरिया), यह विस्तृत भूभाग इन प्रचारकों का कार्यक्षेत्र बन गया। जलमार्ग से ब्रहमदेश, समग्र दक्षिणपूर्वी एशिया एवं चीन, जपान, कोरिया आदि भूभाग तो अति प्राचीन काल से प्रचार-क्षेत्र के सन्दर्भ में आवागमन की सुविधा से पूर्ण थे। अर्थात समग्र जम्बुद्वीप (एशिया) को ही उनका प्रचार क्षेत्र कहना उचित होगा।

भारतीय संस्कृति का प्रचार-कार्यालय -

चीन में कलियुगाब्द के ३२ वी (खि.प्रथम) शती के प्रारंभ से ही बौध्द मत के प्रचारकों की जो बाढ़ आयी, वह अव्याहतरूपेण डेढ़ सहस्त्र वर्ष चलती रही। इस प्रचार कार्य मे मध्य एशिया मानो उसका क्षेत्रीय कार्यालय बन गया। बौध्द भिक्षुओं को प्रोत्साहन देनेवाले छोटे बडे हिन्दु राज्य इस क्षेत्र में थे। उन्हों ने यात्रा मार्ग पर तत्कालीन उत्तम सुविधाएँ बनायी थी। पाँच छः कोस पर धर्मशालाएँ, विश्राम गृह और पौ शालाएँ थी। मार्ग में स्थान स्थान पर प्रमुख नगरों की दूरी दर्शाने वाले संकेत पट लगे थे। अनेक व्यापारी समुदाय इन मार्गों से सदैव आवागमन करते थे। स्थान स्थान के शासकीय अधिकारी यात्रियों की सुरक्षा के लिये प्रबन्ध करते थे। राजसभा में सत्कार, जनमानस में प्रतिष्ठा एवं यात्रा की सुरक्षा के अनुकूल वातावरण के कारण सहस्त्रों भिक्षुओं के संघ खडे हुए। सैंकडो विहारों में हजारो बौध्द भिक्षुओं का निवास रहता था। इन विहारों में, सभी ज्ञान विज्ञान की शाखाएँ थी, शिक्षा का प्रबन्ध था, पुस्तकालये थी। कुमार वय के सैंकडो बुध्दिमान छात्र, विद्वान, भिक्षुओं के साथ में रहकर ज्ञान, वैराग्य, भक्ति और धर्म प्रसार की प्रेरणा ग्रहण कर अपना समग्र जीवन इसी कार्य हेतु समर्पित कर देते थे। इन त्यागमूर्तियों का जीवन आदर्श तो था ही, साथ साथ संसारभर की विविध जातियों के सुसंस्कृत, असंस्कृत सभी लोगों का विश्वबन्धुत्व का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करानेवाली यह दिव्य शक्ति थी। इस शक्ति के सामने सम्राटों की आसुरी महत्वाकांक्षाएँ विनत हुई, प्रदेश और भूमि के स्वामित्व के संकीर्ण अहंकार गल गये, अभी भी अल्पविकसित अवस्था में स्थित मानव समूहों को सत्य का प्रकाश दिखाई दिया और अपनी प्राचीन एवं सुसंस्कृत जीवन-प्रणाली का अभिमान करनेवालों को अलौकिक तेज का साक्षात्कार हुआ। कन्फ्यूशियस का चीन यह जान ही नही पाया कि वह भगवान बुध्द का उपासक कब और कैसे बना।

चीन में बौध्द धर्म का प्रवेश -

चीन में जानेवाले आद्य धर्मप्रचारक थे काश्यप मातङ्ग और धर्मरक्ष। चीन में हान

वंशीय नरेश मिंग शासक था। उसने दोनो आचार्यों का सत्कार किया। बौध्द धर्म को इस प्रकार प्रथम से ही राजाश्रय प्राप्त हो गया। राजधानी लोयांग के समीप 'श्वेताश्व' नामक विहार का निर्माण स्वयं सम्राट मिंग ने करवाया। काश्यप मातंग और धर्मरक्षित चीन में ही बस गये। उन के निर्याण के पश्चात् उन के नाम पर स्तूप बनवाये गये। श्वेताश्व विहार चीन का प्रथम विहार था। वहाँ पर बुध्द धर्म के अध्ययन हेतु विद्यालय प्रारंभ हुआ। बुध्द के उपदेश का चीनी भाषा में प्रथम संकलन भी काश्यप मातंग ने किया।

राजभवन में बुध्द उपासना होने लगी। मध्य एशिया से अनेक भिक्षु चीन में आने लगे। चीनी रिकार्ड में लगभग २०० भिक्षुओं के नाम प्राप्त होते है। कलियुगाब्द ३२५० (खि.१४८) में 'आन् शी काओ' नामक एक भारतीय भिक्षुराज चीन में गये। उन के नाम पर ५५ ग्रंथ मिलते है। कलियुगाब्द ३३६८ (खि.२६६) में धर्मरक्ष नामक आचार्य अपने अनेक सहयोगीयों के साथ चीन गये। उन के द्वारा अनुवादित ९० ग्रंथ पाये जाते है। इसी काल में बुध्द का सन्देश जन-साधारण तक पहुँचाने की योजनाएँ बनी। लगभग १७०० विहारों के माध्यम से धर्मप्रसार चलने लगा! विहारों एवं स्तूपों की रचना भारतीय शैली की थी। भगवान बुध्द के जीवन की गाथाएँ शिल्पों और चित्रों में साकार हुई। भारतीय चित्रकार शाक्यबुध्द, बुध्दकीर्ति ओर कुमारबोधि चीन में गये। वहाँ पर उन्होंने चित्रकला के विद्यालय चलाये। विहारों में तूलिकाओं के द्वारा बुध्द लीला प्रसंग और जातक कथाओं के प्रसंग चित्रित करा दिये जाते थे।

चीन में महायान पन्थ -

कलियुगाब्द ३४८५ (खि.३८३) में आचार्य कुमारजीव चीन में गये। कुमारजीव के पिता कुमारायण कश्मीर के पण्डित थे। कुमार आयु में ही वे अध्ययन के लिये विहार में रहे। बचपन से ही उनके मनमें सञ्चार की भावना थी। युवावस्था में एक व्यापारी समूह के साथ वे मध्य एशीया के कुची राज्य में गये। जाने के पहले कश्मीर में उन्हे मन्त्रीपद का सम्मान प्राप्त हुआ था। कुची में भी वहाँ के शासक ने उन्हे मन्त्रीपद पर नियुक्त किया। कुची की राजकुमारी 'जिवा' के साथ उन का विवाह हो गया। कुमारजीव का जन्म कुची में हुआ। मात्र नौ वर्ष के कुमारजीव को लेकर जिवा माता कश्मीर गयी। वहाँ पर कुमारजीव ने संस्कृत, चीनी, पाली, खोतानी आदि भाषाओं एवं समग्र संस्कृत साहित्य का अध्ययन किया। वह आचार्य बन्धुगुप्त का शिष्य था। उन के निर्देश पर उसने चीन को अपना कार्यक्षेत्र निर्धारित किया। अपने अनेक सहयोगियों के साथ वह प्रथम कुची गया। मध्य एशिया के काशगर याने शैल देश में कुमारजीव का बालमित्र बुध्द यशस् कार्य कर रहा था। दोनों की भेंट हुई। कुची में कुमारजीव ने महायान पंथ का प्रारंभ किया। चीन और कुची राज्य के सम्बन्ध अच्छे नही थे। चीन ने कुची पर आक्रमण कर दिया।

चीनी सेनानी ७० हजार सेना लेकर कुची में घुँस गया। इस युध्द में कुची की सेना पराजित हुई। कुमारजीव कुची के मंत्रिपरिषद का सदस्य था। सब के साथ उसे भी बन्दी बनाकर चीन में सम्राट के सामने उपस्थित किया गया।

कुमारजीव की तेजस्विता और बुध्द धर्म के अधिकार से सम्राट प्रभावित हुआ। सम्राट ने उसे मुक्त करके प्रथम कान्सू प्रदेश के राज्यपाल पद पर नियुक्त किया। बाद में राजपुरोहित के पद पर उसे नियुक्त किया गया। चीनी कन्याओं के साथ उसके विवाह हुए। कुमारजीव ने महायान पंथ का प्रसार किया। धर्मप्रसार हेतु धम्म परिषद की स्थापना की। शीघ्र ही इस परिषद द्वारा चीन में महायान पंथ का प्रसार होने लगा। परिषद द्वारा आठ सौ भिक्षुओं का संघ कार्य करने लगा। कुमारजीव ने काशगर से अपने मित्र बुध्दयश को भी चीन में बुला लिया। कुमारजीव की मृत्यु चीन में ही हुई। इसी काल में चीनी भिक्षु फा हि यान भारत यात्रा पर गया। दस वर्ष भारत में रहकर जब फा हि यान लौटा तो आचार्य बुध्दभद्र के नेतृत्व में और एक भिक्षुओं का दल उस के साथ चीन गया।

चीनी सम्राट स्वयं बौध्द धर्म में रूचि लेते थे। भारत से, कतिपय कीर्तिवन्त आचार्यों को सम्राटों का आमंत्रण प्राप्त होता था। कलियुगाब्द ३६४८ (खि.५४६) में चीनी सम्राट ने मगध राजा विष्णुगुप्त को कुछ आचार्यों को भेजने की प्रार्थना की थी। चीनी सम्राट 'वू' के इस प्रार्थना पर आचार्य परमार्थ और उन के सहयोगी चीन में गये। धर्मजातयशस, गुणवृध्दि, ज्ञानयश, यश गुप्त, ज्ञानगुप्त, ऐसे अनेक आचार्य इसी काल में चीन गये। सम्राट टाइत्सुंग के आमंत्रण पर कलियुगाब्द ३७२८ (खि.६२६) में आचार्य प्रभाकरमित्र चीन गये। उन की मृत्यु भी चीन में हुई। उन के नाम पर स्तूप का निर्माण किया गया। ये सारे चीन में जानेवाले आचार्य चीनी और संस्कृत भाषा में पारंगत होते थे। संस्कृत ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद उन का एक प्रमुख कार्य होता था। कलियुगाब्द ३८२२ (खि.७२०) में आचार्य वज्रबोधि जो पूर्वाश्रमी के मध्यभारत के राजपुत्र थे अपने अमोघवज्र नामक शिष्य के साथ चीन गये। २५ वर्ष तक उन्होंने चीन में तंत्रयान का प्रसार किया। उन्होंने १३० खण्डों में ५०० मूल संस्कृत ग्रंथों का अनुवाद चीनी भाषा में किया। आचार्य वज्रबोधि और अमोघवज्र दोनों की मृत्यु चीन में ही हुई।

सम्राट् मिंग (कलियुगाब्द ३१६९ खि.६७) से लेकर ६६४ वर्षों के कालावधि में १७६ भिक्षुओंने मिलकर ७०४६ खण्डों में २२७८ ग्रंथ चीनी भाषा में अनुवादित किये। इस के बाद भी सैकंडो ग्रंथों का अनुवाद हुआ। विद्वान् आचार्य और भिक्षुओं का प्रवाह भारत से चीन में निरन्तर बहता रहा। चीन से भी अनेक भिक्षु निरन्तर भारत में आते रहे। चीन में इसी कार्य हेतु स्वतंत्र शासनव्यवस्था की गयी थी।

संसार की गिनी चुनी प्राचीन संस्कृतियों में चीन की संस्कृति है। पर इस सुसंस्कृत चीन को भी आचार्य और भिक्षुओं ने भारतीय सिध्दान्त, जीवन प्रणाली और संस्कृति की श्रेष्ठता का देदीप्यमान साक्षात्कार कराया। एक सहस्त्र वर्षों तक का यह आचार्यों का अखण्ड प्रवाह संसार के इतिहास की एक अद्‌भूत घटना है। इस कालखण्ड में चीन को केवल भगवान बुध्द की उपासना ज्ञात हुई हो, ऐसी बात नाही; वस्तुतः चीन की समग्र संस्कृति में आमूल परिवर्तन होकर नई संस्कृति का आविर्भाव हुआ। आत्मा, परमात्मा, जीव, कर्म आदि विषयक चिरन्तन सत्य स्वरूप भारतीय संस्कृति का तत्वज्ञान चीन ने ग्रहण किया। इन्द्र, ब्रहमा, विष्णु, महेश, विनायक आदि देवताओं के रूप में गौतम की प्रतिमाओं की उपासन होने लगी।

भारतभूमि केवल भारतीयों की पूज्य भूमि कभी नही थी। चीनी यात्री उस की ओर आकर्षित होने लगे। भारतीय तीर्थस्थान उनके श्रध्दाकेन्द्र बने गये। भारतीय विद्यापीठों में उच्च शिक्षा पाना चीनी युवकों की आकांक्षा बनी। भारतीय साहित्य एवं कला चीनी जीवन के प्रमुख अंग बने। चीनी जनमानस पर तत्कालीन भारतीय प्रभाव कितना गहरा था इसकी कल्पना भी नही कर सकते। अर्वाचीन चीनी क्रांती का नेता माओ-त्से-तुंग मूलतःग्रामवासी था। उस की माता नित्य नियम से बुध्द प्रतिमा की पूजा करती थी। उन के घर में नैवेद्य बनता था और बाद में ही घरके सभी प्रसाद रूप भोजन करते थे। घर घर में पहुँचे यह भारतीय उपासना के संस्कार क्रांति की अग्नि में लुप्त हुए ऐसा दिखाई देता है। पर आज भी चीन के पर्वतों की गुफाओं में असंख्य विहार और शैलचित्र है। सामाजिक शास्त्र का एक सिध्दान्त है कि परिवर्तित समाज रचना में भी मानव समूह के सांस्कृतिक मूल्य अचल रहते है। भगवान बुध्द की धीर गम्भीर पाषाण प्रतिमाएँ सहस्त्रों की संख्या में चीन में यत्र तत्र खडी है। चीनी साहित्य पर आज भी प्राचीन भारतीय ग्रंथों का प्रभाव है। चीन का इतिहास एक असाधित पहेली है।

मंगोलिया

चीन की उत्तर दिशा में मंगोलिया का विशाल क्षेत्र है। मंगोलिया के उत्तर में रूस का दक्षिणी भुप्रदेश आता है। लगभग २२ लाख वर्ग किलोमीटर क्षेत्र फल के मंगोलिया में प्रमुख जनजाति मंगोल कहलाती है फिर भी हूण, उश्गुर, तार्तार आदि जातियों का निवासस्थान भी यही प्राचीन क्षेत्र था। और एक जनजाति है 'बुर्यात' जो मंगोलिया में तथा रूस के सैबेरिया क्षेत्र में फैली हुई है। मंगोल जाति प्राचीन है। मंगोल और तार्तार जनजातियाँ प्राचीन काल से परस्पर संघर्ष करती आयी है। कलियुगाब्द की ४४ वी (ख्रि.१३वी) शती में चेंगिज ने मंगोल जाति संघटित करके विशाल साम्राज्य का निर्माण किया था।

मंगोलिया में शामन सम्प्रदाय था। शामन सम्प्रदायी मंगोल निसर्गपूजक थे। आत्मा एवं

४८. ब्रम्हा (चीन)

४९. कार्तिकेय (चीन)

५०. गणेश (चीन)

५१. महेश (चीन)

५२. बोधिसत्व (चीन)

५३. बुध्द (चीन)

पुनर्जन्म की कल्पना पर विश्वास करते थे। पर्वत, वृक्ष, नदियाँ, की पूजा करते थे। चीनी भिक्षुओं का संपर्क चीन के उत्तरी सीमा पर स्थित मंगोलिया से आना स्वाभाविक था। कलियुगाब्द की ३७ वी (खि. छठी) शताब्दि में संभवतः मंगोलिया में बौध्द धर्म का प्रवेश हुआ। बौध्द, धर्म के माध्यम से ही बह्मा, सरस्वती, गणेश, महाकाल, कालभैरव आदि देवताएँ मंगोलिया में प्रतिष्ठित हुई। किझिल ओर त्सेत्सेर्लिख बौध्द धर्म के प्रभावी केन्द्र बन गये। मंगोलिया की वर्तमान राजधानी ऊलान बाटोर कभी प्राचीन मन्दिरों, विहारों और स्तूपों की नगरी थी।

नालंदा विश्वविद्यालय के आचार्य अभ्याकर गुप्त मध्य एशिया होते हुए मंगोलिया गये थे। उस समय मंगोलिया में अनेक छोटे राज्य तथा मोसम के साथ स्थलांतर करने वाली जनजातियाँ थी। साहसी भारतीय आचार्य ने उन सारे छोटे राज्यों के अधिपतियों ओर कतिपय जनजातियों के मुखियों का विश्वास प्राप्त किया। दूसरे एक भारतीय आचार्य उदुरगसेन ने मंगोलिया में स्वयंभू लिपि का प्रसार किया। उसी लिपि के आधारपर आचार्य मतिध्वज ने मंगोल लिपि का आविष्कार किया। इसी लिपि का प्रयोग वर्तमान मंगोलिया में किया जाता है।

चंगेज खाँ के पश्चात् कुब्लाई खाँ महान् मंगोल सम्राट हुआ। उस ने चीन को अपने अधीन किया था। पश्चिम में युरोप तक के भूप्रदेश पर दिग्विजय करनेवाले इस सम्राट को एक ब्राहमण शाक्य पण्डित ने बौध्द धर्म की दीक्षा दी थी। सम्राट महायान पंथी बौध्द बन गया था। कलियुग्याब्द की ५० वी शती के अंत तक अर्थात केवल एक सौ वर्ष पूर्व तक मंगोलिया पूर्णतः बौध्द धर्मी था। विहारों के साथ ही सरस्वती, गणेश, ब्रहमा आदि देवताओं के मन्दिरों में प्रतिदिन पूजा अर्चना होती थी। महाभारत की कथाओं पर नाट्य और लीलाएँ चलती थी। कलियुगाब्द ५०१९ (खि.१९१७) में रूस में साम्यवादी क्रान्ति हुई। मंगोलिया भी साम्यवादी साम्राज्यवाद के चपेट में आ गया। साम्यवादी शासन ने मंगोलिया की प्राचीन धार्मिक परम्परा को तोड डाला। हजारो भिक्षु और लामा निष्कासित हुए। जहाँ लगभग १ लाख भिक्षु मंगोलिया में थे, वहाँ क्रान्ति के केवल २० वर्ष पश्चात ६२ लामा रह गये थे।

परन्तु आध्यात्मिक पुनरूत्थान असंभव नही। आज भी विहारों में महायान चर्चा चलती है, मन्दिरों में गायत्री मन्त्र की उपासना होती है। चीन में साम्यवादी क्रान्ति हुई थी। चीन, मंगोलिया और रूस तीनो देशों की प्राचीन धार्मिक परम्परा टूटी हुई दिखाई देती है। फिर भी वर्तमान पर अतीत की छाया का आभास तो होता ही है।

कोरिया

कोरिया में अयोध्या की राजकुमारी -

कलियुगाब्द ३१४९ (खि.४७) की घटना है। कोरिया प्रायद्वीप के नागडोंग नदी के मुहाने में एक विशाल नौका अपने लाल पोत और अनेक ध्वजाओं को फहराती आती दिखाई दी। नदी के तटपर नाविकों ने लंगर डाला। नौका की स्वामिनी थी, अयोध्या की राजकुमारी।

एक सुंदर सजी स्वागत नौका शीघ्रता से आकर राजकुमारी के नौका के सम्मुख खडी हुई। राजा सुरो ने अपने जनजातियों के आठ सरदारों को स्वागत के लिये भेजा था। राजकुमारी ने आश्चर्य से पूछा, "आप के राजा को हमारे आगमन का पता कैसे लगा?" सरदारों के प्रमुख ने नम्रता से कहा, "महाराज कितने दिनों से आप की प्रतीक्षा में है। उन को आपके आने का अनुमान था। उन की श्रध्दा थी कि जिस प्रकार दैवी शक्तियों ने उन्हे राजा बनाया उसी प्रकार राज्य के लिये सुयोग्य महारानी का भी चयन होगा। उन्हों ने आप को सपने में देखा भी था। पीछले कुछ दिनों से उँची पहाडी से हम आप के नौका की प्रतीक्षा में थे। जैसे भी लाल पालोंवाली नौका दिखाई दी अनुचरों ने महाराज को सूचना दी।"

अयोध्या की राजकुमारी ने स्वागत का स्वीकार करते हुए कहा, "स्वागत के लिये धन्यवाद, परन्तु आप सभी मेरे लिये अपरिचित है, मैं तुम्हारे साथ कैसे जा सकती हूँ?" जब राजा को यह खबर सुनाई गयी तो राजा ने घोषणा कर दी "सचमुच वह कोई बडी राजकुमारी है, अब शीघ्रता से किले के दक्षिणी मार्गपर एक भव्य शिबीर बनाने का प्रबन्ध करो, जहाँ मैं उस से मिल सकूं।"

इस बीच राजकुमारी अपने दो राजकर्मचारियों सुनवू और च्वाकवांग, उन की पत्नियों तथा अनुचरों के साथ राजकीय सवारी पर किले की ओर बढी। जैसे भी उसे शिबीर दिखाई दिया और वहाँ राजा के स्वयं आने की वार्ता प्राप्त हुई, राजकुमारी को प्रसन्नता हुई। उस ने अपने रेशमी वस्त्र वहाँ धरती माता को अर्पित किये और फिर वह राजा से मिलने विशेष रूप से निर्मित सुंदर पट-मण्डप में गयी। कोरिया के राजा सुरो और अयोध्या की राजकुमारी स्युई का विवाह धूमधाम से हो गया। विवाह के पश्चात् रानी स्युई ने बताया, कि उस के माता पिता को स्वप्न में आदेश हुआ था कि वे उसका विवाह गारक (कोरिया) राज्य के महान राजा सुरो से करें। उस

दिव्य स्वप्न के अनुसार राजकुमारी समुद्र यात्रा पर निकली थी परन्तु समुद्रदेवता के क्रोध के कारण उसे लौटना पडा। अगली बार जब यात्रा पर निकले तब साथ में पवित्र स्तूप रखकर लाये। यात्रा सकुशल सम्पन्न हुई।

कोरिया के प्राचीन राज्य -

यह गारक या गया राज्य नागडोंग नदी के तट पर सिल्ला प्रांत में वर्तमान किमहे स्थान पर स्थापित हुआ था। कोरिया के प्राचीन इतिहास पुराण में तीन राज्यों का इतिहास वर्णित है। दक्षिण माञ्चुरिया और उत्तरी कोरिया का 'कोगुर्यो' राज्य (क.३०६५-३७७०, खि.पू.३७-खि.६६८) हान नदी के घाटी का पैकचे राज्य (क.३०८४-३७६२ खि. पू. १८ - खि.६६०) और तीसरा राज्य था शिल्ल का जो क. ३०४५ (खि. पू. ५७) में स्थापित हुआ और क. ४०३८ (खि. ९३६) में नष्ट हुआ। गारक राज्य इस शिल्ल राज्य में सन्मिलित था। कोरिया के इस इतिहास में वर्णन आता है,

"इस राजकुमारी ने कोरिया को बहुमूल्य योगदान दिया। राजा ओर रानी का सम्बन्ध ऐसा ही था जेसे आकाश ओर धरती का सम्बन्ध या प्रकाश और छाया का संबंध। जैसे प्राचीन चीन की महान रानी हा ने अपने राजा को सहयोग दिया, वैसा ही इस रानी ने दिया। जिस वर्ष उनका विवाह हुआ, उसी वर्ष रानी ने एक रीछ का सपना देखा और राजकुमार म्युडंग को जन्म दिया। राजकुमारी का निधन हुआ तब सारा राज्य शोक से व्याप्त हो उठा। गुजी पर्वत के उत्तर पूर्व में उस का दफन किया गया। उस के आगमन का स्थान 'प्रमुख बन्दरगाह' बना। जहाँ उसने धरती की पूजा की वह स्थान 'रेशमी पहाडी' नाम से पूजास्थल बन गया। जिस पहाडी से उस की लाल पालोंवाली नौका प्रथम देखी गयी उसे 'ध्वज सूचक तट' नाम प्राप्त हुआ।

धरती माता के पूजास्थलपर राजा ने एक सुंदर मंदिर बनवाया था। कोरिया की कन्याएँ विवाह के पूर्व धरती माता को रेशमी वस्त्र अर्पण करके पूजा करती है। इस वर्तमान प्रथा के पीछे इस प्रकार एक ऐतिहासिक संकेत है। जनश्रुति के अनुसार राजा सुरो सूर्यपुत्र था। हिरण्यगर्भ था। गुजी पर्वतपर सुवर्ण के अण्डे के रूप में उस का पदार्पण हुआ था।

'कोरिया' का उच्चारण 'गोरिया' भी किया जाता है। ऐतिहासिक परम्परा के अनुसार कोरिया के इतिहास का प्रारंभ कलियुगाब्द ७६९ (खि.पू. २३३३) में हुआ। तान गुन प्रथम राजा था जो स्वर्गपुत्र कहलाता था। उसका विवाह ऋक्ष जाति की कन्या से हुआ था। ऋक्ष जाति का प्रतीकचिन्ह रीछ था। राजा और रानी ने मिलकर कोरिया के प्रथम राज्य की नीवं डाली। इस राज्य को चूशन् राज्य कहा जाता था। चूशन का अर्थ होता है प्रातःकालीन शान्ति की धरती।

कोरिया में बौध्द धर्म का प्रवेश -

कोगुर्यु (Kogooryuh) राज्य चीन की सीमापर था। स्वाभाविकतः चीन में प्रचलित बौध्द धर्म का कोरिया में प्रवेश इसी राज्य में प्रथम हुआ। कोरिया एवं जपान में धर्मचक्र प्रवर्तन हुआ उस का प्रथम श्रेय चीनी भिक्षुओं को है। कलियुगाब्द ३४७४ (खि. ३७२) में सोसूरीम्वाङ् (Sosoorimwang) कोगुयु का राजा था। चीनी भिक्षु सुङ्ग दो बुध्द की मूर्तियाँ, धातुएँ और बुध्द का सन्देश लेकर कोगुर्यू में पहुँचा। राजा ने उस का सन्मान किया। राजा स्वयं बौध्द धर्म में दीक्षित हुआ। उस ने दो बुध्द मन्दिर बनवाये। दो वर्ष पश्चात् पोगयांग में एक भारतीय आचार्य का आगमन हुआ। उस के कुछ दस वर्ष पश्चात् मल्लानन्द नामक भिक्षु भारत से आया। पैकजे राज्य में विहार स्थापित किया। मल्लानन्द के प्रभाव के कारण उस का उपदेश 'पैकजे पंथ' कहलाया गया। युगाब्द ३५१९ (खि.४१७) मे शिल्ल राज्य में नुल्शिवांग (Noolchiwang)का शासन था। उस के शासन काल में भारत से और एक विद्वान् आचार्य कोरिया में आये। शिल्ल राज्य में इस आचार्यद्वारा धर्मचक्रप्रवर्तन हुआ।

इस प्रकार कोरिया के तीनो राज्यों में बौध्द धर्म का प्रचलन हुआ। भारत से चीन आनेवाले बौध्द आचार्य कोरिया में भी जाते रहे। इतनाही नहीं तो कोरिया के भिक्षु जपान में भी जाने लगे। कोरियन भिक्षु भारत की यात्रा करने लगे। कोरिया के इतिहास में छः कोरियन भिक्षु विख्यात है जो भारत यात्रा करके आये थे। भारत में जाकर वहाँ के विख्यात नालन्दा विश्व विद्यालय में रहकर उन्होंने अध्ययन किया था। उन के कोरियन नाम थे, हे-चो, हे-उप, हेर्युन, ह्युं गक्, युङजुंग और हयुङ्जो।

विद्या एवं कला का युग -

जैसे भी बौध्द धर्म का प्रभाव बढता गया, नये नये विहारों और स्तूपों का निर्माण होने लगा। जिस प्रकार की कलाकारि का परिचय कोरिया के प्राचीन मन्दिरों और स्तूपों से होता है उस से लगता है कि मूर्तिकला, शिल्पकला एवं चित्रकला की शिक्षा प्राप्त करने कोरियन कलाकार भी भारत यात्रा करके आये होंगे। कोरिया की प्राचीन राजधानी 'क्याङ् जो' मन्दिरों की नगरी थी। आज भी 'क्याङ् जो' एक तीर्थक्षेत्र है जो राजसी कंगूरों, बौध्द मन्दिरों, पगोडाओं से समृध्द है। प्राचीन किले के और प्राचीन पगोडाओं के खण्डहर उस के वैभवसंपन्न अतीत से वर्तमान बौध्द परम्पराका नाता जोडते हैं। इसी नगर में शिल्पकारों ने 'सुकूगुलम्' कृत्रिम गुँफा का निर्माण किया। विशाल पाषाणों की रचना कर के गुँफाएें बनी है। गुँफाओं पर मिट्टी के ढेर बनाकर नैसर्गिक पहाडी में उत्कीर्णित गुँफाओं का दृश्य प्रस्तुत किया है। भगवान बुध्द की कातिपय सुंदर पाषाणमूर्तियाँ यहाँ पर है। गांधार एवं गुप्त शैली का अनोखा मीलन शिल्पकारों ने यहाँ पर साकार किया है।

कलियुगाब्द ४०३८ (खि.९३६) से ४४९३ (खि.१३९१) तक का काल कोर्यु युग कहलाता है। यह विद्या एवं कला के समृध्दि का काल था। इसी काल में सैंकडो संस्कृत ग्रंथ अनुवादित हुए। इसी काल में महाधर्म कोश का निर्माण हुआ जो ८१२५८ लकडीके चौकोर टुकडों पर उत्कीर्णित कराया गया था। विहार कोरिया के विद्यापीठ बने। तैजो राजा व्दारा बनाये गये सात मंजिलों, नऊ मंजिलो वाले भव्य स्तूपों के निर्माण का काल भी यही है। कोरिया की अपनी लिपि नही थी। साढे तीन सौ से अधिक चित्राक्षरों की चीनी लिपि में सारे ग्रंथ थे। चीनी लिपि सामान्य प्रजा के लिये दुस्तर थी। कलियुगाब्द ४५४५ (खि. १४४३) में राजा, 'से जोंग' ने कोरीयन लिपि का निर्माण करवाया। उस में २६ वर्णाक्षर रखे गये। संस्कृत भाषा की लिपि और व्याकरण के आधारपर कोरिया के स्वतंत्र लिपि का विकास किया गया। अब संस्कृत एवं पाली धर्मग्रंथों का अनुवाद करना सरल हुआ और धर्मग्रंथ सामान्य प्रजा के हाथ में जा पहुँचे।

चीन से कोरिया ने 'ध्यानी' बुध्द को प्राप्त किया। अपने मन को केंद्रित करके आत्मशक्ति के जागरण द्वारा समाधि योग प्राप्त कराने वाला यह पंथ 'झेन बुध्दिझम' नाम से विख्यात हुआ। राजा, रानी, मंत्रीओं से लेकर सामान्य कृषिकर्मी तक सभी ध्यान धारण की पध्दति से प्रभावित हुए। कोरिया से यह पंथ जपान में भी फैला। चीन, जपान व कोरिया का यह राष्ट्रीय धर्म बन गया।

राष्ट्र के रक्षक-भिक्षु।

कोरिया के भिक्षुओं का संघ और उस के स्थविर (प्रमुख) ने और एक महत्वपूर्ण आदर्श को प्रस्थापित किया। कलियुगाब्द ४६९४ (खि.१५९२) में जपान ने कोरिया पर आक्रमण किया। जापान की तुलना में कोरिया की सैन्य शक्ति दुर्बल थी। जपान की नाविक शक्ति भी अधिक थी। ऐसे समय पर राष्ट्र रक्षा हेतु बौध्द भिक्षु कटिबध्द हो गये। स्थविरों ने भिक्षुओं को आवाहन किया। राष्ट्ररक्षा के लिये हिंसा करना कोई अनुचित बात नही है। शत्रुओं के अत्याचार को रोकना कोई पाप नही है। राष्ट्र की रक्षा करना तो सब का कर्तव्य है। इस भावना से भिक्षुसंघ शत्रु के प्रतिकार के लिये सिध्द हो गये। ७३ वर्ष की आयु के स्थविर सुसन्दइसा के नेतृत्व में भिक्षुओं की सेना का निर्माण किया गया।

भिक्षुओं ने कषाय वस्त्रों को त्यागकर हाथों में खड्गों को धारण किया। कन्फ्युशिअस के तत्त्वों को माननेवाले परम्परागत राजनिष्ठ सेना के सेनापती पराभूत हुए थे। सारे देश में जपानी सेना फैल गयी थी। भिक्षुओं की सेना ने कडा संघर्ष किया परन्तु वे पराजित हुए। सात वर्ष के प्रदीर्घ युध्द में कितने भिक्षु वीरगती को प्राप्त हुए।

भिक्षु सम्युङ्दंग युध्द के समाप्ति पश्चात् संधि करने के लिये जापान गये। जब दुखित

हृदय से यह बुध्दांनुयायी जा रहे थे तब की पीडा कविता में उमड पडी।

"हवा इतनी शीत...बर्फ की झडी लगी है
जहाँ देखे...वहाँ लाल टोपी और नीले गणवेश में ढके
शत्रु मनमानी कर रहे है...
उन के द्वारा मौत के घाट उतारे गये...
मेरे असंख्य देशवासियों के शवों के ढेर...
स्थान स्थान पर दिखाई दे रहे है...
मेरा मन असीम कटुता और तिरस्कार से व्याप्त हो गया है...
दिन का अस्त हुआ है... पर्वत अदृश्य हो रहे है...
सागर पार...दूर...कहाँ मेरी आँखे टिकी जा रही है...
क्षितीज तक...दूर...मेरे विचारतरंग जा रहे है..."

वैसे तो जपान भी भगवान बुध्द के तत्त्वों का अनुगामी बन गया था। परन्तु भगवान बुध्द के अपार करूणा की सहस्त्रधारा भी दो बुध्दानुयायी राष्ट्रों के विनाशकारी संघर्ष को टालने में असमर्थ रही।

जापान

जापान में बौध्द धर्म का प्रवेश -

भारतीय संस्कृति का स्पर्श जापान को बौध्द धर्म के माध्यम से हुआ। और बौध्द धर्म में जापान को प्रथम दीक्षित किया कोरिया ने। कलियुगाब्द ३६५४ (खि.५५२) में कोरिया के कुडार राज्य के राजा ने अपने राजदूत जापान में भेजे। उन के साथ जापान के लिये बहुमुल्य उपहार भेजे। सबसे बहुमूल्य वस्तुएँ थी, भगवान बुध्द की एक सुंदर मूर्ति, बौध्द धर्म के सूत्र और एक धातु (बुध्द का केश)। उपहार के साथ भेजे गये सन्देश में कोरिया के इस राजा ने लिखा था,

"बौध्द धर्म विश्व का सर्वश्रेष्ठ धर्म है। भारत से कोरिया तक की विशाल भूमि ने उस का स्वीकार किया है। इस धर्म में जो श्रध्दा रखते है वे अनगिनत सुख के धनी होते है।"

यह सन्देश जापान की राजसभा में पहुँचा तो बौध्द धर्म के स्वीकार के बारे में अनुकुल प्रतिकूल रूप में प्रदीर्घ चर्चा हुई। अंतिमतः उस पक्ष की विजय हुई जो बौध्द धर्म स्वीकार करने का इच्छुक था। कोरिया से आये राजदूतों के साथ कुछ भिक्षु भी थे। जापान के राजा ने उनका सम्मान किया। छोटा सा मन्दिर बनाकर बुध्द मूर्ति की प्रतिष्ठापना की गयी। कलियुगाब्द ३७०० (खि.५९८) में शोटोकु के काल में बौध्द धर्म को राजाश्रय प्राप्त हुआ। जापान की प्रथम घटना उसने बनाई जो बुध्द, धर्म और संघ इन बौध्द त्रिरत्नों पर आधारित थी। घटना में स्वीकार किया था कि यह त्रिरत्न ही केवल जापान के जीवन का मूलभूत तत्त्व एवं श्रध्दा का विषय रहेगा।

चीन एवं कोरिया से बौध्द आचार्य जापान में जाते रहे। उस समय जापान में चीनी भाषा का ही प्रयोग होता था। चीनी भाषा में अनुवादित बौध्द ग्रंथों का अध्ययन जापान के विहारों में आरंभ हुआ। राजपुत्र शोटोकु ने बुध्द विहारों, पगोडों, स्तूपों और विविध देवताओं के मंदिरों के निर्माण को उत्तेजन दिया। बौध्द धर्म का प्रथम स्पर्श होने के पश्चात् केवल पचास वर्ष की कालावधि में ४६ मंदिर बने। ८१६ भिक्षुओं तथा ५६९ भिक्षुणियों के संघ धर्मप्रसार में कार्यरत हुए।

आचार्य बोधिसेन -

दक्षिण भारत में भारद्वाज गोत्रीय ब्राहमण वंश में बोधिसेन ने जन्म लिया था। बचपन

से ही पूर्ण वैराग्य था। मंजुश्री बोधिसत्व की प्रेरणा प्राप्त हुई। बौध्द ग्रंथों के अध्ययन करने के साथ गणित, ज्योतिष आदि विद्याएँ प्राप्त कर ली। उन के समकालीन कतिपय भिक्षु मध्य् एशिया और चीन में धर्मप्रसार के लिये जाते हुए दिखाई देते थे। बोधिसेन भी चीन की यात्रा पर चल पडे। चीन में उन की बुध्दिमत्ता, तेजस्विता और वाक्पटुता का सम्मान हुआ। लोयांग के विहारों में कुछ काल बिताकर वे जापान की दिशा में चल पडे। चम्पा (विएतनाम) के और चीन के उन के शिष्य भी उनके साथ थे। जापान में अभी तक किसी भारतीय आचार्य ने पाँव नही रखा था। चीन के वास्तव्य में वे गोदाइ पर्वत पर एकांत में थे तभी कुछ जापानी भिक्षु उन्हे मिले थे। उनका भी आमंत्रण था।

कलियुगाब्द ३८३८ (खि.७३६) में आचार्य बोधिसेन ने जापान की भूमि पर पदार्पण किया। जापान के राजा और राजपरिवार ने श्रध्दा से उन का स्वागत और सम्मान किया। उन्हें प्रधान धर्माचार्य पद पर नियुक्त किया। आचार्य बोधिसेन को अनेक सिध्दियाँ प्राप्त थी। वे बुध्दावतंस सूत्र के भी ज्ञाता थे। जापान के भिक्षु संघ में उन्होंने चैतन्य का साक्षात्कार कराया। इस समय 'नारा' जापान की राजधानी थी। कलियुगाब्द ३७०९ (खि.६०७) में कोरिया के एक भिक्षु की प्रेरणा से नारा में प्रसिध्द होर्युजी मन्दिर बना हुआ था। कतिपय विहार भी थे। जापान का सम्राट किसी अद्भुत प्रेरणा से बुध्द भगवान की विशालतम मूर्ति बनवाना चाहता था। उस ने कांस्य की ६० फूट उँची वैरोचन बुध्द की आसनस्थ प्रतिमा बनवाई। ४५० टन की यह मूर्ति आज भी जापान का ही नही समग्र विश्व का आध्यात्मरूप अलङ्कार है। आचार्य बोधिसेन के साथ भारत के चित्रकार एवं कलाकार भी आये थे। प्रतिमा निर्दोष बनी। पुरोहितों के दल ने आचार्य बोधिसेन के नेतृत्त्व में मूर्ति की प्राणप्रतिष्ठा की।

आचार्य बोधिसेन की प्रेरणा से सभी विहारों में संस्कृत का अध्ययन आरंभ हुआ। यह संस्कृत विद्यालयों की परम्परा १४०० वर्षों से आज तक अक्षुण्ण चलती आ रही है। होर्युजी-मन्दिर आध्यात्मिक केन्द्र था। स्वयं राजपुत्र शो टोकु वहाँ पर महायान सूत्र, सध्दर्भ पुण्डरीक, श्रीमलदेवी सिंहनाद, विमलकीर्ति निर्देश आदि सूत्रों पर प्रवचन करते थे। आज भी विद्वान आचार्यों के प्रवचन इस प्राचीन केन्द्र में चलते है। नारा के प्रभावी आध्यात्मिक केन्द्र के कारण कलियुगाब्द की ३९ वी (खि. ८ वी) शती जापान का 'नारा युग' कहलाती है। विनय पिटक, वसुबन्धु का अभिधर्मकोश, हरिवर्मन का सत्यसिध्दि, तथा नागार्जुन एवं आर्यदेव के सूत्र आदि ग्रंथों का अध्ययन इस काल में चलता था। सम्राट शोटोकू के काल में अर्थात् कलियुगाब्द ३८०० (खि.७००) के पास जापानी आचार्य दोशो चीन में गये। वहाँ पर उन्होंने विख्यात चीनी आचार्य ह्यू एन् त्संग से हेतुविद्या प्राप्त कर ली। जापान लौटने के बाद इस भारतीय हेतुविद्या (तर्कशास्त्र) का प्रसार उन्होंने किया।

जापान के प्रमुख विहारों में ग्रंथालयों का विशेष विभाग रहता है। सैंकडो वर्षों की भिक्षुओं ने अपने हाथों से तैयार की हुई पाण्डुलिपियाँ इन ग्रंथालयों में सुरक्षित है। इतनाही नही तो प्राचीन संस्कृत हस्तलिखित जापान के विहारों में है।

जापानी आचार्य कोबे दाइशी -

आचार्य कोबे दाइशी (क. ३८७६-३९३५, खि.७७४-८३३) वज्रयान तंत्र के आचार्य थे। उन्हों ने चीन में जाकर अध्ययन किया था। कोयासान के शान्त पर्वताञ्चल में उन्हों ने अपना आश्रम स्थापित किया था। जापान में चीनी लिपि एवं भाषा का प्रयोग होता था। व्यवहार में यह भाषा अत्यंत कठीन थी। आचार्य संस्कृत भाषा के ज्ञाता थे। संस्कृत के आधारपर उन्होने नये जापानी वर्णमाला की रचना की जो हीरागाता कहलाती है। कश्मीर के आचार्य प्रज्ञ से आचार्य कोबे दाइशी ने नागरी लिपि सीखी थी। उन्होने ध्वनिपञ्चाशिका (गोजुओन्) के नीवपर नयी लिपि का अविष्कार किया। ध्वनिपञ्चाशिका का आरम्भ इस प्रकार है, "आ इ उ ए ओ। का कि कु के को।"

जापान में चीनी चित्रलिपि के कारण केवल सामन्त परिवार ही शिक्षा पाते थे। हीरागाना वर्णमाला के परिशोधन से सामान्य प्रजा के बच्चों तक शिक्षा पहुँच गयी। संस्कृत की प्रेरणा से शिक्षा का सर्वजनीकरण हुआ। जापान का तान्त्रिक सम्प्रदाय शिगोन् कहलाता है। उस का केन्द्र कोयासान् है। सम्प्रदाय के बारह सौ से अधिक मन्दिर है। मन्दिरों के देवताओं की दैनंदिन पूजा संस्कृत मंन्त्रों से होती है। जापान देश भी मूलतःसूर्योपासक है। यहाँ के राजा सूर्यपुत्र ही कहलाते है। होम करते समय हवन के मन्त्र आज भी गूँजते रहते है, "ओम् पद्मोद्भवाय स्वाहा। ओम् वज्रोद्भवाय स्वाहा। ओम् वज्राग्निप्रदीप्ताय स्वाहा। रवं आविर हूं खं श्रीं वं हूं त्राःहीःअःभ्रूं..ज्वल प्रवर्तय हूं...आदि।ये मंन्त्र प्राचीन सिध्दम् लिपि में है।

जापान मन्दिरों का देश -

जापान मन्दिरों का देश है। कोयासान् में १२० मन्दिर है। सारे देवताओं की प्राणप्रतिष्ठा संस्कृत मन्त्रों से हुई है। कलियुगाब्द ४१२५ (खि.१०२३) में सम्राट शिराकावा ने यहाँ के प्राचीन मन्दिर में एक दीप प्रज्वलित किया था। यह जापान का अक्षयद्वीप है। दो विश्वयुध्द हुए...जन्म मृत्यु का कालचक्र चलता ही रहा, कतिपय सम्राटों का उत्थान...पतन हुआ...कितने बार निसर्ग की लीलाओं ने समृध्द नगरियों का विनाश किया...भगवान शंकर के ताण्डवनृत्य के पदविन्यास पर कालचक्र की गति से पृथ्वी आन्दोलित होती रही...फिर भी यह जापान का भारतीय अक्षय दीप कभी शान्त नही हुआ...जलता ही रहा।

जापान की वर्तमान राजधानी 'टोकिओ' है। यही प्राचीन 'क्योटो' नगरी है। इसी के पास प्राचीन होर्युजी मन्दिर है। कलियुगाब्द ३८९६ (ख्रि.७९४) में जापानी वंश के पचास वे सम्राट ने 'नारा' के निकट ही इस राजधानी का निर्माण किया। उस के पश्चात् ७४ सम्राट और उन के हजारो सामन्त हो गये। क्योटो कतिपय प्राचीन प्रासादों और सामन्तों के विशाल भवनों की नगरी है। आज क्योटो में लगभग १४०० बुध्दमन्दिर है। ४०० शिंटो देवताओं के मन्दिर है। सबसे लंबा लकडी का बना हुआ ३३ कमानवाला सुंदर मन्दिर यहाँ पर है। गर्भगृह में 'कन्नोन' देवी की विशाल प्रतिमा आसनस्थ है। कन्नोन देवी करूण बुध्द की शक्ति रूप है। देवी के चारों ओर उस की सेविकाएँ है। मानवाकृति एक सहस्त्र सेविकाएँ है। प्रत्येक मूर्ति सुवर्ण के पत्ते से अलंकृत है।

जापान का प्रत्येक घर मन्दिर होता है। घर घर में 'शिचिफ कुजिन' अर्थात सात मांगलिक देवताएँ होती है। कही मूर्तियाँ होती है। चित्र तो होते ही है। इन में दाइकोकु अर्थात् दण्डधारी महाकाल है। बिशामोन् अर्थात् वैश्रवण कुबेर है। बेन्तेन अर्थात् वीणाधारी सरस्वती है। कांगितेन् शोतेन् अर्थात गणेशजी भी है। 'फुदी' याने अचल... यह देवता ज्वालाओं से परिवृत है...दुष्टों का दमन करने वाली है। दायें हाथ में खड्ग है...बाएँ हाथ में पाश! साक्षात् यमदेव ही दीखते है। परन्तु ये 'शिव' है। रूद्र, अग्नि एवं वायु देव भी है। कोयासान् में इस अचल देवता का भव्य मन्दिर है। यह मन्दिर ग्याशो नामक पुजारी ने कलियुगाब्द ४३०० (ख्रि.११९८) में बनवाया था। तब से कोयासान् जापान की काशी बन गया। मांगलिक देवताओं में हारीति देवी है जो बाल रूप में देवी 'किशिमोजिन्' है। किचिजोतेन् देवी महालक्ष्मी का रूप है।

टोक्यो में महाकाल का मिमेगुरी मन्दिर है। कुबेर का तामोन्‌जि मन्दिर है। सरस्वती का चोमेइजि मन्दिर है। इन मन्दिरों में, नव वर्ष के प्रथम दिन जापानी सुख समृध्दि के लिये उपासना करते है। टोक्यो के ही समीप 'गोहयाकु राकान्' मन्दिर है। पाँच सौ मन्दिरों में आचार्यों की मूर्तियॉ है। ब्रह्मा, इन्द्र, यम, हनुमान, आदि देवताओं के मन्दिर जापान में है। देवताओं से जुडी हुई कथाएँ भारत के देवतओं के पुराणों से ही ली गयी है।

भगवान बुध्द का देवता परिवार भारतीय देवताओं का परिवार है जिस में लगभग सभी वेदिक और पौराणिक देवताओं का समावेश है। जापान का राष्ट्रीय सम्प्रदाय 'झेन बुध्दिझम्' है। झेन् याने ध्यान। कोई भी देवता निर्गुण निराकार ब्रह्म का ही प्रतीक रूप होती है।

५४. बुध्द - न्यो - इरीन कॅनॉन (जपान)

भारतीय संत, बोधिसेन भारद्वाज

जापानी जन-लिपि 'कथकना' के आविष्कारक
जापान के सम्राट शोमा द्वारा 736 ई० में राजधानी नारा में
इनका अभिनन्दन।
8वीं शती का चित्र, राष्ट्रीय संग्रहालय नारा, जापान।

BODHISENA BHARDWAJ

Inventor of Japanese Script for Masses—Kathakana
Honoured by Emperor Shoma in Capital Nara
in 736 A.D.
8th Century Painting National Treasure Hall
Nara, Japan.

५५. भारद्वाज (जपान)

भगवान शिव, जापान

LORD SHIVA, JAPAN

—0—

" All the gods you see in Japan are the gift of India. We have no claim to local production. "

" जापान में जितने देवता आप देखते हैं वे सभी भारत की देन हैं उनके जापान में निर्मित होने के विषय में हमारा कोई दावा नहीं है।"

५६. शिव (जपान)

चतुर्मुख ब्रह्मा, जापान

FOUR HEADED BRAHMA
Japan, 11th Century

—0—

" All the gods you see in Japan are the gift of India. We have no claim to local production. "

" जापान में जितने देवता आप देखते हैं वे सभी भारत की देन हैं उनके जापान में निर्मित होने के विषय में हमारा कोई दावा नहीं है।"

५७. ब्रह्मा (जपान)

५८. वीणावादिनी (जपान)

५९. उपासक, (जपान)

जापानी पांडुलिपि, (१०३५ ई०) में
महर्षि वसिष्ठ

MAHARSHI VASISHTHA IN JAPANESE
MANUSCRIPT (1035 A. D.)

निपुण देश (जापान) में भारत के सभी देवताओं की प्रतिष्ठा है।
वहाँ वसिष्ठ को [illegible] [illegible] किया जाता है।

६०. वसिष्ठ (जपान)

६१. मैत्रेय (जपान)

रूस

रूस या रशिया एक विशालतम देश है। एशियायी देश होते हुए भी उसका पश्चिमी प्रदेश युरोप खण्ड में है। मध्य एशिया का भी एक विशाल क्षेत्र रूस में समाविष्ट था। मध्य एशिया तो प्राचीन काल में भारतीय संस्कृति का प्रभावी केन्द था। चीन, मंगोलिया, कोरिया और जापान में जानेवाले भारतीय आचार्य मध्य एशिया से ही वहाँ गये थे। कश्यप (कॅस्पियन) सागर के तट पर सरस्वती - सिन्धु संस्कृति के अवशेष प्राप्त हुए है। मृद्भाण्ड, खिलौने, अलंकार, कास्य एवं ताम्र वस्तुएँ और सरस्वती संस्कृति की लिपि से अंकित मुद्राएँ प्राप्त हुई है। रुस से भारत का सम्बन्ध इस प्रकार पाँच सहस्त्र वर्षों का है।

रूस में स्थित वंशी भी भारतीय संस्कृति से प्रभावित थे। रुस के अनेक नगर नाम संस्कृतोद्भव है। 'रशिया' शब्द भी ऋषिय शब्द का रुप हो सकता है। रुस का एक विशाल क्षेत्र है सैबेरिया। साढ़े तीन लाख वर्ग किलोमीटर क्षेत्र के सैबेरिया का वास्तविक नाम शिबीर है। स्थानिक उच्चारण भी 'शिबीर' है जब की अंग्रेजी भाषा के प्रभाव स्वरुप हम सैबेरिया कहते है। सैबेरिया के बैकल सरोवर के परिसर में बुर्यात जनजाति का प्रमुख स्थान है। सैबेरिया पर इस जाति का प्रभाव है और अधिकार भी।

रुस में बौध्द धर्म का प्रवेश

बुर्यात मंगोलिया में रहते थे। उनकी छः जनजातियाँ थी। आठ गोत्र थे। मंगोलिया बौध्द धर्मी था। बुर्यात भी भगवान बुध्द के उपासक थे। बौध्द धर्म के स्वीकार के पूर्व वे शामन सम्प्रदायी थे। निर्सग पूजक थे। सूर्य एवं अग्नि की उपासना करते थे। प्राचीन शामन गीतों में अग्नि, वायु, रुद्र आदि वैदिक देवताओं की प्रार्थनाएँ थी। जब बौध्द बने तो शामन देवताएँ बुध्द परिवार में समा गई। कलियुगाब्द ४७६२ (ख्रि. १६६०) में बुर्यात जाति को मंगोलिया से निष्कासित होना पडा। शिबीर (सैबेरिया) में उनकी जातियाँ थी। मंगोलिया से निष्कासित बुर्यात समूह शिबीर में चले गये। साथ में भगवान बुध्द की मूर्तियाँ थी। और सूत्र थे। बुर्यातों के इतिहास के अनुसार कलियुगाब्द ४७९१ (ख्रि. १६८९) में उन्हों ने रुस की नागरिकता स्वीकार की।

उसके कुछ बारह वर्ष पश्चात् लामा संगजाई 'किमनी' नदी के पश्चिमी तट पर आये। उन्होंने वहाँ पर पूजा की। उसी स्थान पर धर्मपरिषद का आयोजन किया। शिबीर के सारे क्षेत्र में

भगवान् बुध्द का संदेश पहुँचाने का संकल्प प्रकट किया गया। मंगेलिया और तिब्बत में भी सन्देश गया। कलियुगाब्द ४८२२ (ख्रि. १७२०) में एक सौ मंगोल लामा और पचास तिब्बत के लामा शिबीर में आये। उनके सामूहिक प्रयास से शीघ्र ही सारा शिवीर (सैबेरीया) क्षेत्र बौध्द पंथियों का बन गया।

जय लामा

शिबीर का एक मेधावी व्यक्ति ''जय लामा'' को बुध्द की प्रेरणा हुई। वह तिब्बत में चला गया। तिब्बत बौध्द विद्या और कला का केन्द्र था। बरघुन जू (ल्हासा) के प्रख्यात गोमङ्ग और शतोद विहारों में रहकर उसने अध्ययन किया। तिब्बत में इस समय साँतवे दलाई लामा थे। उन्होंने जय लामा को 'भिखु पद' दिया। जब वापस जाने की अनुज्ञा माँगी तो दलाई लामा ने अनुरोध किया। सुमेरु पर्वत और चार द्वीप की रचना के बुध्द विहार का निर्माण करने का आदेश दिया।

जय लामां अनेक मूर्तियाँ, धातु और सूत्र (ग्रंथ) साथ में लेकर अपने भूमि में लौट आये। लोगोंने उन्हे सम्मानित किया। बुध्दविहार बनाने के लिये शासन की अनुज्ञा आवश्यक थी। जय लामा अनुज्ञा पाने के लिये मास्को गये। रुस के सम्राट ने उनका सम्मान किया। उन्हें 'खम्पो लामा' के पद पर नियुक्त किया। लामा की श्रेणि में खम्पो लामा और पण्डित लामा ये दो पद श्रेष्ठ थे। जय लामा ने फिर सुमेरु विहार का निर्माण किया। कलियुगाब्द ४८७९ (ख्रि. १७७७) में जय लामा निर्वाण पद को प्राप्त हुए। उसके पश्चात् 'जिम्बा लामा' पाँच प्रमुख विहारों के 'पण्डित लामा' पद पर नियुक्त हुए। जिम्बा लामा के पश्चात दोनो पद मिलाकर पण्डित खम्पो लामा के सर्वोच्च पद का निर्माण किया गया जो वर्तमान तक चलता आ रहा है।

कलियुगाब्द ४८४६ (ख्रि. १७४४) में चोंघोल बुध्दमन्दिर का निर्माण हुआ। इस मन्दिर में प्रमुख देवता के रुप में 'महाकाली' की स्थापना की गई। ४९१८ (ख्रि. १८१६) में प्रख्यात 'अगिन्स्की' विहार की स्थापना की गई। शिबीर (सैबेरिया) का यह अध्ययन केंद्र है। तत्वज्ञान, तंत्र, ज्योतिष (कालचक्र), और आयुर्वेद ये शिक्षा के प्रमुख विषय है। शिबीर के विहार प्राचीन नालन्दा विश्वविद्यालय की परम्परा चला रहे है। विहारों के पुस्तकालयों में अनेक प्राचीन ग्रंथ है। उनमें सिध्द कान्हपाद रचित श्री गणेश पर चौदह ग्रंथ है। आर्य गणपति स्तुति, महाविनायक रुप उपदेश आदि छोटे स्तोत्र भी उसमें समाविष्ट है।

रुस की सरस्वती :-

चोंघोल के विहार के देवता महाकाल है, तो सेलेङ्ग परिसर के विहार में 'मैत्रेय' की

भव्य प्रतिमा है। विहारों की चित्रकारी अजिण्ठा के चित्रकला के समान ही भव्य और चैतन्ययुक्त है। अगिन्स्की के विहार में माँ सरस्वती का अप्रतिम चित्र है। नील वर्ण की पार्श्वभूमि पर तीन रंगों की मण्डलाकार प्रभावलि से युक्त कमलासन पर विद्या की यह देवी स्थित है। तन पर मोहक रंगीत वस्त्र है .... मस्तक पर पुष्पमुकुट ... हाथों में मोत्तियों के कङ्कण.... गले में रत्नहार ... गोद में वीणा टीकी हुई ... दाहिने हाथ की अँगुलियाँ वीणा के तारों पर हलके से रखी हुई ... तो बाएँ हाथ की उँगलियाँ वीणा के वेलबुटेदार अग्र को स्पर्श करती हुई ... दाहिने हाथ की ओर देखे तो लगता है, ... किञ्चित् उठी हुई तर्जनी और मध्यमा अभी तार छेडेंगी ... वातावरण में वीणा की झंकार गूँज उठेगी। अत्यंत कोमल एवं अप्रतिम लावण्यदर्शिनी विद्या देवी में पावित्र्य, मांगल्य, सौंदर्य और ज्ञान का साक्षात् दर्शन होता है। विद्यादेवी के उपासकों ने भारतीय संस्कृति की यह धरोहर इतने संघर्षमय जीवन में भी अद्यावधि सुरक्षित रखी है।

कतिपय विहारों में आज भी प्राचीन ग्रन्थ व्यवस्थित रखे हुए है। उनमें बौध्द दर्शन, तंत्र, ज्योतिष, आयुर्वेद, शिल्पशास्त्र, आदि विषय के ग्रंथ है। आज भी इस विहार में कोई अभ्यागत आये तो काषायवेशधारी प्रसन्नवदन भिक्षु उसका स्वागत मधुपर्क देकर करते है। उन्हे आज भी नित्यपूजा के लिये गङ्गाजल लगता है। नदी के शुध्द जल को अभिमंत्रित करके गङ्गाजल का रूप देकर उस जल से भगवान बुध्द का अभिषेक होता है। विहारों में इन्द्र एवं अग्नि देवताओं की भी पूजा होती है। शिबीर (सैबेरिया) में रामायण कथा लोकप्रिय है। बुध्द की जातक कथाओं के साथ रामायण की और पुराणों की कथाओं पर नाट्य एवं नृत्य के अविष्कार होते है।

अफगानिस्तान

मा वो रसा अनितभा कुभा क्रुमुर्मा वः सिन्धुर्निरीरमत् ।

मा वः परिष्ठात् सरयुः पुरीषिण्य स्मे इत् सुन्नमस्तुवः।। ऋ ५.५३.९।।

इस वैदिक ऋचा में सिन्धु नदी के साथ रसा (वर्तमान लघमन्) अनितभा, कुभा (काबुल) और क्रुमु (कुर्र्म्) इन नदियों के जलराशि का उल्लेख आता हैं। ये सारी नदियाँ वर्तमान अफगानिस्तान में है। ओर एक ऋचा में सुरर्तु (सिर दर्या), तृष्टा (टोची), श्वेत्या (दर्या-इ-सफेद) इन अफगानिस्तान की नदियों का उल्लेख है। इन सब नदियों सहित सिन्धु रथाधिष्ठित होती है। अर्थात इनका जल लेकर सिन्धु आगे बढती है।

वेदकाल में भारत की उत्तर पश्चिम सीमा हिन्दुकुश पर्वत से भी आगे और वर्तमान ईरान से सटी हुई थी। कतिपय जनजातियाँ इस भूप्रदेश में थी। ऋग्वेद में एक भयङ्कर युध्द का वर्णन है जो दाशराज्ञ युध्द नाम से विख्यात है। इस युध्द में बहुत से राजाओं ने सहभाग लिया था परन्तु प्रमुख दस राजाओं के कारण वह दशराज्ञ युध्द कहलाया। संभवतः यह विश्व में प्रथम इतना बडा युध्द था। परूष्णी और यमुना के तट पर यह युध्द हुआ। सुदास पैजवन ने तृत्सु, भरत, पर्शु, और पृथु इन राजाओं की सहायता से लगभग तीस राजाओं की सम्मिलित सेना को पराजित किया। पराजित राजाओं में पाँच जनजातिओं के नाम आते है जो वर्तमान अफगानिस्तान की निवासी जातियाँ थी।

"सोमप्राशक इन्द्र ने तृत्सुओं से आर्यों के धेनुसंघ मुक्त किये, जिसके कारण पक्थ, भलानस्, अलिन्, विषाणिन्, और शिव शरणागत होकर उसकी स्तुति करने लगे।"

आ पक्थासो भलानसो भनन्ता अलिनासो विषणिनःशिवासः।

आ योऽनयत् सधमा आर्यस्य गव्या तृत्सुभ्यो अजगन् युधा नृन् ।। ७.१८.७।।

प्राचीन अफगानिस्तान (गान्धार)

इस प्रकार वर्णित ये जनजातियाँ पंजाब प्रांत की सीमा की पश्चिम दिशा में वर्तमान पेशावर और काबुल एवं गझनी के बीच के भूप्रदेश में निवास करती थी। पाश्चात्य विद्वानों का इन जनजातियों का वर्गीकरण कुछ भी हो ऋग्वेद इन जातिओं का समावेश आर्यों में ही करता है। पक्थ जाति आज की पठान जाति है जो मुस्लिम बनी हुई है। पश्तो उन की भाषा है जो स्पष्ट

रूप से संस्कृतोद्‌भव दिखाई देती है। भलानस जाति का निवास क्वेटा और हेलमण्ड मरुस्थली को जोडनेवाली बोलन घाटी में था। बोलन नदी के प्रवाह ने यह घाटी बनाई है। बोलन नदी की तट पर भलानस जाति के उपनिवेश थे। संभवतः वर्तमान बलुचि जन समूह के पूर्वज ही भलानस कहलाये जाते थे। अलिन और विषाणिन् संभवतः खैबर की घाटी में निवास करते थे। शिव जाति का गणराज्य शिबी नामसे विख्यात हुआ। संभवतः इसी वंश के शिबी औशीनर के पुत्र मद्रक ने मद्र नामक उपनिवेश शतद्रु (सतलज) और परूष्णी (रावी) नदीओं के मध्यभाग में स्थापित किया था। महाभारत के अनुसार महाराज पाण्डु की पत्नी माद्री इसी मद्र देश की राजकुमारी थी।

प्राचीन ग्रंथ गान्धार के साथ कपिसा का भी उल्लेख करते है। वर्तमान पूर्व अफगानिस्तान में गांधार और कपिसा ये विशाल गणराज्य थे। भारत की सीमा पर स्थित होने के कारण इन का पश्चिमी देशों तथा उत्तर दिशाके मध्य एशिया के देशों से निकट संबंध था। ईरान की ओर जानेवाले मार्ग गांधार से जाते थे। रूस और चीन की ओर जानेवाले मार्ग कपिसा से जाते थे। गांधार में वर्तमान बेग्राम, सीस्तान, काबुल, और कंधार (कंदहार) का प्रदेश समाविष्ट था। इस के सिवाय वर्तमान पाकिस्तान के रावलपिण्डी, पेशावर (पुरूषपूर) और शाह की ढेरी (तक्षशिला) ये नगर गांधार में समाविष्ट थे। गांधार के उत्तर में कपिसा का राज्य था। ग्रीक इस को कपिसेन कहते थे। कपिसा नगर प्राचीन काल में वहाँ की वारूणी (एक प्रकार का मादक पेय) के लिये प्रसिध्द था। गांधार अपने रेशमी वस्त्रों के लिये प्रसिध्द था। महाभारत काल में चीन से भारत में आयात होनेवाला विख्यात वस्त्र (चीनांशुक) गांधार मार्ग से ही आता था। गांधार की राजकुमारी गान्धारी महाराज धृतराष्ट्र की पत्नी थी।

गांधार की राजधानी तक्षशिला थी। पाकिस्तान में रावलपिण्डी के उत्तर पूर्व में लगभग ४० किलोमीटर पर इस प्राचीन नगरी के अवशेष प्राप्त हुए है। ऐतिहासिक परम्परा के अनुसार रामायण काल में कैकेयी पुत्र भरत के दो पुत्र थे। एक पुत्र 'तक्ष' के नाम पर तक्षशिला और दूसरा पुत्र पुष्कल के नाम पर पुष्कलावती नगरी का निर्माण किया गया था। तक्षशिला प्राचीन भारतीय विश्वविद्यालय के लिये विख्यात था। कलियुगाब्द २३०० के लगभग से लेकर ३५०० तक (खि.पू.७०० से खि.४०० तक) बारह सौ वर्षों तक यह विश्वविद्यालय विश्व का ज्ञान ओर संस्कृति का केन्द्र बना रहा। मिश्र, बॅबिलोनिया, अनातोलिया (तुर्कस्तान), ईरान, ग्रीक और रोम इन सभी प्राचीन सभ्यताओं का तक्षशिला विश्वविद्यालय से संबंध था। इन सभ्यताओं का सांस्कृतिक दृष्टि से भारत के साथ जो संबंध था वह तो अब ऐतिहासिक एवं पुरातात्विक आधार पर सिध्द हुआ है। प्राचीन सभ्यताओं की आध्यात्मिक धारणा, सामाजिक अनुबन्ध की संकल्पना और राजनैतिक व्यवस्थाओं की परिकल्पना का अधिष्ठान भारतीय संस्कृति ही रहा।

तक्षशिला विश्वविद्यालय एक ऐसा केन्द्र था जो इन सभ्यताओं के विद्वानों के लिये समान रूप से पथदर्शक रहा। इन विद्वानों ने उसी ऋषिमुनियों से ज्ञान ग्रहण किया जो भारत में युगयुग से वेद वेदान्त की शिक्षा देते आ रहे थे। सर विल्यम जोन्स ने इस संदर्भ में स्पष्ट रूप से अपना निष्कर्ष प्रकट किया है।

"पायथागोरस और प्लेटो ने अपने महत्त्वपूर्ण उदात्त सिध्दान्तों का ज्ञान उसी भारतीय स्रोत से प्राप्त किया जो भारतीय ऋषियों के ज्ञान का स्त्रोत था...इस पर विश्वास किये बिंना वेदान्त या वेदान्त के प्रकाश में की गई अलौकिक रचनाएँ हम आत्मसात नही कर सकते।"

(It is impossible to read Vedant or many of the fine compositions in illustration of it, without believing that Py thagoras and Plato derived their sublime theories from the same fountain with the sages of India.)

तक्षशिला विश्वविद्यालय स्वाभाविक रूप से इस प्रकार का ज्ञान का स्रोत था। कलियुगाब्द २६ की (खि.पू.छठी) शती का बॅबिलोन का एक करारपत्र प्राप्त है जिस पर स्थानिक बॅबिलोनियन लिपि के साथ माहेश्वरी या ब्राह्मी लिपि का भी उपयोग किया है। सुमेरियन सभ्यता के प्रारंभ से ही भारतीय संस्कृति से उस भूप्रदेश का निकट संबंध था। जब विश्वविद्यालय प्रारंभ हुआ तब से वह सम्बन्ध अधिक निकट का हुआ होगा।

पुष्कलावती (या पुष्करावती) पश्चिम गांधार की राजधानी थी। स्वात (सुवास्तु) और काबुल (कुभा) नदीओं के सङ्गम स्थान पर चारसद्दा के निकट इस प्राचीन वैभवम्पन्न नगर के अवशेष प्राप्त हुए है। व्यापारी मार्ग पर यह नगर था। भारत के पूर्वी सागरतट पर 'ताम्रलिप्ति बंदरगाह था जहाँ से पुष्करावती तक राजमार्ग था। सैंकडो विशाल सार्थ (व्यापारिओं के कबीले) निरंतर इस मार्ग से आते रहते थे।

काम्बोज जनपद

हिन्दुकुश पर्वतशृंखला के उत्तर पूर्व में काम्बोज जनपद था। पामीर का पठारी भूप्रदेश और बदखशाँ का समावेश इस जनपद में था। महाभारत में वर्बर, शक, पुलिन्द और यवनों के साथ काम्बोजवासियों का नाम आता है। भारतीय युध्द के समय 'सुदक्षण' नामक काम्बोज नरेश था जो कौरवों की ओर से युध्द में सम्मिलित हुआ था और अर्जुन द्वारा युध्द में मारा गया। काम्बोज क्षत्रिय थे। उन के निरन्तर उपद्रव के कारण चक्रवर्ती सगर राजा ने उन को पराजित और शक्ति हीन करके दण्डित किया था। उन के सिर मुंडवाये थे इसका भी उल्लेख पुराणों में आता है। वर्तमान राजौर (जि.पूँछ-कश्मीर) काम्बोज जनपद की राजधानी थी। राजौर का प्राचीन नाम राजपूर था। स्वात नदी की घाटी में दरद नाम की एक अन्य जनजाति

थी। पुराणों में काम्बोज के साथ दरदों का उल्लेख आता है।

काम्बोज की प्राचीन भाषा संस्कृत ही थी। ईरानी भाषा के सम्पर्क से वह पैशाची में परिवर्तित हुई ऐसा माना जाता है। काम्बोज अश्वों के लिये भी विख्यात था।

वामस्थान -

केवल दो सौ वर्ष पूर्व अफगानिस्तान की एक देश के नाते कोई स्वतंत्र पहचान नही थी। प्राचीन काल से यह भारत का ही अभिन्न प्रदेश था। हिंदुकुश की पर्वतशृंखलाएँ भारतीयों के लिये उतनी ही पवित्र थी जितनी की हिमालय की आज भी हैं। पामीर के दक्षिण में कोहिस्तान प्रदेश की हिंदुकुश की पर्वतमाला भञ्जनागिरि और लोहितागिरि नाम से विख्यात थी। कोहिस्तान से पश्चिम में पंजाशिर (पञ्च शिखर) पर्वतश्रेणी का भूप्रदेश वामस्थान कहलाता था। काबुल नदी वामस्थान की दक्षिण सीमा थी। काबुल की दो उपनदियाँ अरयु (आर्या) और रामगुल (रामकुल) वामस्थान में है। रामगुल नदी की घाटी में स्थित जनजाति रामगुल नाम से ही पहचानी जाती है। वामस्थान का प्रमुख देवता इन्द्र था जिसे इम्र कहा जाता था।

बारगुल जनजाति मे प्रजासत्ताक पध्दति आज भी चलती है। यहाँ की जन जातियों की भाषा में इस प्रदेश की कतिपय जातियाँ, पहाड, नदियाँ, ग्राम, इन के नाम संस्कृत हैं। पंजशिर पहाडी को पञ्चशेर (पाँच सिंह) पर्वत भी कहा जाता है। स्थानिक जनश्रुतियाँ इस पर्वत को पाण्डवों के साथ जोडती है। अज्ञातवास के काल में पाण्डव यहाँ आकर गये थे ऐसी उन की मान्यता है।

पुराणों में बाश्कल जनपद का उल्लेख है। वर्तमान बाश्गुल नदी की घाटी में बाश्गुल जाति का निवास है। यही प्राचीन बाश्कल है। लगभग एक सौ वर्ष पहले वामस्थान में हिन्दु जातियाँ वसती थी। मुस्लीम शासकों की दृष्टि से वे मूर्तिपूजक थे और काफर कहलाते थे। यह प्रदेश काफिरिस्तान कहलाता था। कलियुगाब्द ४९९९ (खि.१८९७ में काबुल के मुस्लीम शासक ने आक्रमण कर के यहाँ की जनजातियों को मुस्लीम बनाया। आज यह प्रदेश नूरीस्तान कहलाता है।

बाल्हीक जनपद - (बल्ख-बॅक्ट्रिया)

हिन्दुकुश पर्वत और अमुदर्या (वंक्षु) नदी के मध्य का प्रदेश प्राचीन बाल्हीक जनपद है। बॅक्ट्रिया और बल्ख इसी प्राचीन जनपद के नाम है। वर्तमान राजकीय स्थिति में यह प्राचीन जनपद अफगानिस्तान, उझबे की स्तान और ताजिकीस्तान इन तीन देशों में बटा हुआ है। मध्य एशिया में स्थित इस बाल्हीक महाजनपद का समावेश भारत में ही होता था। प्रजापति कर्दम का पुत्र 'ईल' बाल्हीक का प्रथम नरेश था।

महाभारत के काल में बाल्हीक में 'प्रातिपिय' राजा था। शन्तनु और देवापि उस के भाई थे। ये तीनों प्रतीप के पुत्र थे। प्रातिपिय के सात पुत्र थे जो बाल्हीश्वर कहलाते थे। परन्तु पाणिनि के समय संभवतः वे आयुधजीवि बन गये थे। विभिन्न जनजातियों के सम्पर्क से वे आर्य संस्कृति से इतने दूर हो गये कि प्राचीन साहित्य में उन को तिरस्कृत कहा गया। ग्रीक आक्रमण के पश्चात तो उन की संस्कृति पूरी तरह से भ्रष्ट हो गयी थी।

भारत की सीमाएँ वंक्षु (ऑक्सस-अमुदर्या) नदी तक थी इस का उल्लेख चीनी प्रवासी व्हेन् त्सांग ने किया है। अफगानिस्तान को ग्रीक एरियाना या आर्याना कहते थे। बृहत्संहिता में इस प्रदेश को 'अवगण' कहा है जो ईरानी भाषा में अबगण हुआ। उसी से अफगण-अफगानिस्तान बन गया। प्रख्यात वैय्याकरण पाणिनि बाल्हीक का निवासी था। उस के गाँव का नाम शालातुर था। उस की पहचान लहूर नामक स्थान से की गयी है। बाल्हीक रूद्र के उपासक थे। भव और शर्व के रूप में वे रूद्र की पूजा करते थे।

रघुवंश में बाल्हीक जनपद का सुंदर विवरण प्रस्तुत है। बाल्हीक प्रसिध्द था पीले रंग के केसर के लिये। रघु की सेना वंक्षु (ऑक्सस) नदी तक गयी थी। बाल्हीक देश की पहाडियाँ केसर पर्वत कहलाती थी। बाल्हीक में सञ्चार करने के कारण रघु के अश्व और अश्वारोही केसर से लिप्त हो गये थे। बाल्हीक के अभियान से वापस आने के बाद इन सैनिकों ने सिंधु नदी में उलट पुलट कर नहा के स्कंधों एवं बालोंपर लगा केसर झाड दिया।

विनीताध्वश्रमास्तस्य सिन्धुतीर विचेष्टितैः।

दुधुवुर्वाजिनःस्कन्धां लग्नकुङ्कुमकेसरान् ।। रघु. ४.६७।।

कलियुगाब्द २८५१ (खि.पू.२५१) में ईरान का सम्राट कुरू द्वितीय ने बाल्हीक प्रदेश जीत लिया। बाल्हीक हखामनीषि साम्राज्य का एक प्रान्त बन गया। अलेक्झांडर ने जब ईरान पर आक्रमण करके उसे अपने अधीन किया तब बाल्हीक ग्रीक साम्राज्य का हिस्सा बन गया। कलियुगाब्द ३७५५ (खि.६५६) में अरबों के आक्रमण के साथ बाल्हीक की प्राचीन संस्कृति पूर्णतः नष्ट हुई। चन्द्रगुप्त मौर्य ने इस क्षेत्र को सेल्युकस को हराकर प्राप्त किया था। गुप्त एम्राट चंद्रगुप्त द्वितीय ने इस प्रदेश को जीता था। **''तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्ज्जिता वाल्हिका''**।

हरिवर्ष - (हेराल) या हरितवर्ष ।

अफगानिस्तान की लगभग सभी नदियों का उल्लेख ऋग्वेद में आता है। पामीर के ग्लेसिअर से निकली हुई वंक्षु (अमु) नदी अफगानिस्तान की उत्तरी सीमा से बहती हुई उझबेगिस्तान में अरल सागर में विलीन होती हैं। भारत की प्राचीन सीमा यही लम्बी नदी है जो

लगभग २५२५ किलोमीटर बहती है। एक हजार पाँच सौ वर्ष पूर्व इस नदी के उत्तर एवं दक्षिण तट का सारा प्रदेश भारतीय संस्कृति से प्रभावित था।

'अफगानिस्तान की दूसरी नदी कुभा अर्थात् काबुल माझर पर्वत से निकल कर पूर्व दिशा में पाकिस्तान में प्रवेश करती है। अटक के पास वह सिंधु नदी से मिलती है। कुभा नदी की घाटी का प्रदेश गांधार देश कहलाता था।

काबुल नगर के निकट ८० कि.मीटर पर बाबा पर्वत से हेलमन्द नदी निकलती हैं। दक्षिण पश्चिम अफगाणिस्तान में लगभग १५०० किलोमीटर बहती हुई वह सबेरी (शबरी) सरोवर मे जा मिलती है। दक्षिण अफगानिस्तान में विशाल रेगिस्तान है। हेलमन्द नदी इस दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण जीवनदायी नदी है। इस नदी की घाटी में भारतीय और ईरानी संस्कृति का प्रभाव रहा।

उत्तर पश्चिम भाग में जनजीवन समृध्द करनेवाली नदी का नाम हरि नदी है। वर्तमान में तुर्कमेनिस्तान में वह हरिरुद कहलाती है। बाबा पर्वत की पश्चिम ढलान से निकलकर ईरान की सीमापर बहती हुई वह प्रवेश करती है। पश्चिम अफगानिस्तान का हरत वेलायत (हरत प्रान्त) हरि नदी के संस्कृति का केन्द्र था। हरि नदी के तट पर बसा हुआ हरत (हेरात) नगर इस प्रदेश की राजधानी थी। हरत के परिसर में कतिपय अवशेष प्राप्त हुए है जो इस नगर के प्राचीन वैभव की ओर निर्देश करते हैं।

पौराणिक इतिहास परंपरा के अनुसार अग्नींध्र ने जम्बुद्वीप के ९ विभाग (वर्ष) करके अपने ९ पुत्रों को उन पर शासक के रूप में स्थापित किया था। हरि नामक पुत्र को दक्षिण पश्चिम अफगानिस्तान का भूप्रदेश प्राप्त हुआ तो उसके नाम पर हरिवर्ष कहलाया गया। प्रथम भारतीय उपनिवेश होने के कारण वहाँ की नदी भी हरि नाम से विख्यात हुई। देवलोक से निष्कासित किये गये मानवसमूह भी हरिवर्ष में बसते गये। कुछ मानव समूह ईरान से आये। वे भिन्न भिन्न वंशीय थे परन्तु भारतीय संस्कृति से पूर्व सम्बन्धित थे। सभी अग्निपूजक थे। हरि ने नदी के तट पर राजधानी का निर्माण किया। यह राजधानी भी हरत नामसे विख्यात हुई। इस भूप्रदेश में पुरातात्वीय आधार प्राप्त होने की दृष्टि से ठोस प्रयास नही हुएं है। फिर भी उत्तर वेदकालीन अर्थात् सरस्वती (सिन्धु) संस्कृति से सम्बन्धित अवशेष कुछ स्थानों पर प्राप्त हुए है। सीस्तान के मध्य भाग मे शहर-इ-सोख्त (सूखानगर) के निकट कलियुगाब्द के प्रारंभ के अर्थात् पाँच सहस्र वर्ष पूर्व के अवशेष प्राप्त हुए हैं। लगभग १४०० वर्षों के सातत्यपूर्ण जीवन का इतिहास उजागर हुआ हैं। अवशेषों मे मृद्भांड एवं मुद्राएँ प्राप्त हुई है। मुद्राओं में वृषभ मुद्रा उल्लेखनीय है। पश्चिम अफगानिस्तान में दश्त नदी के मुहाने सुल्केगेन-दोर में भी इसी प्रकार के अवशेष प्राप्त हुए हैं।

दक्षिण अफगानिस्तान में कन्धार (कन्दहार) के उत्तर में किश्क-इ-नखोद घाटी में मुण्डीगक नामक स्थान पर कलियुगाब्द पूर्व चौथी शती के अर्थात ५५०० वर्ष पूर्व के अवशेष उपलब्ध हो गये हैं। विख्यात पुरातत्वीय स्थान मेहेरगढ़ में जिस प्रकार की मुद्राएँ प्राप्त हुई, उसी प्रकार की मुद्राएँ मुण्डीगक में प्राप्त हुई है। कुछ लोग कन्दहार को स्कन्धावार का अपभ्रंश मानते है। स्कंधावार याने शिविर। यह भी मानते हैं कि मौर्यों का स्कन्धावार वहाँ स्थापित था जो एक नगर के रूप में विकसित हुआ।

अफगानिस्तान में बौध्द धर्म

बौध्द साहित्य में किवदन्ती है। कोसल का नरेश विदूदभ शाक्य वंश के हाथो अपमानित हुआ। उसने कपिलवस्तु पर आक्रमण किया। शाक्यो ने बौध्द धर्म ग्रहण कर लिया था। अहिंसा व्रत धारण किया था। युध्द निषिध्द था। फिर भी चार शाक्य पुत्रों ने निषेध आज्ञा का उल्लंघन करके युध्द किया। परिणाम यह हुआ कि उन्हे समाज से बहिष्कृत किया गया। स्थिति यहाँ तक बिगड गयी कि वे अपना देश छोडने पर बाध्य हो गये।

चारों शाक्य राजकुमार पश्चिम की दिशा में चल पडे। हिन्दुकुश पर्वत की घाटी से वे बामियान की उपत्यका में पहुँचे। उस इलाके में उनमें से एक को उड्डियन और दूसरे को बामियान का राजा निर्वाचित कर लिया गया। इस प्रकार गौतम बुध्द के कालसे ही बामियान में शाक्य वंश का शासन स्थापित हुआ। बामियान व्यापारि केन्द्र था। चीन से अग्नि देश (वर्तमान काराशर), कुची, शैल देश (काशगर), पामीर, बाल्हीक होते हुए व्यापारी मार्ग बामियन से हो कर नगरहार (वर्तमान जलालाबाद) ओर वहाँ से खैबर खिण्डी से पुरूषपुर (पेशावर) जाता था। अफगानिस्तान के उत्तर में मारकंडा (समरकन्द) से तथा कश्यप (कॉस्पिअन) सागर के चारो ओर के राज्यों से भी व्यापारी मार्ग बामियन हो कर कपिसा, गान्धार पार करके सिंधु के तट तक जाते थे।

स्वाभविकतः अत्यंत महत्वपूर्ण स्थानपर स्थित बामियान बौध्द धर्म का प्रभावी केन्द्र सिध्द हुआ। बामियान काबुल के उत्तर पश्चिम में १३० कि. मीटर पर है। यहाँ पर पर्वतों की उँचाई २५९० मीटर की है। कुण्डुझ नदी के तट पर इन पर्वतों में कतिपय विहारों का निर्माण बौध्द सम्राट कनिष्क ने किया हुआ था। विख्यात गांधार कला का सुंदर आविष्कार कलाकारों ने यहाँ पर साकार किया हुआ था। पर्वतों की अखण्ड शिला में ५३ मीटर उँची भव्य बुध्द मूर्ति उत्कीर्ण की हुई थी। दूसरी एक सुंदर मूर्ति ३७ मीटर उँची थी

गांधार के शिल्पकारों और चित्रकारों ने गांधार और कपिसा में सैंकडो स्तूपों विहारों और चेत्यों का निर्माण किया था। दुर्भाग्य से तालिबान शासकों ने विद्वेषवश सब कुछ नष्ट कर दिया

है। मौर्य काल में सम्राट अशोक का आश्रय बौध्द धर्म को प्राप्त हुआ था। तब से भिक्षुओं का भ्रमण आरंभ हो गया। मध्य एशिया और चीन में जाने का मार्ग गांधार से होकर जाता था।

सम्राट कनिष्क

कनिष्क कुशाण वंशी था। कलियुगाब्द ३२ वी (खि.प्रथम) शती में उसने एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया। मध्य एशिया अफगानिस्तान से लेकर भारत में पूर्वी दिशा में उत्कल (ओरिसा) तक और दक्षिण में महाराष्ट्र तक उसने साम्राज्य का विस्तार किया। पुरूषपुर (पेशावर) उस की राजधानी थी। वह बौध्द धर्म का उपासक था। कनिष्क के कारण कुशाण जाति का पूर्णतः भारतीयीकरण हुआ। उस के सिक्कों पर शिव, शाक्य मुनि, बुध्द, उत्कीर्ण है। पार्श्व, नागार्जुन, संघरक्ष आदि आचार्य एवं भिक्षु उस की राजसभा में थे। प्रख्यात आयुर्वेदाचार्य चरक उस का राजवैद्य था।

कनिष्क ने गांधार में विशाल बौध्द परिषद का आयोजन किया। वसुमित्र इस परिषद के अध्यक्ष थे और अश्वघोष उपाध्यक्ष थे। इस परिषद के परिणाम स्वरूप मध्य एशिया, चीन, कोरिया, जपान, आदि देशों में सैंकडो भिक्षुओं का भ्रमण भविष्य के एक दो सौ वर्ष में होता रहा। अफगानिस्तान में काबुल, कन्दहार, बामियन, गजनी, नगरहार; बेग्राम इन सारे स्थानों पर स्तूप और विहारों के अवशेष विद्यमान है।

शैव एवं वैष्णव अफगानिस्तान

गान्धार में मुंजवन्त पर्वत है। ऋग्वेद के अनुसार यही पर्वत है जहाँ पर सोमवल्ली उपलब्ध होती थी। मुंजवन्त पर्वत रूद्र का स्थान माना जाता था। गान्धार के अनेक भागों में शिव, विष्णु, इन्द्र, ब्रह्मा आदि देवताओं की मूतियाँ प्राप्त हुई है। 'कपिसा' नगर अनेक राजाओं की राजधानी था। ऐसा पाया गया है कि प्राचीन काल में वहाँ पर शैव पन्थ का प्रभाव था। 'कपिसा' के आसपास शिवपार्वती की अनेक भग्न मूर्तियाँ मिलीं। एक हाथ में कमण्डलु और दूसरे में डमरू धारण किये जटाधारी महादेव, नन्दी पर आरूढ शिवपार्वती, किरीट-मुकुटधारी शिव ऐसी अनेक मूर्तियाँ तत्कालीन शिल्पकारों का कौशल और प्रेरणादायी भक्तिमय अंतःकरण का प्रमाण प्रस्तुत करती है। काबुल के पास खैरखाने में चकमक पत्थर की सूर्य मूर्ति प्राप्त हुई। सूर्य नारायण स्मित मुद्रा में रथारूढ है। गले में रत्नहार है। हाथों मे स्वर्णकङ्कण है। मस्तक पर मुकुट है। हाथ घुटनों पर रखे हुए है। पाँव में घुटनों तक जालीदार वस्त्र है और पादत्राण भी धारण किये है। भगवान आदित्य के बायें दायें पिङ्गल और दण्डी संकोच से बैठे है। दोनों अश्वों के मध्य सूर्यनारायण के आसन के नीचे सारथी अरूण विराजमान है।

गर्देज के परिसर में १५०० वर्ष पूर्व की एक और मूर्ति प्राप्त है जो तुन्दिल तनु विनायक

की है। अठ्ठाईस इंच उँची मूर्ति है। श्री गणेश पैरो में थोडा अन्तर रखकर खडे है। सिंहचर्म का कटिवस्त्र मेखला से कसा हुआ...मस्तक पर किरीट...बायें कन्धे से नाभिमण्डल तक लटकता नाग रूप यज्ञोपवीत...और गले में रत्नहार...वरद हस्त और मुद्रा आश्वस्त...बहुत ही सुंदर मूर्ति है। महिषासुर मर्दिनी की एक भग्न मूर्ति भी इसी परिसर में प्राप्त हुई। दाहिने पैर से महिषासुर को दबा कर एक हाथ से दुर्गा देवी उस की गर्दन मरोडती हुई दिखाई देती है।

गांधार के विहारों में भगवान बुध्द के साथ इन्द्र और ब्रह्मा की भी सुंदर मूर्तियाँ है। पर्वत की गुफाओं में उत्कीर्ण शिल्प एलोरा के गुफाओं का स्मरण कराते है। अजन्ता के समान अप्रतिम चित्रकारी गुफाओं में है।

मध्य एशिया -

भारत के उत्तर में दक्षिण पश्चिम चीन का सिकियाङ्ग प्रांत है। यह मध्य एशिया का भूप्रदेश है। इस प्रदेश से जो व्यापारी मार्ग जाता था वह रेशम के समृध्द व्यापार के कारण रेशमी राजमार्ग कहलाता था। इस मार्ग पर वैभव सम्पन्न भारतीय बस्तियाँ थी। खोतान के राजा का नाम था विजितकीर्ति। चीनी यात्री व्हेन त्सांग ने इस प्रदेश का वर्णन किया है।

"यहाँ सैंकडो विहार है। सहस्त्रावधि भिक्षु इन विहारों में निवास करते हैं। भारत से आये हुए आचार्यों से शिक्षा प्राप्त करने हेतु अनेक तिब्बती ओर चीनी छात्र यहाँ आते है। यहाँ का राजा भगवान बुध्द का चतुर्दश दिवसीय समारोह मनाता है। जब शोभायात्रा निकलती है तब भगवानबुध्द की सुवर्ण प्रतिमा रथ में होती है।" यह वर्णन कलियुगाब्द ३८ (खि.७) वी शती का है।

खोतान के मार्ग पर काशगर का राज्य था। वह शैलराज देश कहलाता था। इस देश के उत्तर पूर्व में 'कुचि' नामक राज्य था। यह विद्या का प्रभावी केन्द्र था। प्रमुख विहारों में शिक्षा की व्यवस्था थी। ब्राह्मी लिपि का अध्ययन कराया जाता था। तत्पश्चात् संस्कृत, व्याकरण, आदि का अध्ययन होता था। व्हेन त्सांग के वर्णन के अनुसार इस राज्य में एक सौ विहार थे, पाँच सहस्त्र भिक्षु थे। भारतीय संगीत, नाट्य, नृत्य और साहित्य यहाँ लोकप्रिय था। चीन में महायान पंथ का प्रसार करनेवाले आचार्य कुमारजीव के पिता कुमारायण स्वयं भारतीय थे। कूचि की राजकन्या से उन का विवाह हुआ था। कूचि के राजाओं के नाम हरिपुष्प, सुवर्णपुष्प, हरदेव, सुवर्णदेव आदि पाये जाते है।

कूचि राज्य के उत्तर का प्रदेश अग्नि देश नाम से विख्यात था। अग्नि देश के राजा अपने नाम के अन्त में 'अर्जुन' लगाते थे...जैसे 'इन्द्रार्जुन' चन्द्रार्जुन। उत्खनन में इस देश के जो प्राचीन अवशेष प्राप्त हुए है उस से अग्नि देश का भारतीय संस्कृति के साथ निकट सम्बन्ध स्पष्ट

होता है। 'मातृचेता कवि के 'चतुःशतक' और 'शतपंचाशतक' ये दो प्राचीन स्तोत्र यहाँ प्राप्त हुए है। वे गुप्तकालीन ब्राह्मी लिपि में हैं। अश्वघोष द्वारा लिखित तीन संस्कृत नाटक 'तुर्फन' के परिसर में मिले है। ये नाटक ब्राह्मी लिपि में भूर्जपत्रों पर लिखे हुए है। इसी परिसर में 'चेन फो तुंग' में विख्यात् सहस्त्रबुध्द गुँफा है। भगवान बुध्द के जीवन के प्रसंग ओर जातक कथाएँ इस गुँफा की दीवारों पर चित्रित है। बौध्द साहित्य के अनेक ग्रंथ यहाँ प्राप्त हुए है। सर्वास्तिवादियों का महत्वपूर्ण ग्रंथ 'उदान वर्ग' मूल संस्कृत ग्रंथ प्राप्त हुआ है। तुंग हुआंग में खोतानी भाषा में 'वज्रच्छेदिका, प्रज्ञापारमिता, अपरिमितायुःसूत्र आदि ग्रंथों की हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुई है।

कलियुगाब्द ४० वी शती तक अर्थात् १००० वर्ष पूर्व तक अफगानिस्तान में भारतीय संस्कृति का प्रभाव रहा। सम्राट कनिष्क के काल में अफ़गानिस्तान बौध्द राष्ट्र था। कनिष्क के पश्चात...कुशाण सत्ता नष्ट हुई। विशाल साम्राज्य का विघटन होता गया। हूण जाति के आक्रमण से कुशाण सत्ता दुर्बल हो गयी। कुछ स्थान पर स्वयं को कनिष्क के वंश का माननेवाले राजा राज्य करते थे। हूणों के भी कई राज्य स्थापित हो गये थे। कलियुगाब्द ३६ (ख्रि.५) वी शती में पंजाब, काश्मीर पर हूणों ने आक्रमण किया परन्तु भारत में उस समय गुप्त सम्राटों का शासन था। गुप्त सम्राट स्कंदगुप्त विक्रमादित्य ने हूणों को पराजित किया। पराजित हूण अफगानिस्तान में और पश्चिम एशिया में फैलते गये। रोमन साम्राज्य का भी उन्हों ने विनाश किया।

काबुल में फिर भी तिब्बती मूल का एक तुर्की वंश शासन करता था। अपने को यह वंश बौध्द धर्मी मानता था। इस वंश के राजा, कनिष्क को अपना मूल पुरूष मानते थे। कलियुगाब्द ३९६७ (ख्रि. ८६५) में किन् नामक राजाने इस राज्य की स्थापना की थी। इस काल में अरबों के आक्रमण ने भी कडा रूप धारण किया था। तुर्की वंश जो बौध्द धर्मी था कभी भी मुस्लीम बन सकता था। लगतुर्माण का अमात्य ब्राहमण था। उस का नाम था लल्लीय। परिस्थिति को भाँप कर लल्लीय ने राज्यक्रान्ति की। लगतुर्माण को बन्दी बनाकर उसने लल्लीय शाही की स्थापना की।

काबूल से पेशावर (पश्चिम पञ्जाब-पाकिस्तान) तक का भूप्रदेश लल्लीय शाही के अधीन था। उद्भाण्डपुर (ओ' हिन्द) में उसने राजधानी बनाई। यह स्थान काबूल की घाटी से-पेशावर की घाटी तक के प्रदेश पर नियंत्रण रखने के लिये महत्वपूर्ण था। उद्भांडपुर भारत का प्रवेशद्वार माना जाता था। इस हिन्दु राज्य की एक ओर तुरूष्कों की सत्ता थी तो दूसरी ओर दरदस्थान था जहाँ दरद शासक था। लल्लीय ने ऐसी प्रतिकुल स्थिति में भी समर्थ सत्ता खडी करने का प्रयास किया।

काबुल की घाटी पर तो हिन्दु राज्य का नियंत्रण रहा परन्तु काबुल नगर में याकुब इब्न लैस ने सफरीद राजवंश की स्थापना की। लल्लीय के पश्चात् कमलवर्मा (कमलुक) और उस के बाद उस का पुत्र भीमवर्मा राजा हुआ। भीम ने गदाहस्त, परमभट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर आदि उपाधियाँ ग्रहण की। कलियुगाब्द ४०२७ (ख्रि.९२५) में उसने नगर कोट या भीमनगरी का निर्माण किया। भीम की मृत्यु के पश्चात् कलियुगाब्द ४०२७ (ख्रि.९६०) में जयपाल सिंहासनारूढ हो गया।

जयपाल ने परमभट्टारक और महाराजधिराज उपधियाँ ग्रहण की। जयपाल के काल में अलप्तगिन काबुल का शासक बन गया था। उस ने गझनी पर भी अधिकार कर लिया। अलप्तगिन के पश्चात् सबक्तगिन गझनी का शासक बना। काबुल की घाटी और गझनी पर लल्लीय शाही का ही अधिकार रहा था। जयपाल ने अपना अधिकार प्रस्थापित करने का प्रयास किया परंतु वह पराजित हो गया। सबक्तगिन के पश्चात् मुहम्मद ने गझनी पर अधिकार किया। कलियुगाब्द ४१०३ (ख्रि.१००१) में गझनी के मुहम्मद के हाथो जयपाल फिर एक बार पराजित हुआ।

भारत में गुजरात और राजस्थान में कतिपय हिन्दु राज्य थे। परन्तु गझनी के महम्मद का संकट पहचान ने की क्षमता उन में नही थी। मुहम्मद ने तो प्रतिवर्ष गुजरात में सोमनाथ पर आक्रमण आरंभ किये। पंजाब में जयपाल अपनी शक्ति जुटाकर संघर्ष करता रहा। गझनी के मुहम्मद के विरोध में हिंदु सत्ताऍ संघटित नही हुई। जयपाल के पश्चात् उस का पुत्र आनन्दपाल ने भी कडा संघर्ष किया परन्तु वह पराजित हुआ।

लल्लीय सत्ता पराभूत होते ही अफगानिस्तानपर स्थायी स्वरूप में मुस्लीम सत्ता आयी। आगे चलकर इस के भयङ्कर परिणाम हुए। जबतक अफगानिस्तान में भारतीय सत्ता थी, भारत सुरक्षित था। मुगल सत्ता भी प्रथम अफगानिस्तान में कायम हुई जहाँ से फिर दिल्ली की सल्तनत का उदय हुआ। पाकिस्तान जैसे मुस्लिम देश के निर्माण का इतिहास इस प्रकार अफगानिस्तान के राजकीय एवं सांस्कृतिक घटनाओं तक पीछे जाता है। लल्लीय शाही का 'राजा आनन्दपाल' अंतिम हिन्दु वीर था जिसने अफगानिस्तान अर्थात् गांधार भारत से जुडा रहे इस के लिये संघर्ष किया।

६२. बोधिसत्व (अफगाणिस्तान)

६३. 'बुध्द - शिल्प'
(खोतान अफगाणिस्तान)

६४. 'योगी' क्विझील
(मध्य अेशिया)

६५. 'नमस्कार मुद्रामे देव'
वाझाक्लिक - (मध्य अेशिया)

ईरान

सुषा नाम पुरी रम्या वरुणस्यापि धीमतः।

दिश्युत्तरायां मेरोस्तु मानसस्यैव मूर्द्धनि।। मत्स्य पुराण ५३.२२ ।।

मत्स्य पुराण में पर्वत के उत्तर में और मानस के मूर्धा में वरुण की 'सुषा' नामक रम्य नगरी है इस प्रकार का उल्लेख आता है। मानस के निकट एवं पश्चिम का और उत्तर का भूप्रदेश पर्वतमय और हिम से मण्डित रहता है। मानस के पृष्ठभाग में और पर्वत के दक्षिण में संयमनपुर है जहाँ वैवस्वत यम का निवास होता है। संभवतः त्रिविष्टप के भूप्रदेश को यहाँ पर संयमनपुर का प्रदेश कहा है। और सुषा नगरी सुसियाना अर्थात इरान के वर्तमान खुज्रिस्तान में है। इस भौगोलिक स्थिति के साथ सूर्य की खगोलिय स्थिति भी पुराणों में स्पष्ट की है।

जिस समय वैवस्वत के संयमन में सूर्य मध्यान्ह की वेला में होता है उसी समय वारुणी (सुषा) नगरी में सूर्योदय होता है।

(वैवस्वते संयमने मध्याह्ने तु रविर्यदा।

सुषायामथ वारुण्यामुत्तिष्ठन् स तु दृश्यते।।)

ईरान के दक्षिण पश्चिम में ऐल वंशीय राजाओं ने अपना उपनिवेश स्थापित किया था जो एक प्रभावी राजसत्ता में परिवर्तित हुआ। ऐल वंश से संबंधित होने के कारण वह 'एलाम कहालाया। एलाम की राजधानी सुषा थी। भारत के प्राचीन ऐतिहासिक ग्रंथों में सुरक्षित पारम्पारिक इतिहास के अनुसार एशिया, आफ्रिका एवं युरोप में प्राचीनतम कालमें प्रथम मन्वन्तर के स्वायंभुव मनु की सन्तान जा पहुँची थी। वहाँ पर स्थानीय मानवसमूहों ने उनका नेतृत्व स्वीकार किया। वहाँ पर उनके ही द्वारा संस्कृति का प्रथम आविर्भाव प्रकट हुआ।

संभवतः यही कारण है कि कतिपय प्राचीन सभ्यताओं के राजाओं की परंपरा ऐसे मूल पुरुष से प्रारंभ होती है जिन के नाम 'मनु' से जुडे हुए है। हिरोडोटस के अनुसार इजिप्त का प्रथम राजा 'मिन' था (Min) था। क्रीट का प्रथम राजा मिनोस (Minos) था जो द्यौस (आकाश) का पुत्र माना गया और उस की मृत्यु के पश्चात उसे देवता का स्थान प्राप्त हुआ। लिडिया में मनस (Manas), फ्रिजिया में मनिस (Manis), जर्मनी में मोनुस (Monus) आदि नाम 'मनु' इस नाम के ही रुप है।

एल्. आर. वॅडेल प्रथम पाश्चात्य संस्कृत पण्डित था जिसने भारत और सुमेर के इतिहास का निकट संबंध स्पष्ट किया। उसका विश्वास था कि पाश्चात्य देशों का प्राचीनतम इतिहास प्राचीन भारतीय ग्रंथों के आधार पर अधिक स्पष्ट होगा। भारतीय ग्रंथ अति प्राचीन काल के राजाओं की वंशावलियाँ प्रस्तुत करते है। दूसरे पाश्चात्य पण्डित पार्गिटर ने पुराणों की वंशावलियों का अध्ययन करके शास्त्रीय पध्दति से इन वंशावलियों को अंग्रेजी में सम्पादित किया।

स्वायंभुव मनु के वंश की दो शाखाएँ चली। एक प्रियव्रत शाखा जिसमें ३५ प्रजापति (राजा) और स्वायंभुव सहित पाँच मनु हुए। दूसरी उन्तानपाद शाखा जिसमें चाक्षुस मनु तथा प्रजापति और राजा हुए। चाक्षुस मनु के दस पुत्र हुए। उसमें पाँच पुत्रोंने मध्य एवं पश्चिम एशिया की सभ्यता का प्रारंभ किया। इन सभी राजाओं के कार्यकर्तृत्व का विस्तृत वर्णन पुराणों में नही है। परंतु जहाँ पर इन पुत्रों ने अपना प्रभुत्व प्रस्थापित किया वहाँ के नाम, स्थानिक गाथाएँ और कुछ अंशतक पुरातत्वीय साधन इस पारम्पारिक इतिहास का महत्व उजागर करते हैं। अत्यराति या अतिरात्र, अभिमन्यु, उर, पुर, और तपोरत इन पुत्रों ने वर्तमान ईरान में अपने राज्य स्थापित किये थे। ऐतरेय ब्राह्मण में उन्हे आसमुद्र क्षितीश कहा है। पश्चिम में आर्द्र सागर (ॲड्रिआटिक) तक उनका शासन प्रस्थापित हुआ था।

अभिमन्यु की राजधानी सुषा में थी। उसे ही 'ओडेसी' काव्य में मन्युपुरी (Cityu of Memnon) कहा है। इस प्रकार एलाम की राजधानी सुषा का ऐतिहासिक संदर्भ वेदकालीन चाक्षुस मनु के काल तक जाता है। पुरातत्वीय दृष्टिसे भी आज तक की प्राप्त प्राचीन राजधानीओं में सुषा के अवशेष प्राचीनतम है। लगभग ४५०० वर्ष पूर्व के अवशेष और अभिलेख प्राप्त हुए है। इस काल में ईरान, इराक, तुर्कस्तान, सीरिया ये सारा भूप्रदेश राजकीय दृष्टि से एक ही था। स्थान स्थान पर कुछ राजनैतिक, सांस्कृतिक और व्यापारी उपनिवेश बने थे जो आगे चलकर शक्तिशाली सत्ता के केन्द्र बने। संभवतः अभिमन्यु का भाई उर एलाम के दक्षिण पश्चिम में गया जहाँ पर दजला एवं फरात की घाटी में उसके नाम पर 'उर' नगर का निर्माण हुआ। आगे चलकर यह बॅबिलोनिया का प्रभावी सत्ताकेंद्र हुआ। लगभग ४५०० वर्षपूर्व के उर के पुरातत्वीय अवशेषों से पता चलता है कि भारत और उर नगर का निरन्तर संबंध था। भारत की मुद्राओं (सिंधु सरस्वती घाटी सभ्यता अर्थात् उत्तर वेदकालीन सभ्यता) का उर में प्राप्त होना भी इसका एक प्रमाण है। उर में नन्ना (चंद्रदेवता) के विशाल मंदिर के अवशेष प्राप्त हुए हैं। तीन मंझिली मन्दिर का तल का अधिष्ठान २१० फूट लंबा और १५० फूट चौडा था। उसपर ४० फूट उंचा चबुतरा बनाकर उपर चंद्रदेवता का गर्भगृह था। संभवतः उर के उस काल के शासक स्वयं को ऐलवंशी या चंद्रवंशी मानते होंगे। उर नगर वर्तमान तेल् एल् मुकय्यार नामक इराक स्थित नगर है।

अभिमन्यु और उर के भाई पुर ने अपने नाम पर 'पुर' नगर का निर्माण किया था। पर्शियन बलुचिस्तान में स्थित वर्तमान फहराज या पहरा के निकट 'पुर' नगर के अवशेष प्राप्त हुए हैं। परन्तु उसका उत्खनन और संशोधन नही हुआ है। ग्रीक लेखक अरायन के अनुसार पुर नगर उर से साठ दिन के प्रवास के अन्तर पर था। यह दूरी लगभग १००० किलोमीटर की होगी। ईरान का और एक प्रांत है तपुरिया अर्थात् वर्तमान मजादिरन् जो संभवतः चाक्षुस मनुका अन्य पुत्र तपोरत के नाम पर वसा था।

भारतीय परम्परा के अनुसार 'यम' सूर्य के पुत्र तथा मनु के भाई थे। वे अपवर्त याने ईरान में गये तब वहाँ प्रलय के कारण मृत्यु लोक बन गया था। अतः यम को मृतकों का देवता या राजा माना गया। ईरान की परम्परा अनुसार वैवस्वत यम (सिम) उनका मूल पुरुष है। यम की इच्छा थी कि वह अहुर मझ्द (असुर महान) का वाहन बने, परंतु अहुर मझ्द ने यम को मनुष्य लोक का निर्माण करने का आदेश दिया। अपने सद्गुणों से यम ने रोग, जरा, मृत्यु, मोह पर विजय प्राप्त करके सुखी सम्पन्न मनुष्य लोक का निर्माण किया। सुर्वण युग का निर्माण किया। फिर अहुरमझ्द ने उसे सूचना दी कि "निकट भविष्य में बर्फप्रलय होगा। असहनीय ठण्डक से सारे जीवजन्तुओं का नाश होगा। अतः शीघ्र ही भूमि के गर्भ में सभी प्राणी वनस्पती, जन्तु, इन के बीज लेकर रहो। अपने सामर्थ्य से वहाँ प्रकाशित रहो।"

अहुरमझ्द की वाणी सत्य हुई। यम ने इस संकट काल में सूचनानुसार मनुष्य लोक का जीवन बचाने का उपाय किया। इस प्रकार मृत्युलोक के श्रेष्ठ देवता का स्थान यम को प्राप्त हुआ। यम ही ईरान के जमशिद अर्थात आदि नरेश है।

ईरान के निवासी जो पर्शियन , पारसीक झोरोआस्ट्रियन कहलाए गये वे मूलतः भारतीय थे। वैदिक धर्म के अनुयायी थे। धर्म संदर्भ के मतभिन्नता के कारण संघर्ष करते हुए वे निष्कासित हुए। निष्कासन के पूर्व भी कतिपय भारतीय वंश ईरान में जा वसे थे और वहाँ पर भारतीय संस्कृति का प्रभाव निर्माण हो गया था। जो निष्कासित हुए उनका वर्तन और वाणी भ्रष्ट थी। वे भी यज्ञ करते थे परन्तु उच्चारण में भ्रष्टता थी। पणि, असुर, ईरानी आदि को ऋग्वेद में अनास याने जिन्हे मुख नही और मृध्र वाच अर्थात जिन की वाणी विकसित नही हुई ... कहा है। ऐसी स्थिती में ईरान में एक नवीन सम्प्रदाय ने जन्म लिया। वैदिक संस्कृति ही इस सम्प्रदाय का अधिष्ठान था। जरथुष्ट्र के पूर्व ईरानी ३३ देवताओं को मानते थे परन्तु उनके मन्दिर नही थे। अहुर अर्थात असुर प्रमुख देवता थे, तो मिथ्र अर्थात् मित्र उसके सहाय्यक देवता थे। ऋग्वेद में 'ऋत्' शब्द का प्रयोग है जो सत्य एवं धर्म का सूचक है। 'अश' (अर् - अर्त - ऋत) के रुप में यही ऋत की कल्पना थी। उपासना विधि से सम्बन्धित कतिपय शब्द वैदिक शब्दों के सदृश है।

जैसे होम (सोम), जौतर (होतृ), अथ्रवन (अथर्वण), मन्थ्र - (मन्त्र) आजूइति (आहूति), यस्न (यज्ञ) इत्यादि ।

जरथुष्ट्र -

पारशी धर्म का प्रचलन 'जरथुष्ट्र' ने किया। उनका जन्म आर्यमन वीजो (वर्तमान अझर बेजान) प्रांत में उर्मिया सरोवर के निकट इसी नाम से विख्यात स्थान पर हुआ। यह वही प्रदेश है जहाँ पर प्राचीन काल में मतभिन्नता के कारण निष्कासित भारतीय वसे थे। जरथुष्ट्र ने पंदरह वर्ष की आयु में अपनी शिक्षा समाप्त की और पश्चात् पदंरह वर्ष अशुभ शक्तियों के साथ मानसिक युध्द करने में व्यतीत किये। यह उनकी बुध्द एवं महावीर समान तपस्या थी जिसके पश्चात् उन्हे तीस वर्ष की आयु में सबलान पर्वत पर ज्ञानप्राप्ति हुई। उन्हे अहुर मझ्द एवं उनके सात ऋषियों (अमेशस्पेन्तों) के साक्षात् दर्शन हुए। प्रथम दस वर्ष उन्होने अपने मतका प्रचार पश्चिम ईरान में करने का प्रयास किया परन्तु अंग्रमन्यु (अहिरमन) के विरोध के कारण वे सफल नही हुए। अंग्रमन्यु याने अशुभ शक्तियाँ। फिर उन्होंने पूर्व ईरान में भ्रमण किया जहाँ पर कांपे विश्तास्प राजा उन का शिष्य बना। राजाश्रय के कारण जरथुष्ट्र का पंथ वृध्दिगंत होने लगा। जरथुष्ट्र का काल एवं उनकी मृत्यु के संदर्भ में मतभिन्नता है। जनश्रुति के अनुसार आक्रमणकारिओं ने उन की हत्या कर दी।

जरथुष्ट्र ने मूर्तिपूजा का निषेध किया और केवल 'अग्नि' की उपासना प्रचलित की। उनके मन्दिर में एक उँची वेदी पर पवित्र अग्नि प्रज्वलित रहती थी। प्रज्वलित अग्नि में पुजारी को दिन में पाँच बार सुगन्धित द्रव्य डालने होते थे। प्रत्येक घर में पवित्र अग्नि प्रज्वलित रखना, उसकी शुध्दता तथा पवित्रता को कठोरता से रखना यह अग्नि उपासना का प्रमुख अंग था।

अवेस्ता -

अवेस्ता प्राचीन ईरान की भाषा थी। लिपि सेमेटिक परन्तु यह भाषा व्याकरण, शब्द सम्पत्ति, शुध्दलेखन पध्दति और वर्णोच्चार की दृष्टि से पूर्णतः संस्कृत थी। जरथुष्ट्र के द्वारा प्रवर्तित धर्म के तत्वों और सूत्रों का संग्रह अवेस्ता ग्रंथ में है। इसे झेन्द अवेस्ता कहा जाता है। झेन्द याने विवरणात्मक छन्द (भाष्य) । यज्ञ विधि, उपासना विधि, गृह्य संस्कार इनके संदर्भ के मन्त्र और उनका निरुपण और देवताओं के स्तोत्र 'यस्न' विभाग के ७२ अध्यायों में है। विस्परत नामक विभाग में २३ अध्याय है, विस्परत याने विभूति या श्रेष्ठ पुरुष। यस्न में २२ सूक्त है जिसमे पौराणिक इतिहास और मित्र, मेहेर तथा जलदेवताओंके प्रशस्ति सूक्त है। वेंदिदाद में २२ अध्याय है जिसमें आसुरी शक्तियों का दमन, कृषिकर्म, आदि विषय तथा अहुर मझ्द और

जरथुष्ट्र का प्रश्नोत्तर रुप में संवाद ग्रथित है। खोर्दाद अवेस्ता में नित्य दैनंदिन उपासना हेतु संग्रहित स्तोत्र और वचन है। संस्कृत और अवेस्ता भाषा में इतना साम्य दिखाई देता है कि मानो एकही भाषा हो। वेंदिदाद का एक वचन है "यो यओम् कारयेइतिः अषॅम कारयेइति" इसका संस्कृत अनुवाद होगा "यो यवं किरति सो ऋतं किरति।"

वर्तमान में अवेस्ता का अंश मात्र भाग उपलब्ध है। ग्रीक और मुस्लिम आक्रमणों के कारण मूल ग्रंथ नष्ट हुआ। राजा विश्तास्प ने ग्रंथ की एक प्रति पर्सेपोलीस के राजभवन में और दूसरी समरकन्द की अग्यारी (अग्नि मंदिर) में रखी थी। अलेक्झांडर के आक्रमण में उनका नाश हुआ। मुस्लीम आक्रमकों ने तो जहाँ पर भी अवेस्ता ग्रंथ दिखाई दे उसे जला डालने का फर्मान निकाला था। पारशी समाज का अस्तित्व ही ईरान से मिटाकर उन्होंने ईरान को मुस्लीम देश बना दिया।

मग ब्राह्मण -

ईरान में 'मग' नामक एक और जाति प्राचीन काल में थी। मीडिया स्थित यह जाति ईरान में फैली। मग जाति में मग (ब्राहमण) मगग (क्षत्रिय) गानग (वैश्य) और मंदग (शूद्र) इस प्रकार चतुर्वर्ण थे। वे सूर्योपासक थे। वेद जानते थे। भविष्य पुरान के अनुसार जम्बुद्वीप के परे शकद्वीप उनका निवास स्थान था। वे पुण्य कर्म में रत और चातुर्वर्ण्ययुक्त थे। सूर्योपासना के पौरोहित्यपर मग ब्राहमणों का अधिकार था। महाभारत में उल्लेख है कि श्रीकृष्णजी के पुत्र साम्ब १८ मग पुरोहितों को सूर्योपासना के हेतु भारत में लाये थे। उनके द्वारा उपासना करने के पश्चात् सूर्य की कृपा से साम्ब का दुर्धर रोग नष्ट हुआ।

ये सभी मग पुरोहित अविवाहित और युवा थे। भोजक कन्याओं से उनके विवाह कराये गये। उनकी संतति भोजक कहलाई गयी। मग अग्निहोत्री थे और अव्यंग (यज्ञोपवीत) धारण करते थे। मग अगर शाकद्वीपीय ब्राह्मण थे तो वहाँ पर कहाँ से गये यह भी अज्ञात है। परन्तु वे जलमार्ग एवं भू मार्ग से भारत में आते रहे । पंजाब में रावी के तटपर मुलतान (मूलस्थान) में उनकी अच्छी संख्या थी। वे सांस्कृतिक दृष्टि से प्रभावी थे। वहाँ के सूर्यमन्दिर का निर्माण उनका ही कार्य था।

भारत में मगों का अस्तित्व प्राचीन कालसे होगा। मगध अर्थात कीकट उनका निवास स्थान था। ऋग्वेद में उनको हीन जाति के कहा गया। वैदिक काल में उनका समावेश करना आवश्यक हो गया तब उनको चातुर्वण्य में समाविष्ट करने के लिये संभवतः व्रात्यस्तोम विधि का निर्माण हुआ। ईरान में मग जाति का प्रभाव था। उनका धार्मिक वर्तन और देवताओं से निकट

सम्बन्ध इसके कारण समाज में उनके लिये श्रध्दा और आदर था। जब जरथुष्ट्र का सम्प्रदाय वृध्दिंगत हुआ तो मग इस ईरानी सम्प्रदाय के पुरोहित बन गये।

मीडिया का उत्कर्ष -

कलियुगाब्द की दूसरी सहस्त्राब्दी के प्रारंभ में ही भारतीयों के अनेक ईरानी उपनिवेश स्थापित हो गये थे। अनेक शाखाओं में वे विभाजित हो गये थे। ईरान के उत्तर पश्चिम भाग में हमदान के परिसर में मीडिया का भूप्रदेश है जहाँ पर भारतीयों की एक शाखा जा वसी थी। यह प्रदेश असीरिया के निकट था। निरंतर आक्रमणों का सामना करना पडता था। उत्तर में उर्मिया सरोवर, पश्चिम में जगरोस पर्वतमाला और पूर्व में एल्बुर्ज पर्वत ये मीडिया की सीमाएँ थी। वर्तमान अझरबेजान (प्राचीन आर्यनम् वीझो) और कुर्दिस्तान मीडिया में था। कलियुगाब्द १९०० (ख्रि. पू. १२००) के लगभग भारतीय मीड जाति इस प्रदेश में आयी होगी। प्रारंभ में असीरिया के प्रभाव को, उन्हे स्वीकार करना पडा।

कलियुगाब्द २३७३ (ख्रि. पू. ७२७) में देवशीष प्रथम (Deioces I) के नेतृत्व में मीडिया का शासन प्रभावी होने लगा। यद्यपि असीरियन संस्कृति का प्रभाव था मीड भाषा संस्कृत से मिलती जुलती थी। ईरान एवं भारत से भी सम्पर्क रहा होगा। देवशीष ने हमदान में राजधानी स्थापित की। उसका पुत्र फ्रवर्तिस (Phraortes) कलियुगाब्द २४२ (ख्रि. पू. ६७५) में उत्तराधिकारी हुआ। उसीका अन्य नाम है क्षत्ररित या अश्वरथ। उसने कम्मरिअन और सिथिअन् सत्ताओं को पराजित करके एक शक्तिशाली राज्य संघ का निर्माण किया। परंतु निनेव्हे के युध्द में उसकी मृत्यु हुई। उसके पश्चात २८ वर्ष मीडिया पर सिथिअन सत्ता थी। उसके अनन्तर अश्वरथ का पौत्र उवक्षत्र ने मीडिया की बिखरी शक्ति को संघटित किया। ईरानी जातियों को एक सूत्र में लाकर सिथिअन् प्रभुसत्ता से मुक्त किया। फिर खाल्डियन नरेश नेबोपोलस्सर के साथ मित्रता करके असीरियन सत्ता को पराजित करके नष्ट कर दिया। लिडिया के साथ पाँच वर्ष युध्द चल रहा था। अन्ततः संधि हुई। लिडियन राजकन्या का विवाह मीडिया का राजकुमार आस्तिगस् (Astyges) के साथ कर दिया गया।

उत्तरी मेसोपोटानिया, पूर्व असीरिया, अर्मेनिया, अझरबैजान, कॅस्पिअन सागर का दक्षिण व पूर्व तटवती प्रदेश और मध्य ईरान एवं मध्य तुर्कस्तान ... इतने विशाल ईरानी साम्राज्य का निर्माण उवक्षत्र ने किया। उवक्षत्र के उत्तराधिकारी में महान् ईरानी साम्राज्य सँभालने की क्षमता नही थी। अन्सास का अधिपति कुरुस द्वितीय ने कलियुगाब्द २५५१ में (ख्रि. पू. ५५० में) मीडियन नरेश इश्तबेगु को पराजित करके मीडिया की सत्ता नष्ट की। पश्चिम

एशिया में एक महान् ईरानी सत्ता अचानक उभरी थी वह अल्प काल में ही इस प्रकार अचानक नष्ट हुई।

परशु (पार्शियन) राष्ट्र का उत्कर्ष

ईरानी भारतीयों की अनेक शाखाएँ ईरान में भिन्न नाम से विख्यात हुई थी। प्राचीन इतिहासकार हिरोडोटस के अनुसार पासर्गदी (Pasargadae), देऊशियन, पेशापियन, मरफिअन, पेन्थिली (पन्थालि) आदि जातियों के कबीले थे। इनका नियन्त्रण सात परिवारों के हाथ में था। इनमें पासर्गदी कबीले का हखामनीषि (सखा मनीषि) परिवार प्रतिष्ठित एवं महत्त्व पूर्ण परिवार था। एलम् के पूर्व परशु (Faras - फारस) प्रान्त में इन जातियों का निवास था जिस के कारण ईरान का 'फारस' नाम पडा।

प्रथम नरेश हखामनीषि राजवंश का एवं हखामनीषि राज्य का संस्थापक था। प्रथम वह एलम की सत्ता के अधीन था। असीरिया के साथ जब एलम का संघर्ष हुआ तब एलम की शक्ति घट गयी जिसका लाभ उठाकर हखामनीषि ने अपने स्वतंत्र राज्य की घोषणा की कलियुगाब्द २४२६ (ख्रि. पू. ६७५)। उसके पश्चात् कम्बुजिय (Cambyses) प्रथम ने मीडिया की राजकुमारी से विवाह किया जिससे हखामनीषि वंश की प्रतिष्ठा को मान्यता मिली। कम्बुजिय का उत्तराधिकारी कुरुष (Cyrus) द्वितीय साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक हुआ। राज्यभिषेक के पश्चात् शीघ्र ही उसने अपनी शक्ति बढा ली। मीडिया के साथ संघर्ष छोडा। मीडिया के विशाल साम्राज्य के कतिपय असंतुष्ट सरदारों का सहयोग प्राप्त कराके वह मीडिया के सिंहासन पर आरुढ हुआ। लिडिया पर अचानक आक्रमण करके उसने लिडिया की राजधानी सारदीस पर अधिकार किया। लिडिया हखामनीषि साम्राज्य का एक प्रांत और मिडिया नरेश कुरु की राजसभा का सन्माननीय सभासद मात्र बन गया।

एशिया मायनर (तुर्कस्तान) के पश्चिमी तटवर्ती प्रदेश में युनातियों के समृध्द उपनिवेश थे। उनमें एकता नही थी। व्यापार की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण प्रदेश था। व्यापारी तो किसी भी सत्ता को स्वीकार करने की मानसिकता रखते थे। कुरु ने युनानी उपनिवेश अपने अधीन कर लिये। इरान के उत्तरपूर्व में पार्थिया से आक्रमण होते रहते थे। कुरु ने पार्थिया जीत कर वहाँ एक राजपुत्र विश्तास्प को शासक नियुक्त किया। फिर बॉक्ट्रिया को अपने अधीन करके काबुल नदी की घाटी का प्रदेश साम्राज्य में समाविष्ट किया।

काबूल से लेकर थ्रेस अर्थात् पूर्वी युरोप तक के विशाल साम्राज्य का निर्माण यह कुरु का अद्वितीय कार्य था। इस काल में बॅबिलोन के सिंहासन पर पुरातत्व प्रेमी नबोनिदस था। उसने यहुदिओं को बडी मात्रा में बन्दी बनाया था। मर्दुक देवताओं का पुजारी वर्ग राजा के अत्याचार

व औध्दत्य से त्रस्त था। असंतुष्ट बॉबिलोनवासियों ने कुरु को आमन्त्रित किया। कुरु का वर्तन बिलकुल भारतीय संस्कृति के अनुरुप रहा।

कलियुगाब्द २५६४ (ख्रि. पू. ५३७) में कुरु ने त्राता के रुप में बॅबिलोन में प्रवेश किया। उसका व्यवहार सहिष्णुत्व एवं औदार्य पूर्ण था। बॅबिलोन के देवता बेलमर्दुक के मन्दिर में जाकर उसने देवता की अर्चना की। फिर 'बॅबिलोन-नरेश' उपाधि धारण की। यहुदियों को फिलिस्तिन में स्वदेश लौटने की आज्ञा दी। जेरुशलेम का उनका पवित्र मन्दिर भ्रष्ट किया गया था। मन्दिर का पुनर्निर्माण कराने की व्यवस्था की। इतिहास में यह एक मात्र नरेश दिखाई देता है जिसने यहुदियों के भावनाओं का आदर किया।

कुरु अब मिश्र विजय की योजना बनाना चाहता था। परंतु कश्यप (कॅस्पिअन) सागर के तट पर एक युध्द में रणक्षेत्रपर ही उसकी मृत्यु हुई। सम्पूर्ण पश्चिम एशिया, जिसका क्षेत्रफल ३२ लाख ६० हजार वर्ग किलोमीटर के लगभग रहा होगा इरानी साम्राज्य में समाविष्ट था। कुरु के पश्चात् कम्बुजिय द्वितीय ने मिश्र पर विजय प्राप्त किया परंतु अपने उध्दट और छद्म स्वभाव के कारण वह असहिष्णु एवं अत्याचारी हुआ। उसकी हत्या हुई। पर्शिया के सरदारों ने धारयद्वसु प्रथम जो विश्तास्प का सद्‌गुणी एवं प्रतापी पुत्र था उसे सम्राट पद दिया। अपने प्रशासकीय एवं सैनिकी योग्यता के व संगठन शक्ति के कारण वह महान हखामनीषि सम्राट कहलाया गया। उसने गांधार की सीमा उल्लंघन करके भारत के सिंध और पञ्जाब प्रान्त को भी अपने अधीन किया। वह स्वयं को आर्य श्रेष्ठ कहलाता था। उसके अभिलेख में वह कहता है,

"मैं दारियस, महान राजा .... राजाओं का राजा ... सभी मानव वंशों के भू प्रदेशों का स्वामी ... प्रदीर्घ काल में इस पृथिवी का सम्राट ... मैं विश्तास्प का पुत्र ... मैं हखामनीषि वंशी ... मैं पर्शियन ... पर्शिया का सुपुत्र ... आर्य वंशीयों में श्रेष्ठ आर्य"

हखामनीषि वंश में महान् दारियस के पश्चात् क्षयार्ष, दारियस द्वितीय आदि नरेश हो गये। कलियुगाब्द २७७१ (ख्रि. पू. ३३०) दारियस तृतीय के काल में ग्रीक विजेता महान् अलेक्झांडर के आक्रमण से यह आर्य राज्य नष्ट हो गया। अलेक्झांडर के पश्चात् कुछ काल के बाद सेल्युकस निकेतर ने ग्रीक साम्राज्य का वारसा प्राप्त किया। लगभग ५० साल तक सेल्युकस के वंश ने राज्य किया। उसके बाद लगभग ५०० वर्षो तक आरसासिडी वंश का राज्य था। वे पार्थियन थे और सांस्कृतिक दृष्टि से उनपर ग्रीक संस्कृति का प्रभाव था। इस काल में ईरान में मग प्रणीत सूर्योपासना और अहुर मझ्द एवं अग्नि की उपासना अविछिन्न रही। परन्तु ग्रीक संस्कृति का प्रभाव रहा।

ससानिडी वंश का राज्य -

ईरान की हखामनीषि काल की राजधानी पर्सेपलिस में 'अनहित' देवता का मंदिर था। देवता के पुजारी का पुत्र बबेक ने एक छोटी जागीर प्राप्त की थी। बबेक के वंश का अर्दशिर प्रथम प्रतापी एवं कर्तृत्ववान था। अल्पावधि में उसने छोटे राज्यों को जीत कर एक सामर्थ्यशाली राज्य का निर्माण किया। उसके सम्मुख हखामनीषि वंश के महान् सम्राटों का आदर्श था। कलियुगाब्द ३३४६ (ख्रि. २४४) मे उसने दिग्विजय का आरंभ किया। एक अभिलेख में उसके दिग्विजय का वर्णन हैं।

अनहित देवता के पुजारी का नाम ससान था अतः अर्दशिर का वंश ससानिडी वंश नाम से विख्यात हुआ। जरथुष्ट्र का सम्प्रदाय और विद्वान मग ब्राहमणों का संघटन ईरानी समाज की एकता का आधार था। ससानिडी सम्राटों ने यह आधार दृढ रखनेका प्रयास किया। उत्तर पूर्व से जंगली कबीलों के आक्रमण का धोखा नित्य रहता था। विशेषतः श्वेत हूणों के आक्रमण भयङ्कर थे। ऐसी स्थिति में ईरानी राज्य और संस्कृति का रक्षण करनेवाला महान् राजा था खुसरो अनुर्शिवन (कलियुगाब्द ३६३३ - ३६८१ ख्रि. ५३१ - ५७९) । ईरान की ईशान्य सीमापर दुर्गों की शृंखला का निर्माण करके हूणों के आक्रमण का स्थायी प्रतिकार करनेकी योजना और पूर्व एवं पश्चिम सीमापर संरक्षक तटबन्दी उसका महत्वपूर्ण कार्य था। वह न्यायी प्रजापालक था। जरथुष्ट्र के सम्प्रदाय को उसने राष्ट्रीय धर्म का स्वरुप दिया।

ससानिडी वंश का प्रभुत्व लगभग ४०० वर्ष तक था। हूण आक्रमण, आंतरिक संघर्ष, मिश्र के साथ संघर्ष इस प्रकार की स्थिती और विशाल साम्राज्य को संभालने की अंतिम राजाओं की अकार्यक्षमता इस का स्वाभाविक परिणाम था साम्राज्य का विघटन और पतन। मीडिया के राज्य की स्थापना से लेकर लगभग एक सहस्त्र पाँच सौ वर्ष की इतिहास तथा संस्कृति की परम्परा ईरान को प्राप्त हुई थी। फिर भी कलियुगाब्द ३७ (ख्रि. ७) वी शती में जब मुस्लिम आक्रमण हुआ तब उससे संघर्ष करने की क्षमता ईरान खो चुका था। मध्य एवं पश्चिम एशिया के अनेक राष्ट्रों के समान ईरान भी आत्मविस्तृत होकर मुस्लिम राष्ट्र बन गया।

भारत के आश्रय में पारशी समाज -

मुस्लीम आक्रान्ताओं के पाशवी आक्रमण के साथ धर्मांतर आरंभ हुआ। बहुसंख्य ईरानी धर्मांतरित हो गये। कुछ धर्मनिष्ठ पारशी खोरासान की पहाडी में निष्कासित हुए। एक सौ वर्ष तक अपने धर्म का रक्षण करते रहे। अंतिमतः जलमार्ग से अपना देश हमेशा के लिये छोडकर भारत आये। गुजरात के संजान बंदरगाह पर उतरे जहाँ यादव नरेश जदिराणा शासक था।

निर्वासित पारशीओं का मोबेद (धर्मगुरु) जदिराणा के पास गया और उसने संजान में आश्रय देने की प्रार्थना की।

राजा ने जब उनके धर्म तथा आचार के सम्बन्ध में पूछा तो धर्मगुरु ने बताया, 'हम सूर्य, चंद्र, जल और अग्नि के पूजक है। और कस्ती (यज्ञोपवीत) पहनते है।'' जदिराणाने चार शर्ते रखी १. वे संजान की भाषा का स्वीकार करें २. उनकी स्त्रियाँ हिन्दु स्त्रियों का वेष धारण करें, ३. वे अपने पास कोई हथियार ना रखे और ४. अपने विवाहकार्य वे रात के समय करें।

स्वाभाविकतः पारशी समाज ने शर्ते स्वीकार की। अपना प्रथम मन्दिर संजान में खडा किया। अपने आगमन की स्मृति में 'अग्नि स्तम्भ' का निर्माण किया।

तुर्कस्तान

हत्तुसस -

कलियुगाब्द १८ वी (खि.पू.१४) वी शती की तुर्कस्तान की प्राचीन पाषाण नगरी हत्तुसस। आज भी उस के खण्डहर देखते ही एक अद्‌भुत नगरी अपने अतीत को साथ लिये आँखे के सम्मुख साकार होती है। सागर से ३००० फूट उँचे पठार पर स्थित हत्तुसस नगरी लगभर १२० हेक्टर के विस्तीर्ण क्षेत्र में फैली हुई थी। सव्वा दो किलोमीटर लंबी और एक किलोमीटर से अधिक चौडी प्राचीर के खण्डहर आज भी उस प्राचीन राजधानी के भव्यता के साक्षी है। प्राचीर की दीवार नीचे चौडी मिट्टी के कोट पर विशाल पाषाणखण्ड रखकर बनाई गयी थी जो साढे पाँच किलोमीटर लंबी थी। इस प्रमुख प्राचीर के समानान्तर बीस फूट दूरीपर दूसरी लघु प्राचीर थी। प्रमुख प्राचीर के प्रत्येक ३२ मीटर की दूरी पर प्रहरी बुर्ज़ बने हुए थे। दोनो प्राचीरों पर सौ, सौ फूट की दूरीपर चतुर्भुज तोरण बने थे।

नगरी में प्रवेश करने हेतु पाँच विशाल प्रवेशद्वार थे। प्रमुख द्वारों के पार्श्व में द्वार संरक्षक की मूर्ति पाषाण में उत्कीर्ण है। संभवतः यह नगरी का संरक्षक देवता है। सभी द्वारोंपर द्वारपाल उत्कीर्ण है। उन के साथ ही सिंह एवं योध्दाओं के उमडे चित्र हैं। प्राचीर में कुछ जगहों पर ऐसे गुप्त द्वार भी बनाये थे जिनका उपयोग शत्रुओं पर अचानक आक्रमण करने के लिये होता था। नगर में विशाल भवन एवं मन्दिर बनाये हुए थे।

हिट्टाइट नरेश प्रथम हत्तुसिलिस ने इस राजधानी का निर्माण किया। साम्राज्य काल में नगरी समृध्द होती गयी। प्राचीरे बनवाकर सुरक्षितता प्राप्त करने के साथ ही हिट्टाइट स्थापत्य और कला का आविष्कार प्रकट होता गया। नगर में पाँच प्रमुख मन्दिरों का निर्माण हुआ। उस में 'याज़िलिकया' देवी का मन्दिर विशेष महत्व का दिखाई देता है। पाँच सौ वर्गमीटर का प्राङ्गण...उस के चारो ओर लघुकक्ष...एक और गर्भगृह और गर्भगृह की ओर जानेवाली दीर्घाएँ थी। ये विशाल दीर्घाएँ एक दूसरे के सम्मुख आकर मिलती थी। एक दीर्घा में देवियों की पंक्ति चलती हुई दिखाई देती है जिस का नेतृत्त्व सिंहवाहिनी मातृ शक्ति कर रही है। दूसरी दीर्घा में एक के पीछे एक देवता चल रहे हैं। देवताओं का नेतृत्त्व संभवतः'सेब' देवता अर्थात् शिव कर रहे है। एक हाथ में गदा और दूसरे हाथ में धर्मचिन्ह है। इन दो प्रमुख दीर्घाओं के अलावा अन्य दीर्घाओं में सहस्त्रो देवियों और देवताओं को पंक्ति बध्द रूप में चलने की मुद्रा में उत्कीर्ण किया

हुआ है। सिंह पर खडी देवियाँ, द्विमुखी चील पर खडी देवियाँ, परशुधारी देवता, और किरीट धारी पशु, इन की कतिपय मूर्तियाँ यहाँ पर उत्कीर्ण है।

सम्पूर्ण दृश्य एक आभास निर्माण करता है कि संभवतःशिव और पार्वती के विवाह जैसा हिट्टाइट देवता सेब (शिव) व सिबेले (अम्मा-अम्बा) के विवाह का यह दृश्य है, यद्यपि ऐसा कोई हित्ती आख्यान अभी तक तो नही मिला।

भारतीयों का पश्चिम की ओर संक्रमण -

वर्तमान तुर्कस्तान का अतीत भारतीय संस्कृति से जुडा हुआ है। तुर्कस्तान का शुध्द संस्कृत नाम तुरग-स्थान है। 'तुरग' अर्थात् अश्व। अश्व संस्कृति का प्रथम आविर्भाव मध्य एवं पश्चिम एशिया में कस्साइट, मिलान्नि, हिट्टाइट इन भारतीय जातियों ने किया। बॅबिलोन में भी अश्व अज्ञात था। बॅबिलोनि सम्राटों के रथ में बैल जोते जाते थे। उन्हो ने जब अश्व देखा तो उन की प्रथम प्रतिक्रिया थी "यह तो पर्वतीय गधा है।" हम्मुराबी के एक अभिलेख में इस का उल्लेख है। तुर्कस्तान को ही अनातोलिया कहा जाता था। यही एशिया मायनर हैं। अनातोलिया युनानी नाम है। तुर्कस्तान का क्षेत्रफल ७ लक्ष ८० सहस्त्र ५७६ वर्ग किलोमीटर है। भौगोलिक दृष्टि से यह प्रायद्वीप हैं। पश्चिम में ईजियन प्रदेश से लेकर पूर्व में भारत तक फैली हुई विशाल पर्वतशृंखला है। तुर्कस्तान उस का पश्चिमी अंग है। उत्तर में काला सागर है तो पश्चिम एवं पश्चिम दक्षिण में मध्य सागर है। दक्षिण में आधी सीमा भूमध्य सागर तट से जुडी हुई है तो आधी सीमा सीरिया और इराक से संलग्न है। पूर्व में रूस और ईरान है। यह लगभग १४०० किलोमीटर लम्बा और ५६० किलोमीटर चौडा आयताकार प्रायद्वीप है।

एशिया और युरोप की यह संयोगभूमि है। दोनो खण्डों के देशों को जोडने वाला यह प्राचीन राजमार्ग ही है। स्वाभाविकतः एशिया एवं युरोप के इतिहास में तुर्कस्तान की महत्वपूर्ण भूमिका रही। तुर्कस्तान का उत्तर पश्चिम का २३,७२० वर्ग किलोमीटर का भूप्रदेश युरोप खण्ड में आ जाता है जिसे ट्राकाई या थ्रेस कहा जाता है। प्राचीन इतिहास में तुर्कस्तान के मध्य का भूप्रदेश जहाँ अनातोलिया का पठार है संस्कृति का केन्द्र रहा। कलियुगाब्द प्रथम अर्थात् ख्रि.पू. तीसरे सहस्रक में अनातोलिया में स्थानिक जनजातियाँ कौनसी थी यह ज्ञात नही है। भारतीयों का आगमन लगभग चार हजार वर्ष पूर्व हुआ। हिट्टाइट ना तो सेमेटिक थे ना मोंगोलॉइड। कुछ विद्वान उन के जीवन शैली में आर्मेनाइड तत्व देखते हैं। परन्तु ईरानी तत्त्व आर्मेनाइड से अधिक है।

पश्चिम एशिया में भारतीय उपनिवेश -

हिट्टाइट शब्द हत्ती शब्द का अंग्रेजी रूप है। हत्ती याने खत्ती या खत्री जो क्षत्रिय तत्त्व को व्यक्त करनेवाला शब्द है। भारत में आज भी क्षत्रिय जाति अनेक स्थानों पर खत्ती या खत्री

कहलाती है। प्राचीन काल में भारत में अपने मूल निवासस्थान अर्थात् सप्तसिंधु से कितनेही निष्कासित लोग (आर्य अर्थात् भारतीय) पश्चिम दिशा में जा फैले थे। उन के भ्रमण का भूमिमार्ग अफगानिस्तान और इरान होता हुआ प्राचीन अनातोलिया में पहुँचता था। इसी मार्ग से जा कर भारतीयों ने अपने उपनिवेश विभिन्न स्थानों पर स्थापित किये। यह भ्रमण प्रक्रिया शताब्दियों तक चलती रही। स्थानिक जनजाति के साथ कभी संघर्ष हुए तो कभी दो जीवनपध्दतियों के मिलन से नवीन उपनिवेश (नगरराज्य) का निर्माण हुआ। कभी विजातियों के आक्रमण से जहाँ तीन चार सौ वर्ष रहे वह स्थान भी छोडना पडा। कभी भारत से निकल पडे थे तब विशुध्द भारतीय संस्कृति थी। भ्रमण काल में पीढ़ी दर पीढी कितने ही परिवर्तन होते गये। मूल भाषा का संस्कार होते हुए भी नयी स्थानिक भाषाओं का प्रभाव-अपनी श्रध्दाएँ और तत्वों के साथ ही कतिपय जनजातियों की श्रध्दाओं से परिचय व उन का स्वीकार, इच्छा हो या ना हो परन्तु पर्यावरण एवं जलवायु आदि से स्वयं को अनुकुल बनाते हुए आता हुआ परिवर्तन... जहाँ वहाँ की परम्पराओं का आदर करते हुए अपनी सुसंस्कृत परम्परा के साथ उन्हें जोडने का प्रयास...नवीन विश् (उपनिवेश) वसाना...उस की व्यवस्थाएँ...स्थानिक जाति को साथ लिये शासन व्यवस्था का निर्माण...कुछ अनुकुलता...प्रायः ...विरोधकों के साथ संघर्ष...ऐसी कितनी अवस्थाओं से पार होते हुए भारतीय पश्चिम दिशा में भ्रमण करते रहे और बस्तियाँ बसाते रहे।

कस्साइत, मित्तन्नि, फ्रीजियन, लिडियन ये नाम ऐसे भारतीय उपनिवेश निर्माणकर्ताओं का ऐतिहासिक परिचय है। हिट्टाइट देवता और उन के मन्दिरों की रचना व व्यवस्था अवलोकन करने के बाद एच.आर. हॉल ने उस की पुस्तक 'एन्शंट हिस्टॉरी ऑफ द नियर ईस्ट' मे लिखा:

"At Yasilikaya and a Maltiya, the Hittite deities are often accompanied by animals in quite Indian fashion and some times stand upon them, It may be that it was a feature of Anatolian iconography borrowed from Aryan religion."

हत्ती देवता यजिलीकाय में तथा मालातिय में प्रायः भारतीय शैली में पशुओं के साथ दिखाए जाते है। कभी कभी पशुओं पर सवार भी दिखाए जाते है। संभवतः यह अनातोलीय प्रतिमा विज्ञान की परम्परा आर्य धर्म से ली गई। हिट्टाइट देवी का वाहन सिंह है।

लगभग ३७५० वर्ष पूर्व हिट्टाइट इस प्रकार से प्रभावित होने के लिये भारत में तो नही रहे होंगे। उस के भी पूर्व उन के पूर्वज ही भारत से आये थे यह मानना अधिक स्वाभाविक लगता है। कस्साइत और मितान्नि के संदर्भ में पाश्चात्य विद्वान इससे आत्मविश्वासपूर्ण विधान करते है। हॉल महोदय ने उन के बारे में लिखा है,

They (Kassites and Mitanni) were evidently the advance guard of the Indo-European southern movement, which colonised Iran and pushed west ward to the borders of Asia Minor"

(इरान में अपने उपनिवेश स्थापित कर के पश्चिम में एशिया मायनर की सीमा पर जो आर्य (इंडो-युरोपियन अर्थात् भारतीय) जा पहुँचे उनके 'कस्साईट और मितन्नि' अग्रदूत थे।)

आर्यों के मूल स्थान के संदर्भ में पिछली शती में प्राच्य विद्या पण्डितों ने काफी चर्चा की थी। कही मध्य एशिया या अनातोलिया में मूलतः 'इंडो युरोपियन' भाषा बोलनेवाली एक समान जाति थी जिसे उन्हो ने 'आर्य' नाम दिया। यह आर्य जाति युरोप एवं एशिया में फैली। यही आर्य जाति फिर भारत में भी आक्रमक के रूप में प्रविष्ट हुई। मॅक्स मुल्लर जैसे जगन्मान्य विद्वान के नाम पर यह 'आर्य सिध्दान्त' प्रचलित हुआ। भारत की सहस्त्रों वर्षों की सांस्कृतिक परम्परा, विश्व के प्रथम ज्ञान कोश अर्थात ऋग्वेद की ऐतिहासिकता और प्राचीनता, भारत का युगों का पुराणों में एवं महाभारत में उपलब्ध इतिहास, अनेक विभिन्न भाषाएँ, उपासना पध्दति होते हुए भी एक सूत्र में बाँधा हुआ खण्डप्राय भारतवर्ष का सहस्त्रों वर्षों का अक्षुण राष्ट्रजीवन...इन सारी वास्तविकताओं पर एक अशास्त्रीय सिध्दान्त ने प्रश्न चिन्ह की मुहर लगा दी।

परन्तु स्वयं मॅक्समुल्लर जो अपने को मोक्षमुल्लर कहलाने में गौरव का अनुभव करते थे आर्यों के, भारत से पश्चिम की और संक्रमण के सिध्दान्त को मानते थे। ईरान में आर्य भारत से गये इस में उन्हे कोई संदेह नही था। उन की पुस्तक सायन्य ऑफ लॅग्वेज में उन्हों ने लिखा,

"The Zoroastrians were a colonyfrom Northern India. They hadbeen together for a time with the people, whose sqcred songs have been preserved to us in the Veda. A schism took place and the zoroastrians migrated westward to Arachosia and Persia."

जरथुस्त्रवादियों की बस्ती उत्तरी भारत से आये हुए लोगों का उपनिवेश था। वेदिक लोगों के ही साथ कुछ काल के लिये रहे मतभेद के कारण निष्कासित होकर वे (आर्य) पश्चिम दिशा में अराकोसिया और पर्शिया में जा कर बसे।")

पश्चिम एशियामें हिट्टाइट उपनिवेश का प्रथम ऐतिहासिक संदर्भ लगभग कलियुगाब्द १३५१ (खि.पू. १७५०) का है। उस समय यह उपनिवेश एक नगरराज्य के रूप में था। बॉबिलोन के नरेश समसुदितन की सेनाने हिट्टाइट राज्यपर आक्रमण किया था।

हित्तीओं का प्रथम राज्य -

उस से भी पूर्व लगभग कलियुगाब्द ११०१ (खि.पू. २०००) में 'कुस्सर' नामक नगर के

शासक की जानकारी प्राप्त है। उस का नाम 'अनित्त' था। परन्तु हित्ती परम्परा के अनुसार पहला हित्ती शासक लबर्नश था। उस ने उपिश्न (Hupisna), तुवनुवा, नेनस्सा, परशुखण्ड (Parsukhanda), लन्द, झल्लर और लुस्ना आदि नगरों पर विजय प्राप्त किया। अपने पुत्रों को वहाँ पर शासक के नाते नियुक्त किया। सागरतट तक राज्य की सीमा पहुँच गयी। लबर्नश के पश्चात् हत्तुसिलिस राजा बना। वह महत्वाकांक्षी था। उस ने सीरिया पर आक्रमण किया। सीरिया का अभियान मार्ग नूर पर्वत की घाटी से था। इस मार्ग पर अलक्षा नामक Alalkha) प्राचीन नगरी के अवशेष प्राप्त हुए है। सीरिया के युध्द में हत्तुसिलिस गंभीर रूप से घायल हो कर वापस आया। अपने पौत्र मुर्सिलिस का राज्याभिषेक कर के उसने प्राण छोडा। सीरिया के इस युध्द में हुर्री सेना के कारण हत्तुसिलिस पराजित हुआ था। मुर्सिलिस ने हुर्रियों के प्रदेश पर आक्रमण कर के उन को पराजित किया और हत्तुसिलिस के मृत्यु का प्रतिशोध लिया। मुर्सिलिस महान विजेता था। सीरिया जीत कर उस ने बॉबेलोन पर आक्रमण कर दिया। हम्मुरबी के वंश का शासक पराजित हुआ। कुछ काल तक बॉबिलोनिया पर शासन करके मुर्सिलिस वापस गया। हत्तुसिलिस के काल से हित्तिओं की राजधानी हत्तुसस नगरी हो गयी थी। मुर्सिलिस वहाँ से बॅविलोन जैसे दूरस्थ देश पर शासन नही कर सकता था। हित्ती राज्य की आंतरिक दशा इतनी सुदृढ नही थी। मुर्सिलिस के पश्चात लगभग दो सौ वर्ष तक का हित्ती राज्य का इतिहास अपेक्षतया अंधकारमय है। फिर भी मुर्सिलिस के उत्तराधिकारियों की सब से महत्त्वपूर्ण सफलता 'विधि संहिता' की रचना थी, जो बोघज़कुई के उत्खनन में खण्डित अवस्था में प्राप्त हुई है। तेलिपिनस नामक व्यक्ति जो संभवतः हित्ती राज्य के प्रधान पद पर था, उसने राज्य के उत्तराधिकारीयों के अधिकार एवं कर्तव्य निश्चित किये। साथ ही शासन के लिये आवश्यक दण्ड विधान भी निश्चित किया।

सम्राट सुप्पिलिल्युमस (कलियुगाब्द १७२१-१७६६. खि.पू. १३८०-१३३५)

सुप्पिलिल्युमस महान विजेता था। राजधानी हत्तुसस को विशाल प्राचीर से उसने सुरक्षित कराया। फरात नदी पार कर के मितान्नि राज्य की शक्ति तोड दी। फिर सीरिया जीत कर वहाँ पर अपने पुत्र को 'शासक' नियुक्त किया। इस समय मिश्र के शासक की मृत्यु हो गयी थी। मिश्र की विधवा रानी ने सुपिलिल्युमस के पास प्रस्ताव भेजाः "मेरे पति की मृत्यु हो गयी है और मेरे कोई पुत्र नही है। आप के कई पुत्र है। अगर आप मेरे लिये कोई पुत्र भेज देते तो मैं उसे अपना पति बना लेती। किसी भी अवस्था में मैं अपने प्रजाजनों में से किसी को अपना पति नही बनाऊँगी।"

सुपिलिल्युमस ने इस प्रस्ताव की सत्यता जानने के लिये अपना व्यक्तिगत दूत मिश्र

भेजा। प्रस्ताव की पुष्टि होते ही अपने एक पुत्र को मिस्त्र खाना किया। परंतु तब तक वहुत देर हो गयी थी। मिश्र में रानी के विरूध्द षडयन्त्र हुआ, हित्ती राजकुमार पकड लिया गया और उस का वध कर दिया गया।

इतिहास प्रसिध्द सन्धि (कलियुगाब्द १८३१, ख्रि.पू. १२६९)

हित्ती और मिश्र में कटुता बढती गयी। मिश्र नरेश राम द्वितीय (रेमेसिस) के काल में दोनों देशों में युध्द हुआ। यह इतिहास में 'कादेश' का युध्द कर के प्रसिध्द है। इस में हित्तीओं ने मिश्र को बुरी तरह से पराजित किया। इसी काल में असीरिया की शक्ति बढ रही थी। हित्ती और मिश्र में मित्रता की सन्धि हुई। न केवल राजाओं ने वरन् दोनो देशों की रानियों ने परस्पर बधाई पत्र भेजे। हित्ती सम्राट ने अपनी पुत्री के साथ मिश्र की यात्रा की। वहाँ हित्ती राजकुमारी का विवाह फराओ राम से करके मैत्री - बन्धन को दृढ किया। मिश्र और हित्ती इस काल की महान शक्तियाँ थी। हित्ती शासक स्वयं को 'महाराज लबर्नश' उपाधि धारण करते थे। वीर, देवप्रिय आदि उपाधियाँ भी धारण करते थे। मृत्यु के पश्चात् हित्ती राजा को देवताओं में स्थान प्राप्त होता था। उत्सवों के अवसर पर राजा को प्रधान पुजारी के नाते समस्त धर्मकेंद्रोंपर उपस्थित रहना होता था। महारानी का पद महत्वपूर्ण होता था। हित्ती महारानियाँ 'तवन्ननास' की उपाधि धारण करती थी। हित्ती वंश का संस्थापक लबर्नश की महारानी का नाम 'तवन्ननास' था। वही बाद में गौरवपूर्ण उपाधि बन गयी। महारानी राज्यकार्य में भाग लेती थी। उस की अपनी स्वतंत्र राजमुद्रा रहती थी।

लगभग आठ सौ वर्षों तक हित्ती राज्य पश्चिम एशिया की एक शक्तिशाली सत्ता बनी रही। कलियुगाब्द १९११ (ख्रि.पू. ११९०) के लगभग असीरियन नरेश तिगलथपिलेश्वर ने हित्ती राज्यपर आक्रमण करके उस का विनाश किया। बोगज़ कुई के अभिलेख से ज्ञात होता है कि 'अरनुवन्दा' अंतिम हित्ती शासक था।

हित्ती शासकों के अभिलेख चित्राक्षर (हायरोग्लिफिक) लिपि में उत्कीर्ण है। दश सहस्त्र से अधिक अभिलेख प्राप्त हुए है परंतु चित्राक्षर लिपि के वाचन में विद्वानों की सहमती अभीतक नही है। बोगज़ कुई के उत्खनन में राजकीय अभिलेख संग्रहालय ही प्राप्त हुआ। मिश्र में प्राप्त तेल-एल-अमनी-पत्र हित्ती जाति के इतिहास पर प्रकाश डालते है। चित्राक्षर लिपि हित्ताओं की स्वदेशी लिपि थी तो कीलाक्षर लिपि आंतरराष्ट्रीय लिपी बन गयी थी। बोगज़ कुई के अनेक अभिलेख कीलाक्षरलिपि में है जो पढे गये हैं। एशिया मायनर में हित्तिओं ने ही प्रथमतः घोडे का प्रयोग किया। पशुपालन के संबंध में विधि संहिता में बहुत से नियम दिये गये है। यहाँ से अश्वपालन शास्त्र की एक पुस्तक प्राप्त हुई है जिसमें संस्कृत के कुछ शब्द मिलते है।

अनातोलिया खनिज पदार्थों से संपन्न है। लोहा, ताम्र, और चाँदी की खाने प्राचीन काल से वहाँ के जीवन को समृध्द बनाती थी। लोहे की वस्तुओं का उत्पादन यह हित्तीओंकी देन थी। चाँदी की छडे विनिमय का माध्यम थी। ताम्र निर्यात की महत्वपूर्ण वस्तु थी। मिश्र, बॉबिलोनिया, असीरिया, एलाम एवं इराण से घनिष्ठ व्यापारी संबंध थे।

हित्ती धर्म,

हित्ती सूर्योपासक थे। निसर्ग पूजक थे। ऋतुदेव सबसे लोकप्रिय देवता था। वृषभ उसका वाहन था। परशु और त्रिशुल उस के शस्त्र थे। हित्तीयों का वह प्रमुख युध्द देवता भी था। नाम अलग है परन्तु वह पशुपति शिव ही था।

अरिन्ना (सूर्यदेवी) शिव की शक्ति थी। पृथिवी एवं आकाश की रानी और हित्ती राष्ट्र और राज्य की संरक्षिका थी। हित्ती उसे जगन्माता के रूप में देखते थे। सिंह उसका वाहन था। वह दुर्गारूप थी। हुर्री देवी हेपत से अरिन्ना का तादात्म्य था। बोघज़ कुई में उस का प्रमुख मन्दिर था। उसी का अन्य नाम था सिबेले या शिबिलि।

शिव और शक्ति रूप देवताओं के अलावा नगर और ग्राम की अपनी देवताएँ भी थी। उनके मन्दिर थे। देवताओं के उत्सव प्रतिवर्ष मनाएँ जाते थे। धार्मिक आख्यानों के पारायण होते थे। शारीरिक स्वच्छता और पवित्रता का ध्यान रखकर प्रमुख देवताओं की प्रतिदिन पूजा की जाती थी। पूजा, उत्सव, पारायण, भजन कीर्तन आदि का अधिकार पुजारी का था। उस के लिये अनेक धार्मिक नियम बनाये गये थे। पुजारी के अलावा कुछ सर्वमान्य भक्त होते थे जिन्हे देवता का साक्षात्कार हुआ माना जाता था। उन्मत्त व्यक्ति के मुख से या स्वप्न में देवता अपनी इच्छा प्रकट करते थे। ऐसे स्त्री या पुरूषों का समाज में विशेष सन्मान था।

आसुरी शक्तियों का उपयोग करनेवाले तांत्रिक और पुण्यात्माओं की सहायता से भूत,प्रेत, पिशाच का निवारण करनेवाले साधु महात्मा का भी सन्मान था। परलोक में अपने दुष्कृत्यों का दण्ड मिलेगा यह साधारण हित्ती व्यक्ति की श्रध्दा थी। पाप और पुण्य की श्रध्दा के स्वाभाविक परिणामस्वरूप हित्ती समाज नीतिमत्ता को अधिक महत्व देता था।

साम्राज्य के प्रारंभ काल में मृत व्यक्ति को दफन करने की प्रथा राजघराने में थी। सामान्य प्रजा में दफन और दहन दोनो अंत्यसंस्कार प्रचलित थे। साम्राज्य के उत्तर काल में राजवंशी मृतकों का भी दहन संस्कार होने लगा। अंत्येष्टि क्रिया तेरह दिन चलती थी। दहन के बाद अस्थियों को सुंदर वस्त्रों में लपेट कर एक पाषाण कक्ष में रख दिया जाता था। इस के बाद सहभोज का आयोजन किया जाता था।

हित्तीयों का और एक महत्त्वपूर्ण योगदान यह रहा कि उन्होंने ईजियन सभ्यता को और

इटली के इट्रुस्कन जाति को प्रभावित किया। भारतीय संस्कृति के कुछ अंश इट्रुस्कन सभ्यताने हित्तीऑंसे ग्रहण किये।

फ्रिजिअन्स

तुर्कस्तान के पश्चिम मध्य में कलियुगाब्द २००० (खि.पू. १०००) के लगभग फ्रिजिअन्स ने एक शक्तिशाली सत्ता प्रस्थापित की। शीघ्र ही हित्ती साम्राज्य का समस्त भूप्रदेश उन्होंने अपने अधीन कर लिया। हित्ती धर्म एवं संस्कृति को उन्हों ने स्वीकार किया। उनके नाम पर तुर्कस्थान का पश्चिम मध्य प्रदेश फ्रिजिया कहलाया। फ्रिजि या वृजि 'वृज्जि' का अपभ्रंश है।

फ्रिजिअन्स थ्रेस से बास्फोरस जलडमरूमध्य से तुर्कस्तान में आये ऐसा मानाजाता है। संभवतः वह मिश्रजाति थी जो भारत से जलमार्ग से इजियन प्रदेश में आये हुए प्राचीन पणियों के सम्पर्क और संस्कार में आयी थी। उन की लिपी स्वंतत्र परन्तु फिनिशियन लिपी से संबंधित दिखाई देती है।

ग्रीक मानते थे कि ट्रोजन युध्द (कलियुगाब्द १९०१- खि.पू. १२०० के लगभग) के समय 'थ्रेस' से फ्रिजिअन्स तुर्कस्तान में आये। प्रारंभ में एस्कीसेइर और अफ्योन के बीच पहाडी प्रदेश में उन्होंने अपना उपनिवेश स्थापित किया। गोर्डियम उन की प्रथम राजधानी थी। कोन्या, जहाँ पर वे प्रथम पहुँचे थे एक महत्वपूर्णनगर था। ३३७० फूट उंचे पठारपर स्थित इस प्राचीन नगर के खण्डहर उत्खनन में प्राप्त हुए है। फ्रिजिअन जनश्रुतियों के अनुसार प्रलय के अनंतर प्रथम बस्ती कोन्या में स्थापित हुई थी।

फ्रिजिया का राजनैतिक इतिहास ज्यादातर अप्राप्य है। गोर्डिअम तटबन्दी युक्त राजधानी थी। उत्खनन में प्राप्त अवशेषों से पता लगता है कि वह एक संपन्न नगर था। फ्रिजिअन धातुकर्म और हस्तिदन्ती कारागिरी में प्रवीण थे। वस्त्र उद्योग समृध्द था। मूलतः अनातोलिया सुवर्ण, रजत, और ताम्र का भण्डार ही था। व्यापार की दृष्टि से आंतरराष्ट्रीय केन्द्र था। फ्रिजिअन सम्राट 'मिडास' इस समृध्दि के कारण ही साहित्य में दन्तकथाओं का नायक एवं साक्षात् कुबेर के रूप में विख्यात हुआ। वह लोभी था या नही परन्तु जिसे हाथ लगाता वह वस्तु सुवर्ण की बन जाती इस प्रकार की गाथाएँ उस के आर्थिक समृध्दि की ओर निर्देश करती है।

ऊपरी संगारिअस अर्थात् शकार्य भूप्रदेश में पाषाण पर उत्कीर्ण स्मारक पर मिडास का नाम आता है। मिडास को मुष्कीयों का मित (मित्र) कहा है। फ्रिजिअन्स की ही 'मुष्की' एक अन्य संज्ञा थी।

फ्रिजिअन्स मुख्यतः कृषिकर्मी थे। माता स्वरूप देवी के उपासक थे। इस जगन्माता को वे 'अम्मा' कहते थे जो पाषाणरूप देवी थी, जिस का कोई आकार नही था। स्वर्ग से जिस का

पदार्पण होता है ऐसी 'अम्मा' रथ में पर्वतों पर विहार करती है यह उन की मान्यता थी। 'अम्मा' का ही दूसरा नाम था 'शिबिलि' याने शक्ति।

'अत्तिस 'अम्मा' देवी का पति था। अत्तिस (अत्री) अर्थात् सूर्य देवता। यह देवता निसर्ग देवता माना गया। ऋतुरूप माना गया। वसंत ऋतु में उसके शक्ति में वृध्दि होती है तो हेमन्त ऋतु में शक्ति का ऱ्हास होता हैं। इस स्थिति से उस के निरन्तर जन्म और मृत्यु की कल्पना की गयी। जन्मदिवस पर उत्सव मनाया जाता था। मृत्यु के समय विलाप करके दुःख का प्रकटीकरण होता था।

और एक श्रेष्ठ देवता था बगेओस अर्थात् 'भग देवता। स्लाव जाति में भी यही देवता बुगु नाम से था। 'भग' ऋग्वेदीय देवता है। ईरान में भी यही देवता 'भग' नाम से था। हिरोडोटस के अनुसार फ्रिजिअन्स थ्रेस में ब्रिजिअन्स (Brijis) कहलाते थे। बृज्जि भारतीयों की वेदकालीन शाखा है। संभवतः ईरान से पश्चिम में भ्रमण करती उन की एक शाखा एशिया मायनर से होते हुए युरोप में थ्रेस में जा वसी जो बाद में फ्रिजिअन कहलाई। हिरोडोटस ने और लिखा है कि ग्रीक लोग बृज्जिओं को सबसे प्राचीन जाति मानते थे।

'लिडियन्स'

एशिया माइनर में फ्रिजियन्स के पतन के पश्चात् एक अन्य जाति ने शासन किया। यह जाति लिडियन कहलाती है। इन के मूल स्थान एवं संक्रमण के संबंध में भी ज्यादा जानकारी नही है। लिडियन भाषा एवं लिपि भी नष्ट हुई है। यहुदी पुराण के अनुसार मिओनिअस एक दैवी पुरूष था। इस मूल पुरूष से तीन राजवंश उभरे। तीसरे राजवंश में क्रीसस नामक सम्पत्तिमान् राजा हुआ जिस के पश्चात् लिडिया की सत्ता नष्ट हुई।

वर्तमान इज़मीर के निकट मोलुस पर्वत की उपत्यका में लिडिया की प्राचीन राजधानी (कलियुगाब्द २४०१-ख्रि.पू.७००) के अवशेष प्राप्त हुए है। लिडियन शासकों ने सुवर्ण एवं रजत सिक्कों का प्रचलन किया था। सरदीश, जो उन की राजधानी थी-व्यापार का आंतरराष्ट्रीय केन्द्र था। एशिस लिडियनों का पौराणिक वीर पुरूष था। उस के नामपर एक नगर भी वसा हुआ था। लिडिअन देवताओं में एशिस कतिपय दयापूर्ण, साहसी और सहाय्यकारी घटनाओं के लिये विख्यात था। वैदिक देवताओं में अश्विनी कुमारों का जो स्थान है वही लिडियन संस्कृति में एशिस का था।

लिडियन्स निसर्गपूजक थे। मिदोस उन का सर्वश्रेष्ठ देवता था। जो सूर्यदेव का ही रूप था। अनेक स्थान पर मिदोस के मन्दिर थे जहाँ दैनिक पूजा एवं देवता की उपासना चलती थी।

लिडियन शिवलिंगोपासक थे। राजाओं के समाधी पर ऐसे पाषाणलिंग स्थापित किये

जाते थे। लिडियन नरेश अल्यातेश की समाधी पर नौ फूट व्यास का एक विशाल शिवलिंग स्थापित किया हुआ था। लिडियन मुद्राओं को मिनस (वैदिक-मना) कहा जाता था। मुद्रापर एक पट पर सिंहमुख था। दूसरी ओर धनुष्यबाण धारी राजा का चित्र उत्कीर्ण था।

ईरानी सम्राट द्वितीय सायरस द्वारा लिडियन सत्ता नष्ट की गई (कलियुगाब्द २२५ खि.पू.५४६) उस के पश्चात् २०० वर्षों तक तुर्कस्तान ईरान के अधीन था। इसी काल में प्राचीन तुर्कस्तान की सांस्कृतिक परम्परा पूर्णतःलुप्त हो गयी। लगभग तीन सहस्त्र वर्षों की प्रदीर्घ परंपरा खण्डित हुई। ईरानी साम्राज्य के पतन के पश्चात् ग्रीक नरेश अलेक्झांडर ने तुर्कस्तान पर ग्रीक सत्ता स्थापित की। कलियुगाब्द २९६९ (खि.पू. १३३) में तुर्कस्तान पर रोमन सत्ता स्थापित हुई। लगभग एक सहस्त्र वर्ष तुर्कस्तान भिन्न भिन्न मध्ययुगीन सत्ताओं के संघर्ष का केन्द्र रहा। कलियुगाब्द ४१७३ (खि. १०७१) में आक्रमकों ने तुर्कस्तान के प्राचीन संस्कृति और परंपरा के बचे खुचे अवशेषों को पूर्ण मिटा दिया और वह मुस्लिम देश बन गया।

तुर्कस्तान में कभी भारतीय संस्कृति एवं परम्परा थी इस का आभास अब केवल उत्खननित पुरातत्वीय अवशेष तथा प्राचीन अभिलेख ही देते हैं।

६६. बुध्द (तुर्कस्तान)

६७. अवलोकितेश्वर (तुर्कस्तान)
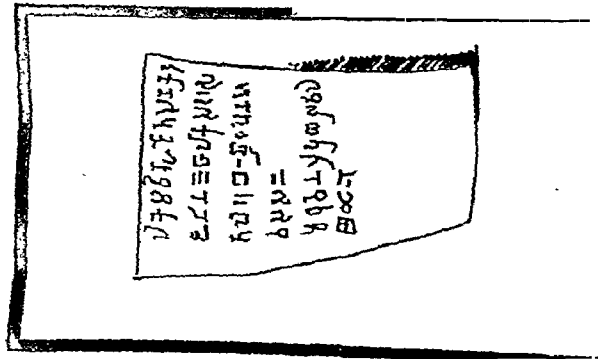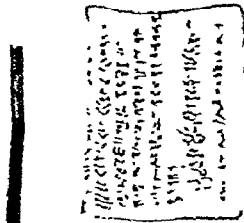
इराक (मेसोपोटामिया)

भारतीय संस्कृति व इतिहास

भारतीय संस्कृति केवल किसी एक मानवी समूह द्वारा निर्मित साधारण सभ्यता नही। अपितु वह देव संस्कृति है। देव याने प्रकाशित करनेवाली, वह समग्र विश्व को प्रकाशित करने हेतु निर्माण हुई। अतः यह विश्व संस्कृति है। इसी कारण भारतीय समाज धर्म और अध्यात्म, तत्वज्ञान और दर्शन, भौतिक जीवन और सत्य, प्रेम और करुणा, सौंदर्य और पवित्रता आदि दैवी तत्वों की अधिकतम उपासना करता आया है। अपनी जीवन पध्दति को उसके अनुकुल नियमित करता आया है।

धर्म, दर्शन, नीति, साहित्य, जीवन, कला आदि की समस्त कृतियाँ एवं रचनाएँ इस देव संस्कृति के अभिन्न 'अङ्ग' है। इनकी प्रेरणा का स्रोत देव संस्कृति रहा है। अर्वाचीन मान्यता के अनुसार सभ्य मानव का व्यवहार भूतल पर कुछ सहस्त्र वर्ष पूर्व ही हुआ है। भौतिक स्तर पर मानव ने अपनी यात्रा के जो चरणचिन्ह छोडे है उनका संग्रह और उनकी तर्काधिष्ठित व्याख्या इस के आधारपर संस्कृति का इतिहास लिखा जाता है। परन्तु केवल इसके ही अध्ययन के शास्त्रीय रुप को इतिहास समझने के फलस्वरुप इतिहास का प्रकटीकरण अपूर्ण एवं सीमित हो जाता है।परिस्थिती से संघर्ष और भौतिक विकास की परिकल्पना सभ्यता की आपूर्ति कर सकती है, परन्तु मनुष्य केवल भौतिक साधनों की गठरी नही। वह तो आत्मा की अभिव्यक्ति है। शरीर से आगे मन, बुध्दि और आत्मा है जिसके विकास के आधार पर संस्कृति अभिव्यक्त होती है। निरन्तर घूमते कालचक्र को अपने मर्यादित जीवस से मापने का मानवी प्रयास इतिहास को कालगणना का आधार तो देता है परन्तु केवल पुरातात्विक आधार पर निष्कर्ष सिध्द करने से मानवी संस्कृति के विकास को हम मर्यादित कर देते है।

प्राचीन काल में इतिहास लेखन की पध्दति अलग थी। भारत में इतिहास की व्याख्या थी, **'धर्मार्थकाममोक्षाणां उपदेशसमन्वितम् । पुरावृत्तं कथारुपं इतिहासं प्रचक्षते।।'**

इतिहास के अध्ययन का उद्देश्य, मात्र भूतकालीन घटनाओं को समझना नही था। मानवी जीवन सम्पन्न हो... उसका भविष्य निर्दोष, सुंदर हो ... जिसने उसका, सृष्टि का,

ब्रह्माण्ड का निर्माण किया उसी का वह स्वाभाविक अंश है तो उसको जानने की जिज्ञासा उसमें निरन्तर जागृत रहे, यह शिक्षा शास्त्रियों एवं आचार्यों के चिन्ता एवं चिन्तन के विषय थे। विचार मन्थन की दिशा वही थी। इसी कारण उन्हें, समग्र मानवी व्यवहार को धर्म का अधिष्ठान मिले, यह प्रथम आवश्यकता प्रतीत हुई।

धर्म उनकी दृष्टि से कोई सम्प्रदाय या उपासना पध्दति नही थी। उपासना पध्दति तो ईश्वर प्राप्ती का मार्ग था। मार्ग व्यक्ति सापेक्ष होते है ... अलग हो सकते हैं ... अनेक हो सकते हैं। मैं ही ईश्वर को जानता हूँ , मैं दीपस्तम्भ हूँ ... मेरे पीछे आओ तभी ईश्वर की प्राप्ति होगी इस प्रकार का दावा कोई व्यक्ति ... कोई सम्प्रदाय करें यह तो उन महान् दार्शनिकों की दृष्टि से हास्यास्पद था। इसीलिये धर्म की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा,

'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिध्दिःयःस धर्मः।।'

जो अभ्युदय एवं निःश्रेयस की प्राप्ति करा दे, वही धर्म है। केवल अभ्युदय (भौतिक विकास) जीवन की अपूर्णता है। निःश्रेयस की प्राप्ति भी अभ्युदय के अभाव में दुःसाध्य होगी। अभ्युदय के लिये भी धर्म का अधिष्ठान अनिवार्य है। मानवी जीवन परिपूर्ण करने की इस प्रक्रिया में भारतीय मनीषि यह कभी नही भूले कि मनुष्य केवल भौतिक प्राणी नही है। धर्म के अभाव से मनुष्य और पशु इनमें कुछ अन्तर नही रहेगा। आत्मा का विकास परमात्मा का ज्ञान होने से ही होता है। धर्म इस ज्ञान प्राप्ति का साधन है। जीवन का अधिष्ठान है।

(आहार निद्रा भय मैथुनंच, सामान्यमेतद् पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हि तेषां अधिको विशेषो, धर्मेण हीनः पशुभिः समानः।।)

भारतीय चिन्तन -

भारतीय ऋषि केवल विचारवन्त नही थे। उन्होंने चिन्तन के आधार पर उसके भी आगे जाकर अपने विचारों को साक्षात् देखा ... उसकी अनुभूति प्राप्त की। इसी लिये उनको दार्शनिक कहा जाता है। मनुष्य का पृथिवी पर पदार्पण उसका अहोभाग्य है। परन्तु वह एक अकेला नही। उसका पदार्पण समष्टि के अंतर्गत एक सुनियंत्रित घटना होती है। व्यक्ति समाष्टि का अंगभूत घटक होता है। यह समष्टि भी ईश्वरनिर्मित सृष्टि का ही अविभाज्य घटक होने के कारण व्यक्ति, समाष्टि व सृष्टि की एकरुपता की अनुभूति उन्होंने ली। कार्यकारण भावसे इसके मूलकारण का अर्थात् परमेष्टि (ईश्वर) का ज्ञान हुआ।

इस मूलभूत चिन्तन के आधारपर संस्कृति विकसित होती गयी। विकास प्रक्रिया के प्रकाश में समाज, राष्ट्र और उसकी अस्मिता का आविष्कार प्रकट हुआ। अन्ततः इस चिन्तन का और उसके आधार पर संस्कृति रचना का यह कष्टसाध्य प्रयास किसलिये? उसका उद्देश्य किसी

साम्राज्य का गठन या समग्र भौतिक सम्पन्नता का उपभोग ऐसा कुछ नही था। ऋषियों ने उद्देश्य स्पष्ट करते हुए कहा, "भद्रमिच्छन्त ऋषयः।" विश्व के (समग्र मानवजाति) के कल्याण की कामना ऋषियों ने की। उसी हेतु एक अनिवार्य आवश्यकता समझकर उन्हों ने राष्ट्रनिर्माण का संकल्प किया। प्रयत्नपूर्वक समाज को संघटित किया। परम्परा एवं इतिहास के आधार पर उसके चिति (आस्मिता) का जागरण दिया।

(भद्रमिच्छन्त ऋषयः तपो दिक्षां उपसेदुरग्रे ।

ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं, तदस्मै देवा उपसं नमन्तु।।)

विश्वकल्याण की कामना लेकर इस प्रकार की रचना का यह अद्‌भुत प्रयास विश्व के अन्य किसी भी भू प्रदेश पर किसी भी अन्य विचारवन्त, दार्शनिक ... यहाँ तक कि किसी प्रेषित ने भी नही किया। और एक उनकी विशेषता यह रही कि उन्होंने विश्व के सभी मानव को अपना माना। सभी को ईश्वर के साथ जोडते हुए 'अमृत पुत्र' इस गौरवांकित नाम से संबोधित किया। उन्हों ने कहा,

हे विश्व के अमृतपुत्रों
सुनो,
उस दिव्य धाम निवासी
अंधःकार नष्ट करने वाले, सूर्य समान तेजस्वि
वेदद्वारा वर्णित महान् परमपुरुष को,
हमने जाना है।
अमृततत्व की प्राप्ति के लिये
इसके सिवाय
अन्य कोई मार्ग नही।

(श्रृवन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः। आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः। वेदान्तमेतं पुरुषं महान्तं। आदित्यवर्णः तमसः परस्तात् । तमेवविदित्वातिमृत्युमेति। नान्यः पन्था विद्यतेऽनाय।।)

इस अमृततत्व की प्राप्ति की प्रक्रिया को ही उन्हों ने ऋत् (धर्म) कहा । एक से दूसरे पिढी में इस ज्ञान का संक्रमण सहस्त्रावधि वर्षों से होता रहा जिससे सभ्यता का रुपांतर संस्कृति में हुआ। इसी संस्कृति का आविष्कार यच्चयावत् मनुष्य में हो यह मनीषा थी। इसी कारण ऋषियों को मनीषि कहा गया। इस उदात्त संस्कृति को जिन्होने धारण किया वे आर्य ... जो इस संस्कृति से वञ्चित रहें वे अनार्य। जो संस्कृति से वञ्चित रहे उन्हे आर्यत्व प्रदान करने का उत्तरदायित्व अपना है इस प्रेरणा से प्रतिज्ञा प्रकट हुई, 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम् ।'

कृण्वन्तो विश्वमार्यम् -

अर्वाचीन अध्ययन एवं चिन्तन पध्दति की त्रुटियाँ इन विचारों की परिप्रेक्ष्य में कोई देखे। आर्य कोई वंश या जाति नही है। यह चिन्तन और उसके अनुसारी विश्वकल्याण के प्रयास का प्रारंभ क्या किसी कॉकेशस पहाडी में, तुर्कस्तान (अनातोलिया) में, मध्य एशिया के मैदान में या ईराण में हुआ? पशुओं को और अपनी औरतों और बच्चों को साथ लेकर पेट के लिये भागती हुई टोलियों में से मनीषियोंका निर्माण हुआ?

मध्य एशिया या अन्य किसी प्रदेश के मानवसमूह (तथाकथित इन्डो युरोपिअन्स) ने कभी विश्व कल्याण की कामना रखी? उनके कबिलों का इतिहास तो आक्रमण, अत्याचार, लूटमार और भयंकर रक्तपात से भरा पडा है।

ऋग्वेद में सरस्वती सूक्त है। इस विशाल देवी स्वरुप नदी ने अपने तट पर देव संस्कृति का निर्माण देखा। युगप्रर्वतक ऋषियों के आश्रम इसी के तटपर थे। सरस्वती एवं दृषद्वती इन के मध्य का भूप्रदेश संस्कृति सम्पन्न भारतीय समाज का मूलस्थान था। मनुस्मृति में (२.१३) सरस्वती - दृषद्वती नदियों के बीच के मार्ग को देवनिर्मित ब्रह्मावर्त कहा गया है।

सरस्वती दृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते।।

तदनन्तर बह्मावर्त और मध्य प्रदेश का विवरण है। आर्यावर्त के लिये यह परिभाषा दी गयी है।,

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात् ।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः ।।२.२२।।

शनैः शनैः सरस्वती सूखती गयी। लुप्त हुई। परन्तु उसके तटपर जिस संस्कृति का निर्माण हुआ वह संस्कृति प्रवाह निरन्तर बहता रहा। लोकसंक्रमण के कारण देव संस्कृति चारों दिशाओं में फैलती गयी। पाँच सहस्त्र वर्ष पूर्व महाभारतीय युध्द सरस्वती के तटवर्ती परिसर में कुरुक्षेत्र में हुआ। उसके पूर्व और पश्चात् इस महान् संस्कृति के दूतों का आवर्तन पश्चिम दिशा में भी होता ही रहा। पाश्चात्य विद्वानों ने जिन को आर्य कहा उनके कही बाहर से भारत में आने का प्रश्न ही नही उठता। अपने मूलस्थान से अर्थात् भारत से 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' की प्रेरणा लिये वे पश्चिम दिशा में फैलते गये।

अतीत का इतिहास -

प्राचीन इतिहास ग्रंथ भारत की गौरव गाथा को प्रकट करते है। स्वायंभुव मनु से इतिहास का प्रारंभ होता है जब उन्होंने सरस्वती के तट पर प्रथम सुसंस्कृत मानव की वसाहत का निर्माण किया। कलियुगाब्द पूर्व लगभग पाँच सहस्त्र वर्ष अर्थात् लगभग दस सहस्त्रवर्ष पूर्व का इतिहास हमे प्राप्त होता है। भारत का पारम्पारिक इतिहास तो हमे उसके भी पीछे अतीत में ले जाता हैं।

मनु स्वयंभुव के काल से ही संस्कृति का भी विश्वसञ्चार प्रारंभ हुआ। मनु के दो पुत्र हुए। उत्तानपाद और प्रियव्रत। प्रियव्रत के दस पुत्र हुए। उनमें से मेधा, अग्निबाहु और पुत्र विरक्त थे। उन्होंने संन्यास ले लिया। पृथिवी सप्तद्वीपा थी। सात पुत्रों की स्थापना प्रियव्रत ने सात द्वीपों पर की। अग्नींध्र को जम्बुद्वीप के राज्य की प्राप्ति हुई। मेधातिथि - प्लक्ष द्वीप, वपुष्मान् शाल्मक द्वीप, ज्योतिष्मान् - कुशद्वीप, द्युतिमान् - क्रौञ्च द्वीप, भव्य - शाक द्वीप, और सवन - पुष्कर द्वीप पर शासन करने लगे। अग्नींध्र को नऊ पुत्र हुए। अग्नींध्रने जम्बुद्वीप के नौ विभाग करके उन पर अपने पुत्रों की स्थापना की। हरिवर्ष, किम्पुरुष, इलावृत, नाभि, कुरु, केतुमान्, रम्य, भद्राश्व और हिरण्यवान इन सभी प्रदेशों की पहचान तो नही हो पायी है। परन्तु अग्नींध्र के पुत्रों के नाम पर ही ये नौ खण्ड विख्यात हुए।

बडे पुत्र नाभि को मध्य भाग अर्थात भारत का शासन प्राप्त हुआ था। उसके पुत्र तीर्थंकर ऋषभदेव और इनके पुत्र भरत या मनुर्भरत महाज्ञानी हुए। मनुर्भरत के ही वंश में हुए महाराज जानन्तपति अत्यराति की गणना प्राचीन चक्रवर्तियों में सर्वोपरि है। ऐतरेय ब्राहमण में इन्हें आसमुद्र क्षितीश कहा है। उनके राज्य की सीमा पश्चिम में आर्द्रपुर (ॲड्रिआनोपल), आर्द्र सागर (ऑड्रिॲटिक सागर) और यवन सागर (आयोनियम सागर) तक थी। ईरान पर महाराज अत्यराति का प्रभुत्व था। ईरान का पूर्वी प्रांत सत्यगिरी था। सत्यगिदी याने सत्यलोक। इरान का अर्राट पर्वत अत्यराति के नाम पर है। आर्मेनिया में बसे अत्यराति के वंशज अर्राट नाम से विख्यात हुए।

मध्य एवं पश्चिम एशिया के साथ मनुर्भरतों का इतिहास जुडा हुआ है। चक्रवर्ती महाराज अत्यराति जानन्तपति के भाई 'मन्यु' थे जो ग्रीक इतिहास में मेम्नन (Memnon) नाम से विख्यात थे। इन्होने अर्जनम् (Arzanem) में अफुमन् (Aphumon) दुर्ग का निर्माण किया। इनकी राजधानी सुषा नगरी में थी। मत्स्य पुराण में इस नगरी का उल्लेख है। यही मन्युपुरी सुषा एलाम की भी राजधानी रही थी। इस प्राचीन नगरी का उत्खनन हुआ है। विशाल प्राचीरों से घिरी, विस्तीर्ण प्रासाद और भवनों से युक्त और सुन्दर भव्य मन्दिरों से मण्डित सुषा,

(Susa) नगरी के खण्डहर प्राप्त हुए हैं। सुषा के अधिराज महाराज मन्यु ट्राय के प्रसिध्द युध्द मे ससैन्य सम्मिलित हुए थे। ओडेसी काव्य मे इन्ही के वीरता की प्रशंसा है।

मनुर्भरतों में अत्यराति जानन्तपति, अभिमन्यु (मन्यु), उर, पुर, तपोरत और अंगिरा ये छः महान् योध्दा, कुशल प्रशासक और संस्कृति प्रवर्तक थे। इन्हों नें पश्चिम एशिया के सभी भूप्रदेश जीते थे। ईरान के प्राचीन इतिहास में इन्हे छः अमर उपास्यदेव (Six Immortal Holy ones) कहा है वे 'अहितदेव' याने दुखदायी अहिरमन कहलाये जाते थे।

अत्यराति के भाई 'उर' ईलाम (एलाम) के महाराज थे। यही से उन्होंने मिश्र, सिरिया, बॅबिलोनिया आदि भूप्रदेश पर अपना प्रभुत्व प्रस्थापित किया। 'उर' नगर संसार के प्राचीन नगरों में से एक है। उत्खनन में इस नगरी के अवशेष प्राप्त हुए है। महाराज उर के भाई 'पुर' वर्तमान ईरानी बलुचिस्थान में राज्य करते थे। अपने नाम पर 'पुर' नामक राजधानी का निर्माण उन्होंने किया। एलबुर्ज के निकट 'पुरासिया' नामक स्थान है जो सम्भवतः प्राचीन पुर है। तपोरत का राज्य ईरान के तपोरिया प्रांत में था। तपोरिया का वर्तमान नाम मजदिरन (Mazanderan) है। इसी भूप्रदेश में देमावन्द पर्वत है।

उस काल में राजाओं को 'प्रजापति' संज्ञा थी। मनुर्भरतों का इतिहास, प्रलय पूर्व कालीन घटनाओं का है। स्वायंभुव मनु की पैतालिस पीढियों ने शासन किया। उसके बाद प्रलय हुआ, जिससे सभी पुरानी व्यवस्थाएँ टूट गयी। प्रलय के पश्चात वैवस्वत मनु ने नये शासन विधि का प्रारंभ किया। प्रजापतियों में दक्ष और कश्यप प्रजापति विख्यात थे। दक्ष की कन्याओं का विवाह काश्यप से हुआ। दिति ज्येष्ठ कन्या थी। दिति काश्यप की सन्तान दैत्य कहलाई। हिरण्यकश्यपु, हिरण्याक्ष, प्रल्हाद, विरोचन, बलि, बाण आदि दैत्य राजा प्रतापी थे। पश्चिम एशिया एवं युरोप के सभी भूप्रदेशों में छा गये। वर्तमान युरोप की अनेक जातियाँ इसी दैत्य वंश की है। दनु-कश्यप की संतति दानव कहलाई, जिन्होंने युरोप के अनेक प्रदेशों पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। दैत्य और दानव के विकृत रुप ही युरोपीय देशों के नामों में आज भी पाये जाते है। जैसे रशिया - ऋषिय, प्रशिया - प्रऋषिय, डेन्मार्क - दानव मर्क, दानव नदी- दैत्य नदी, डच (deutsch) दैत्य, डेन- दानव, स्वीडन (Swe-den) श्वेत दानव आदि। कतिपय राजाओं के नाम भी संस्कृतोद्भव है।

अदिति - कश्यप की सन्तान आदित्य कहलाई। अदिति के बारह पुत्र हुए। इनमें छोटे 'सुर्य' थे । सूर्य का ही नाम विवस्वान् था। उसका पुत्र वैवस्वत मनु कहलाया। उन्होंने शरयु नदी के तट पर 'अयोध्या' नगरी का निर्माण किया। शत पथ ब्राहमण में, कौटिलीय अर्थशास्त्र में और वाल्मीकि रामायण में उसे 'प्रथम आर्य राज, प्रथम करग्रहण कर्ता, प्रथम दण्डविधान निर्माता और प्रथम नगर निर्माता कहा है। वैवस्वत मनु का पुत्र 'इक्ष्वाकु' था। इसी वंश में ६५ वी पीढी

में श्रीराम हुए। यही सूर्यकुल था। इसी कुल मे जगज्जेता मान्धाता हुआ। उसने मिश्रतक एकछत्र साम्राज्य का निर्माण किया था। भूमध्य सागर पर भी उसका नियंत्रण था। पुराणों में वर्णन किया है कि मान्धाता के साम्राज्यपर सूर्य का अस्त नही होता था।

(यावत्सूर्य उदेत्यरत यावच्च प्रतितिष्ठति ।

सर्वं तद् यौवनाश्वस्य मान्धातुः क्षेत्रमुच्यते।।) विष्णु पुराण ४.२.६५

अत्रि ऋषि, चन्द्र वंश के मूल पुरुष थे। भृगपुत्र शुक्र के वे पुत्र थे। वेदर्षि एवं प्रजापति थे। ईरान के तपूरिया प्रदेश में देमानन्द पर्वत की उपत्यका में उनका प्रभाव था। कश्यप (कौस्पिअन) सागर के निकट प्रवाहित नदी का नाम उनके नाम पर अत्रिक नदी पडा। अत्रिपट्टन (Atropatene - वर्तमान अझरबैजान में) उनकी राजधानी थी। कॅस्पियन सागर और काकेशस पर्वत के नामों का संबंध भी ऋषि कश्यप से दिखाई देता है।

इराक

इराक क्षेत्र में अनेक संस्कृतियों का उदय और अंत हुआ जैसे सुमेरी, बॅबिलोनी, असीरियायी (आसुरी) आदि। वर्तमान इराक, जो एक अरब राष्ट्र हैं, उसकी प्राचीन संस्कृति भारत से जुडी हुई थी। इसका क्षेत्रफल ४,३७,५२२ वर्ग किलोमीटर है। इसकी लम्बाई १२०० किलोमीटर और चौडाई लगभग ७६८ किलोमीटर हैं। इराक के उत्तर में तुर्कस्तान, पश्चिम में सीरिया और जॉर्डन, दक्षिण में सऊदी अरेबिया (अरबस्तान), कुवेत और ईरान का आखात तथा पूर्व में उपजाऊ भूमि की एक पट्टी ईरान के खाडी से लेकर पश्चिम में भूमध्य सागर तक फैली हुई है। अर्धचन्द्राकार है अतः उसे उर्वर अर्धचन्द्र कहते हैं। यही भूप्रदेश है जहाँ सुमेर, बॅबिलोनिया तथा असीरिया की समृध्द एवं सम्पन्न संस्कृतियों का निर्माण हुआ। युफ्रेट्स (फरात) और टायग्रीस (दजला) नदियों का वरदान इस भूमि को प्राप्त है। दजला नदी का मूल नाम 'इदिग्न' था। मिश्र की नील नदी की तरह दजला और फरात नदियों में बाढ का पानी किनारों को लांघ जाता था और नयी मिट्टी छोड जाता था। जिससे यह घाटी उपजाऊँ बन गयी थी। साथ ही फरात नदी महत्वपूर्ण जलमार्ग भी थी। इस जलमार्ग द्वारा भूमध्य सागर से ईरान की खाडी तक आसानी से यात्रा हो सकती थी। दजला और फरात के मध्य का प्रदेश ही मेसोपोटामिया कहलाया। मेसो याने मध्य और पोटाम का अर्थ है नदी। ऐतिहासिक युग में घाटी के उत्तरी भाग को मेसोपोटामिया और दक्षिणी भाग को सुमेर तथा अक्काद कहा जाता था। सुमेर और अक्काद का संयुक्त प्रदेश बॅबिलोनिया कहलाता था।

सुमेर की संस्कृति - पौराणिक इतिहास

कलियुगाब्द २७७१ (ख्रि.पू. ३३०) में बॅबिलोन के 'मरुत्त' (मर्दुक) देव के मन्दिर में

'बे रोसॉस' नामका एक विद्वान पुजारी था। वह खाल्डिया का निवासी था। उसने बॅबिलोलिया का इतिहास लिखा। मरुत द्वारा तियामत के वध और सृष्टि की रचना से लेकर अपने जीवनकाल तक का इतिहास उसने लिखा था। इतिहास को उसने दो भागों में विभाजित किया। प्रलय के पूर्व का युग जिसमें १० राजाओं ने ४ लाख ३ हजार वर्ष और प्रलय के बाद का युग जिस में ८ वंशों ने ३६ हजार वर्ष शासन किया। बे रोसॉस फिर भी सुमेरियन सभ्यता से अनभिज्ञ था। उसने लिखा है कि बॉबिलोनिया के निवासी असभ्य थे। सर्व प्रथम ओऑनिज (अयोनिज) नामक एक देवता ने उन्हें खेती करना, लिखना तथा अन्य कलाएँ और विज्ञान सिखाए। देवता अयोनिज मत्स्य के रुप में (आधा मत्स्य - आधा मानव) सागर से निकलकर आया था। उसने प्रदीर्घ काल तक शासन किया। मत्स्य वंश के अन्तिम शासक 'एक्षीसूथ्रोस' के शासनकाल में जलप्रलय हुआ। जलप्रलय का आख्यान काल्पनिक नही है। प्रायः सभी प्राचीन सभ्यताओं में प्रलय का आख्यान मिलता है। यह स्थानीय घटना नही है वरन् अत्यंत प्राचीन है जिससे समस्त मानवता प्रभावित हुई थी। भारत में यह वैवस्वत मनु के काल में हुआ था जो प्राचीन युग गणना के अनुसार ९२ करोड वर्ष पूर्व हुआ था। तब तक हिमालय अधिक उँचा नही हुआ था। इस की स्मृति सभी संस्कृतियों में मिलती है। बाइबिल में भी प्रलय की घटना का उल्लेख आता है।

भारत की सरस्वती - सिंधु सभ्यता और सुमेरी सभ्यता में कुछ मात्रा में समानता पायी जाती है। सरस्वती सभ्यता सुमेरी सभ्यता से प्राचीन है। दोनो संस्कृतियों की मुद्राएँ प्राप्त होती है। दोनों के परस्पर व्यापारी संबंध थे। सुमेरियन पौराणिक कथाएँ, आख्यान, देवता मूलतः भारतीय है। उपासना पध्दति समान दिखाई देती है। राजाओं के नाम मूलतः शुध्द भारतीय परन्तु स्थानिक भाषा में परिवर्तित सिध्द होते हैं। सिन्धु सभ्यता के संदर्भ में जो प्राथमिक निष्कर्ष थे वे आमूलाग्र बदल गये हैं। लुप्त सरस्वती नदी के सूखे तट पर १२०० से अधिक पुरातत्वीय स्थान प्राप्त हुए है। केवल मातृदेवता ही नही शिवपूजा के, संन्यासमार्गी योगियों की उपासना के आधार भी प्राप्त हुए है। यज्ञशालाओं और वेदिओं के अवशेषों की प्राप्ति इस सरस्वती - सिंधु संस्कृति को उससे भी प्राचीन काल से जोडती हैं। मुद्राओं के संदर्भ में अब तक विद्वान सहमत तो नही हुए है। परन्तु जितने भी प्रयास विभिन्न देशों के प्राच्यविद्या पण्डितों ने अबतक किये है उनमें सभीने मुद्राओं पर वेदकालीन ऋषियों के नाम या संज्ञाएँ पढी है। सम्भवतः सुमेर की संस्कृति का निर्माण उन्हीं लोगों ने किया जिन के पूर्वज सरस्वती - सिंधु संस्कृति से प्रथम से ही जुडे हुए थे। सुमेर के पौराणिक इतिहास के साथ ही भारत के पौराणिक आख्यान भी उसी दिशा में अङ्गुलि निर्देश करते हैं।

सूर्य वंश में बाहु पुत्र सगर विख्यात चक्रवर्ती हो गया। चण्ड प्रतापी हैहय राजाओं ने सगर के पिता को पराजित करके उसका राज्य छीन लिया था। सगर का जन्म वन में ही हुआ।

और्व मुनि के आश्रम में उन्होंने शिक्षा ग्रहण की। जामदग्न राम से आग्नेयास्त्र प्राप्त किया। वे भार्गव के महारौद्रास्त्र का भी उपयोग कर सकते थे। किशोरावस्था में ही उसने अयोध्या का राज्य प्राप्त किया। विशाल सेना का संघटन किया। मध्य देश पर विजय करके दक्षिण में हैहय राज्य पर उसने आक्रमण कर दिया। हैहयों को पूरी तरह से पराजित किया। भागते हुए अनेक राजाओं को आग्नेयास्त्र का उपयोग करके नष्ट किया। माहिष्मती, जो हैहयों की राजधानी थी, उसको जलाकर राख कर दिया। सगरपिता बाहु को पराजित करने में उत्तरापथ की यवन, काम्बोज, किरात और पल्लव सत्ताओं ने हैहयों की सहायता की थी।

सगर ने सिंधु नदी के पश्चिम में और गांधार के उत्तर में फैली हुई इन सत्ताओं पर आक्रमण कर दिया। यवन, शक, पारद और पह्लव इन राजाओं को परास्त किया। पराजित और मृत्यु से भयभीत राजाओं ने सागर के कुलगुरु वसिष्ठ की शरण ली। इस कारण उनकी जाने तो बची, परन्तु वसिष्ठ ऋषि ने उनको स्वधर्म और स्वदेश से बहिष्कृत कर दिया। सगरने यवनों के शीश मुँडवाये, शकों के आधे सिर को मुँडवाया पारदों को लंबे बालवाले बनाया और पह्लवों के मूछ दाढी रखवाई। स्वाभाविकतः अपमानित एवं स्वदेश से वञ्चित ये जातियाँ सगर के राज्य से दूर पश्चिम में निर्वसित हुई। परन्तु जहाँ भी वे गये सगर के नियमों की धाक कायम रही। ये जातियाँ संस्कारहीन होती गयी परन्तु मूलतः वे वैदिक परम्परा से संबंधित थे। व्रात्य होने के पूर्व उनकी भाषा संस्कृत ही थी।

सुमेरियन और सेमेटिक जाति का जो वर्णन हमें प्राप्त होता है वह इसी प्रकार का है। उत्तरी बॅबिलोनिया अर्थात् अक्काद में सेमेटिक और दक्षिणी भाग में सुमेरियन थे। सुमेरियनों का कद नाटा, नाक उँची और नुकीली, बाल काले तथा माथा पीछे की और ढलका होता था। ये सिर को सदैव केशरहित रखते थे। इसके विपरीत सेमाइट दाढी और लम्बे केश रखते थे। उत्तरापथ से निर्वासित यवन ग्रीस तक जा पहुँचे तो अन्य जातियाँ भी भिन्न भिन्न भूप्रदेशों में जाकर वसी। शताब्दियों के पश्चात् उनकी पीढीयों के ध्यान में इतना ही रहा कि उनके पूर्वज पूर्व दिशासे किसी सागर में से आये थे। आते समय कितनी जनजातियों और उनकी परम्पराओं, भाषाओं आदि का मिश्रण होता रहा। जब एक स्थान पर स्थिर हुए तो उन्हों ने अपनी निज की संस्कृति विकसित की। पाश्चात्य विद्वान उनको या तो आर्य नही तो द्रविड जाति मानते है।

प्रथम नगर राज्य

कलियुगाब्द पूर्व की प्रथम शताब्दि (खि. पू. ३२००) में सुमेरियन संस्कृति के नगर प्राप्त होते है। सुमेरी अभिलेखों से ज्ञात होता है कि जलप्रलय के पश्चात् क्रमशः किश, एरेक तथा उर नगर राज्यों पर सुमेरियनों का प्रभुत्व स्थापित हुआ था। उर का प्रभुत्व ऐतिहासिक घटना थी।

भारतीय पौराणिक इतिहास में भी उर के राज्य का संदर्भ आता है। ये नगर राज्य आपस में संघर्ष करते रहते थे। लगभग ३५० वर्षो तक इन नगरराज्यों ने सुमेरियन संस्कृति की परम्परा का निर्माण किया। बडे बडे सम्पन्न नगर बसाये। विशाल मन्दिर और भवन बनवाये। सुंदर मूर्तिओं का निर्माण किया। कृषि और व्यापार में उन्नति की।

सुमेर का यह आदिम प्रजातन्त्र था। संभवतः प्राचीन भारतीय गणराज्यों की परम्परा की स्मृति उनमें तब तक थी। साधारणतः प्रत्येक नगर में नागरिकों की एक संसद् थी, जिसमें दो सदन रहते थे। एक सदन में ज्येष्ठ नागरिकों की अधिकतम संख्या रहती थी। दूसरे सदन में अनुभवी और भिन्न भिन्न क्षेत्र के तज्ञ व्यक्तिओं को सदस्यता दी जाती थी। वेदों में प्राचीन भारतीय प्रजातन्त्र की व्यवस्था सुंदर पध्दतिसे स्पष्ट की है।

सभाच मां समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविधाने । " प्रजातन्त्र का संविधान था। संविधान के अनुसार प्रजापति शासन प्रमुख तो था परन्तु अलंकारिक रुपमें उसकी दो कन्याएँ थी, सभा और समिति। अर्थात् सभा (मंत्री परिषद) और समिति (विधान सभा) के माध्यम से प्रजापती शासन चलाता था। यही स्थिति सुमेर में थी। गिल्गामेश आख्यान में स्पष्ट रुप से बताया गया है कि उसको अपनी राजधानी एरेक की लोकसभा और सीनेट से प्रायः परमर्श करना पडता था। इस प्रकार विश्व की इस प्राचीन जनतंत्र की प्रेरणा निःसंशय भारत की थी।

परन्तु इस प्रकार की व्यवस्था में आकस्मिक संकटों के अवसर पर शासन शीघ्रता से निर्णय नही कर सकता था। बहुमत मे निर्णय होने तक प्रतीक्षा करना प्रायः घातक सिध्द हो सकता था। इसलिये संकट काल के लिये सर्वोच्च पदाधिकारी की नियुक्ति की जाने लगी। उसे पटेसी या 'लूगल' कहा जाता था। धीर धीरे यह अस्थायी लूगल पद स्थायी हो गया। आपसी संघर्ष के कारण वह पटेसी भी कहलाने लगा। 'पटेसी' देवता के प्रतिनिधि स्वरुप पद था। मन्दिर के प्रधान पुजारी महत्वाकांक्षी बनते गये। लूगल स्वयं को देवता के प्रतिनिधी (एनसि) मानने लगे। मन्दिरों में स्वयं की मूर्ति स्थापित करने लगे। सांस्कृतिक, धार्मिक और राजनैतिक शक्तियों का एक व्यक्ति में आविष्कार होते ही साम्राज्यवाद की कल्पनाने मूर्त रुप धारण कर लिया और व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा सम्पूर्ण शासन तंत्र पर हावी होने लगी।

प्रथम सम्राट सारगोन

सेमाइट वंश के शासक प्राचीन काल से अक्काद में बसे हुए थे। उनकी अपनी संस्कृति समुन्नत नही थी। उन्होंने सुमेरी संस्कृति को अपनाया। कलियुगाब्द तीसरी शती (ख्रि.पू. २८००) में अक्काद पर सारगोन प्रथम ने अपना शासन स्थापित किया। वह अक्काद के अधीन एक छोटे नगर का शासक 'दति एनलिल' का पुत्र था। परंतु सुमेरियन आख्यान में सारगोन के मुख से कहलाया गया है,

"मैं सारगोन शक्तिशाली राजा, अक्काद का राजा हूँ। मेरी माँ निर्धन थी ... अपने पिता को मैं नही जानता... मेरी माँ ने मुझे गुप्त रुप से जन्म दिया ... उसने मुझे एक नरकुल के सन्दुक में बंद कर दिया ... उसने मुझे नदी में छोड दिया... नदी मुझे बहाकर अक्की नाम के माली के पास ले आई ... अक्की ने मुझे पाल कर बडा किया... अक्की ने मुझे माली बनाया।",

आख्यान में आगे उसे अपनी योग्यता से किश के राजा की कृपा प्राप्त करते और अंत में विद्रोह करके स्वयं राजा बनते दिखाया गया है। वह महान् विजेता था। बॅबिलोनिया के उत्तर और पूर्व में स्थित गुती प्रदेश, जगरोस का पर्वतीय प्रदेश और एशिया माइनर का पूर्वी भाग उसने अपने अधीन कर लिया। भूमध्य समुद्र पार करके दक्षिण पूर्वी समूह पर भी तीन वर्ष तक उसने शासन किया। दिलमुन द्वीप जीतकर ईरान की खाडी तक राज्य का विस्तार किया।

सुमेर और अक्कद के सभी प्रमुख नगरो में उसने मन्दिर और राजप्रासाद बनवाएँ सुमेरियन विधि (कानून) और धर्म ग्रंथों को संपादित कराके सेमेटिक भाषा में उनका अनुवाद कराया। सुमेर के मन्दिरों में उनको सुरक्षित रखा। २००० वर्ष पश्चात् सम्राट असुर बनिपाल की आज्ञा से उनकी प्रतिलिपियाँ बनायी गयी। सरगोन ने समस्त साम्राज्य में संदेश - संचार-प्रणाली को व्यवस्थित रुप दिया। ऐसी महान् सफलताओं के कारण अक्कद वंश के अधिपत्य का काल 'सारगोन युग' कहा जाता है।

नरमसिन (नरसिंह)

सारगोन प्रथम का उत्तराधिकारी उसका तृतीय पुत्र नरम्सिन बना। वह अपने पिता के समान पराक्रमी था। कुशल सेनानी था। सुमेर और आक्काद का स्वामी ही नही... स्वयं को वह विश्व का स्वामी कहलाता था। राज्याभिषेक होते ही उसने विजय अभियान प्रारंभ किया। पूर्वी दिशा में लुलुबी के शासक सतुनी को पराजित करके अधीन बनाया। उसके भी आगे उत्तरी दिशा के प्रदेश जीतकर वहाँ के पर्वतों की चट्टानों पर अपनी यशोगाथा उत्कीर्ण करवायी। उन अभिलेख युक्त और चित्रयुक्त पाषाणों को वहाँ से उठाकर नगर में स्थापित कर दिया, जो वर्तमान दियार बेक के निकट है। दूसरे दौर में उसने पूर्वी अरब के मागन प्रदेश पर आक्रमण करके उसकी लूट की। लूट में उसे एक कीमती कलश प्राप्त हुआ। उत्खनन में वह कलश प्राप्त हो गया है। सुषा नगर की खुदाई से प्राप्त अभिलेख से पता लगता है कि उसने मागन के राजा दानू मुन्नु (दानव मनु) को आत्मसमर्पण करने के लिये बाध्य किया था। निप्पूर और बॅबिलोन पर भी नरमसिन् का शासन था।

एक पत्थर पर जिसे इतिहासकार नरमसिन् पाषाण कहते है नरमसिन्की विजय का दृश्य उत्कीर्ण है। उसके बाये हाथ में गदा और दाहिने हाथ में धनुष्य है। पैरों तले पराजित शत्रु

सतुली बाण से घायल होकर गिरा पडा है और गरदन से बाण के बाहर निकालने का प्रयास कर रहा है। पीछे भागती सेना का दृश्य है। सैनिकों के चेहरे दया की भीख माँगते हुए दिखाई देते है। शिल्प में पीछे और नीचे तलहाटीपर लगे वृक्षों पर नरमसिन् के सेनापति बाण, शूल हाथमें लिये चढते दिखाए गये है। नरमसिन् की दाढी बढी हुई है। उसने शिरस्त्राण धारण किया हुआ है। नरमसिन् के कन्धे के कसे हुए स्नायु उसकी अजेय शक्ति को प्रकट करते है। सुषा की खुदाई में यह नरसिंह पाषाण प्राप्त हुआ था।

निनेवे के उत्तरपूर्वी भाग में स्थित तेल ब्रेक में एक विशाल राजभवन के अवशेष प्राप्त हुए है। राजभवन ईंट से बना हुआ है। ईंटों पर नरमसिन के नाम खुदे हुए है। भवन लगभग ४०० फूट लंबा और ३०० फूट चौडा है। पाँच गोलाकार प्रांगण है। स्थापत्य एवं मूर्ति कला में सुमेरिय लोग प्रगत हो गये थे। प्रारंभिक काल की उरके प्रथम राजवंश की समाधियाँ प्राप्त हुई है। एक मन्दिर के सामने वृषभ की अत्यंत ओजपूर्ण मूर्ति मिली है। उसी के समीप द्वार पर सिंहमुखी चील की मूर्ति है जिसे हिरण के एक जोडे पर पंख फैलाए दिखाया गया है। उस से प्राप्त सर्वाधिक प्रसिध्द कलाकृति 'उर की पताका' कहलाती है, जिस में एक स्थल पर उर के शासक को शत्रु पर विजय पाने के बाद रथारुढ होकर लौटते हुए दिखाया गया है। शत्रु सैनिक बन्दी अवस्था में घसीट कर ले जाये रहे है। कुछ रथ के नीचे कुचले जा रहे हैं। अन्य एक दृश्य में विजय प्राप्ति के पश्चात मनाये जानेवाले समारोह का अंकन है।

सेमाईट वंश का शासन लगभग कलियुगाब्द ६०० (ख्रि. पू. लगभग २५००) तक रहा। दुंगी नामक शासक ने फिर सत्ता हाथ में ली। वह सुमेर वंशीय था। समस्त बॅबिलोनिया पर उसने अधिकार करके 'उर नरेश', चतुर्दिक् का स्वामी' तथा सुमेर और अक्काद का राजा आदि उपाधियाँ धारण की। उसने सुमेरी भाषा का फिरसे उपयोग शुरु किया। उसका महत्वपूर्ण कार्य था विधि संहिता का संकलन। आगे चलकर हम्मुराबी ने उसी संकलन के आधारपर अपनी विधि संहिता बनाई। सत्ता के लिये संघर्ष और आक्रमणों के कारण कलियुगाब्द की ११ वी शती में (ख्रि. पू. २१ शती) सुमेरियन सत्ता का ऱ्हास हो गया।

दार्शनिक विचार -

सुमेरि लोग समस्त विश्व को चेतन शक्तियों से परिपूर्ण मानते थे। उनकी श्रध्दा थी कि देवताओं के समूह का उनपर नियंत्रण रहता है। विश्व आकाश, जल, वायु और पृथिवी से बना है, यह उनकी धारणा थी। इसको नियंत्रित करनेवाले प्रमुख चार देवता थे। अन, एनलिल और एनकी ये देवता और निन्माह देवी थी। आदि काल में केवल जल ही जल था। पृथिवी याने 'की' देवी ... उसके गर्भ से आकाश का जन्म हुआ। पृथिवी चपटी है और आकाश गुम्बदाकार यह

उनकी कल्पना थी। विश्व को उन्होंने एक राज्य के स्वरुप में देखा अतः देवताओं के संसद् की कल्पना की। देवताओं के कर्तव्य और अधिकार निश्चित् थे। उदाहरणार्थ एनकी के आख्यान में उसे अपने क्षेत्र का परिभ्रमण करते हुए दिखाया गया है। वह जलराशियों को संग्रहीत करता है। दजला और फरात में स्वच्छ जल भरना है। उसके लिये एक निरीक्षक नियुक्त करता है। एनकी सुमेर के आर्थिक जीवन को उस प्रकार नियंत्रित करता है जिस प्रकार कोई मंत्री मानव राज्य के आर्थिक जीवन को।

आकाश देवता अन (बैबिलोनियन अनु) सर्वोच्च देवता याने देवराज था। एनलिल देवपिता ... सब देशों का, पृथिवी एवं आकाश का स्वामी था। एनकी जलदेव था। निन्माह, पृथिवी माता थी। उसे निनतु (जगज्जननी) कहा है। अग्नि देवी भी थी जो उनके शत्रुओं को जलाती थी। वे मन्त्रों द्वारा देवताओं से तादात्म्य स्थापित करते थे। एक मंत्र में अपने शरीर को रोग से बचाने हेतु मनुष्य मंत्रोच्चार करता है,

"मैं आकाश हूँ, तुम मेरा स्पर्श नही कर सकते
मैं पृथिवी हूँ, तुम मुझ पर जादू नही कर सकते।"

सुमेरी देवताओं के आख्यान पुराणों द्वारा वर्णित देवचरित्रों का स्मरण कराते है। सदाचार और नीतिमत्ता को सुमेर समाज में महत्वपूर्ण स्थान था। एक स्थान पर आदर्श समाज में विनयशीलता का स्थान बताते हुए सुमेर कवि कहता है,

वह दिन जब एक मनुष्य दूसरे से अशिष्ट व्यवहार नही करता
जब पुत्र अपने पिता का आदर करता है,
वह दिन जब भूमि का आदर किया जाता है और
छोटे बडों का आदर करते हैं,
जब छोटा भाई बडे भाई का सम्मान करता है,
जब ज्येष्ठ बालक छोटे को शिक्षा देता है, और
छोटा बच्चा उसकी आज्ञाओं को मानता है ...

सुमेरियन संस्कृति में कीलाक्षर लिपि का विकास हुआ और मिट्टी के पाटियों पर लेखन पध्दति पूर्णावस्था को प्राप्त हुई। मिट्टी की पाटियाँ धूप में सुखाने पर सख्त और आग में पका लेने पर पत्थर समान स्थायी होती थी। एक स्थान से दूसरे स्थानपर भेजना भी आसान हो जाता था। इस प्रकार से मिट्टी पत्र मिट्टी के लिफाफे में भी भेजे जाते थे।

सुमेरी साहित्य

इसी लेखन पध्दति के कारण सुमेरियन पुराण, आख्यान और धर्मग्रंथ सुरक्षित रहे। सुमेरियन नगरों में इसी कारण पुस्तकालयों का निर्माण हुआ। एक स्थान के पुस्तकालय में ऐसी ३०,००० मिट्टी की पाटियाँ मिली। आख्यानों में गिल्गामेश आख्यान विख्यात है। गिल्गामेश एरेक के प्रथम राजवंश का पाँचवा शासक था। उसके साहस की कथाएँ प्रचलित थी। कालांतर में बॅबिलोनियनो ने उन्हे एक सूत्र में ग्रंथित कर महाकाव्य का रुप दिया। असुर बनिपाल के पुस्तकालय में उसकी प्राप्ति हुई।

गिल्गामेश आख्यान में अंत में उसे अमरत्व प्राप्त करने के लिये प्रयास करता हुआ दिखाया गया है। मनुष्य सत्ता प्रतिष्ठा धन शौर्य सब कुछ पा सकता है परंतु अमरत्व नही प्राप्त कर सकता। गिल्गामेश को भी मृत्यु की शरण में जाना पडता है।

दूसरा प्रसिध्द आख्यान जलप्रलय का है, "एक बार देवता मनुष्य जाति को नष्ट करने के लिये जलप्रलय करने पर उतारु हो गये। एनकी ने ज्युसूद्र नामक व्यक्ति को यह रहस्य बताते हुए कहा, "शर्रुपाक के मानव, उबर्दूदु के पुत्र, घर को गिरा डाल। एक नौका बना। सम्पत्ति का मोह छोड और अपने जीवन की रक्षा कर। सारे जीवों के बीज चुन ले और नौका के बीच ला रख।"

जलप्रलय भयङ्कर था। सात दिन चलता रहा। ज्युसुद्र अपने परिवार सहित बच गया। अन्त में जब देवताओं का क्रोध शान्त हुआ तब ज्युसुद्र ने बलि देकर उनकी प्रसन्नता और अमरत्व प्राप्त किया। देवताओं ने उसे जहाँ सूर्योदय होता है वहाँ दिलमुन पर्वत पर ध्रुवस्थान दिया। यहुदियों के बाइबिल पर जलप्लावन के इसी आख्यान का प्रभाव है।

बॅबिलोनियन सभ्यता - सम्राट हम्मुराबी

सुमेरियन राजनैतिक शक्ति का ऱ्हास होने के पश्चात् फिर एक बार सेमाइट वंश का उत्कर्ष हुआ। मूलतः यह जाति अरबस्तान में रहनेवाली थी। शीघ्र ही उन्हों ने बॅबिलोनिया को केंद्र बनाकर अपनी सत्ता का विस्तार किया। बॅबिलोनियों का देवता मरुत (मर्दुक) था। सुमेरी देवता एनलिल और मर्दुक की अनन्यता प्रस्थापित करके उन्होंने 'बेल मर्दुक' की पूजा प्रचलित की। बॅबिलोनि वंश की स्थापना राजपद पर लगभग कलियुगाब्द ८७६ (ख्रि. पू. २२२५) में हुई हम्मुराबी के काल में (कलियुगाब्द ९७८ - १०२१, ख्रि. पू. २१२३-२०८०) उन की सत्ता शिखरपर जा पहुँची।

सभी नगरराज्यों को जीतकर एक साम्राज्य में समाविष्ट करना आसान नही था। प्रथम बीस साल तक उसे सफलता नही मिली। परंतु उसके पश्चात वह अपने अभियानों में सफल

हुआ। उसने सब शत्रुओं को परास्त करके विशाल साम्राज्य का निर्माण किया। वर्तमान सीरिया और पॅलेस्टाइन उसके साम्राज्य का प्रांत बना। इराण का पश्चिम भाग उसके अधीन हो गया था।

हम्मुराबी प्रतिभावान् शासक था। उसके मिट्टी की पाटियों पर उत्कीर्ण पत्र, सूचनाएँ, आज्ञाएँ, निर्णय इत्यादि प्रचुर संख्या में उपलब्ध हुए है। पञ्चांग में अतिरिक्त माह जोडने की आज्ञा, मन्दिर की आय के दुरुपयोग के आरोप की जाँच की आज्ञा, एरेक नगर में नहर की सफाई पूरी करनेकी आज्ञा, रिश्वत के आरोप की जाँच, कप्तान को जलपोत के साथ आगे बढने की आज्ञा, उर नगर में एक युध्दनौका व सेना भेजने की आज्ञा आदि विषय देखकर हम्मुराबी की प्रशासन की कुशलता और कार्यक्षमता का आभास मिलता है।

हम्मुराबी विख्यात हुआ अपनी विधि संहिता के कारण। विभिन्न प्रदेशों, राज्यों और जातियों के कानून और प्रथाएँ संग्रहीत करके उसने एक आदर्श विधि संहिता बनायी। ८ फूट उँचे पाषाण स्तम्भ पर ३६०० पंक्तियों में उसको उत्कीर्ण कराया। बॅबिलोन के मर्दुक के मन्दिर में उसे स्थापित किया गया। संहिता सेमेटिक भाषा में है। कुल २८५ धाराएँ है जो व्यक्तिगत सम्पत्ति, वाणिज्य, परिवार, अपराध, श्रम आदि अध्यायों में विभाजित है। स्तम्भ के उपरी भाग में उत्कीर्ण शिल्प है ... 'सूर्य देवता हम्मुराबी को संहिता प्रदान कर रहे है।' प्रांरभिक पंक्तिओं में देवताओं की स्तुति है। दुंगी की संहिता का उपयोग इस संहिता में किया गया है।

बॅबिलोनि देवताओं में मर्दुक, ईश्वर और तामुज ये सवोच्च देवता माने जाते थे। एरेक में ईश्वर देवी का सुप्रसिध्द मन्दिर था। शमस सूर्यदेवता थी। उसका प्रमुख मन्दिर लारसा में था। बॅबिलोनियों का भूत-प्रेत पर विश्वास था। वे मूर्तिपूजक थे। मन्दिर में देवताओं के पुजारी रहते थे। देवताओं को प्रसन्न करने के लिये भेडें बली चढाने की प्रथा थी। पुजारी ज्योतिष्य, भविष्य, शकुन, जानते थे। चान्द्र पञ्चांग का उपयोग करते थे। नववर्ष के प्रारंभ पर उस वर्ष का नामकरण किया जाता था। मन्दिर सें सेवक भी रहते थे। देवदासियों की प्रथा थी। देवदासी का व्रत धारण करनेपर उस स्त्री को ब्रहमचर्य का पालन करना अनिवार्य था।

सुमेरि और बॅबिलोनि देवताओं का निवास पर्वतों पर रहता था। देवताओं के लिये जिगुरात बनाये जाते थे। पर्वतीय मन्दिरों के वह पर्याय थे। जिगुरात विशाल होते थे पर कलात्मक नही। जिगुरात का एक महत्वपूर्ण उपयोग ज्योतिषियों को आकाश निरीक्षण की सुविधा प्राप्त करा देने का था। ग्रहों को देवता माना जाता था परन्तु उसका रहस्य पुजारी ही जानते थे। सुमेरियन आख्यानों का अनुवाद और रुपांतर सेमाईट भाषा में किया गया। 'गिलामेश' महाकाव्य तो पूरे पश्चिम एशिया में लोकप्रिय हुआ था। दूसरा लोकप्रसिध्द आख्यान था 'ईश्वर का पाताल अवतरण।'' आख्यानों के अतिरिक्त देवताओं के स्तोत्र एवं पूजा गीत (भजन) भी प्रचलित हुए थे। एक क्षमापन स्तोत्र में प्रार्थना है,

"हे ईश्वर!

मैं तेरा स्मरण करता हूँ ...

तेरा अभागा, व्यथित, रुग्ण दास ...

मुझ पर कृपा कर ... मेरी प्रार्थना स्वीकार कर,

मुझे मुक्ति दे ...

मेरी आत्मा को शान्ति दे ...

मुक्ति दे मेरे पतित शरीर को ... अशान्त शरीर को ...

अश्रुओं और उछ्वासोंसे भरे मेरे हृदय को ... मेरी अभागी, अशांत आतडियों को,

मुक्ति दे मेरे दुखी परिवार को, जो करुण स्वर में विलाप कर रहा है।

मुक्ति दे मेरी आत्मा को, जो अश्रुओं और उछ्वासों से आर्द्र है।"

लगभग तीन सौ वर्षों तक बॅबिलोनि वंश की सत्ता थी। कस्साइट जाति के विजेताओं ने हम्मुराबी के वंश के अन्तिम शासक को परास्त करके बॅबिलोन पर अपना अधिकार स्थापित किया।

बॅबिलोन में भारतीय वंशियों की सत्ता

कश्शु (कस्साइट) वंशीय निःसंशय भारतीय थे। पाश्चात्य विद्वान उनको आर्य मानते है। कस्साइट अश्वपालक थे। हम्मुराबी के एक अभिलेख में अश्व को पर्वतीय गधा कहा है। कस्साइट व्यापारी बॅबिलोन में अश्व लाते रहे होंगे। तब तक बॅबिलोन में अश्व मालूम नही था। कस्साइट देवताओं के लिये 'बुगश' शब्द का प्रयोग होता था, जिस का अर्थ है देव। इन्द बुगश याने इन्द्रदेव एक कस्साइट देवता था। सूर्य देवता का 'सूर्यश' नाम था। अन्य एक देवता था मरुत्तश याने मरुत। कस्साइट वंश का अन्य नाम था कश्शू। संभवतः कश्यप (कॅस्पियन) सागर के तट से विनिर्गत होने या कश्यप गोत्रीय होने के कारण वे कश्शु कहलाए गये।

कस्साइट भारत से प्रथम ईरान और वहाँ से एशिया मायनर में पहुँचे ईरान में कस्साइट उपनिवेश थे। कालान्तर में उन्होंने जगरोस पर्वतों के मध्यवर्ती भाग पर अधिकार किया। कलियुगाब्द १३९१ (ख्रि. पू. १७१०) में कस्साइट समुद्रतट तक का प्रदेश जीतने में सफल हुए। बॅबिलोन में कस्साइट नरेश 'गण्डाश' ने अपना अधिपत्य स्थापित किया। फिर अन्य नगरों पर भी अपनी अधिसत्ता निर्माण करके उसने सुमेर और अक्काद का स्वामी और 'चतुर्दिक् स्वामी' आदि उपाधियाँ धारण की। बेल मर्दुक के मन्दिर का पुनर्निमाण किया। प्रमुख नगर युध्द और आक्रमण से उध्वस्त हो गये थे। गण्डाश ने उनका भी पुनर्निर्माण कराया।

कस्साइट शासकों ने राजनैतिक सत्ता के साथ बॅबिलोन को एक समर्थ व्यापारी सत्ता के रुप में भी उन्नत किया। लगभग ७०० वर्ष बॅबिलोनिया पर कस्साइट शासन था। इस काल में

कस्साइट शासकों ने अपने आंतरराष्ट्रीय राजनीति का परिचय दिया। कस्साइट शासक बुर्नबरियाश ने मिश्र के फराओं को पाँच प्रशासनिक पत्र लिखे थे। बॅबिलोन उनके काल में आंतरराष्ट्रिय केन्द्र बन गया था। कलियुगाब्द १९१६ (ख्रि. पू. ११८५) में असीरिया और एलाम के आक्रमण के कारण कस्साइट साम्राज्य का पतन हुआ।

असीरिया का असुर साम्राज्य

ईराक के तीसरे उत्तरी खण्ड में असीरिया है जो बॅबिलोन से लगभग ४०० किलोमीटर उत्तर में है। कलियुगाब्द के प्रारंभ में (लगभग खि.पू. ३०००) अरबस्तान से स्थानांतरित सेमेटिक दजला के पश्चिम किनारे पर आकर बस गये और उन्होंने असुर नामक प्रथम नगर का निर्माण किया। असुर (वर्तमान कलात-शरघाट), अर्बेला (इर्बिल), कुल्खी (निमरुद) और निनवे (कुयुंजिक) ये असीरिया के चार प्रमुख नगर थे। कलियुगाब्द १७२६ (ख्रि. पू. १३७५) में असुर उबालित ने अपने राज्य को मिश्र और मितन्नि की दासता से मुक्त किया तब से मेसोपोटामिया के अंतर्गत इस राज्य की महत्वाकांक्षा जागृत हुई।

प्राचीन इराक के इतिहास में असीरियन साम्राज्य की स्थापना महत्वपूर्ण घटना थी कस्साइट साम्राज्य के पश्चात लगभग ५५० वर्ष तक इराक में उनकी सत्ता थी। सिरिया, एशिया मायनर, एलाम, मिश्र इन सत्ताओं से उनके संघर्ष होते रहे। प्रथम से ही असीरियन राजा अत्यंत क्रूरतापूर्वक साम्राज्य के शत्रुओं को दबाकर शासन करते आ रहे थे। अंतिम राजा असुरबनिपाल के पश्चात् उसी क्रूरता से असीरियन साम्राज्य का विघटन हुआ। असुर बनिपाल का शासन असीरिया, बॅबिलोनिया, आर्मीनिया, मीडिया, पॅलेस्टाइन, सिरिया, फिनिशिया, सुमेरिया एलाम और मिश्र पर था। इतने विशाल साम्राज्य पर अधिपत्य रखना आसान नही था। सांस्कृतिक दृष्टि से असीरियन शासकों ने सुमेरियन और बॅबिलोनियन परम्पराओं को अपनाया। विशाल साम्राज्य के कारण उसका प्रसार भी हुआ।

कॅल्डियन वंश

असीरिया के विघटन ने बॅबिलोनिया में एक नये राजवंश को जन्म दिया। जब असीरियन साम्राज्य का उत्कर्ष हो रहा था तब से आर्मेनियम और कॅल्डियन जातियाँ भी बॅबिलोन में प्रवेश करके छोटे कबीलों के रूप में बस रही थी। कॅल्डियन लोगोंने बॉबिलोनियन संस्कृति को अपनाया था। कलियुगाब्ध २३८० (ख्रि. पू. ७२१) में कॅल्डियन सरदार मर्दुक बालादान ने अपनी जाति संघटित की और असीरियन सत्ता के विरुध्द युध्द छेडा। १२ वर्ष तक बॅबिलोन पर उसने स्वतंत्र सत्ता के रुप में शासन किया। परन्तु सारगोन द्वितीय ने फिर से उसको अपने अधीन किया। असुर बनिपाल ने उनकी शक्ति देखकर नेबोपोलसर नामक कॅल्डियन व्यक्ति

को बॅबिलोन का राज्यपाल नियुक्त किया। असुरबनिपाल की मृत्यु के एक वर्ष पश्चात ही नेबोपोलसर ने स्वयं को स्वतंत्र शासक घोषित कर दिया। निनेवे पर आक्रमण करके असीरियन शक्ति को तोड डाला।

कलियुगाब्द २४९७ (ख्रि. पू. ६०४) से २५३९ (ख्रि. पू. ५६२) के काल में एक महान कॅल्डियन शासक 'नेबुचडनेसर' ने अपने कर्तृत्व से प्राचीन इराक के इतिहास के पन्नेपर अपना नाम अंकित कर दिया। हम्मुराबी के समान वह महान विजेता तथा निर्माता था। लेबनान तक अपने राज्य का विस्तार कर के वहाँ पर उसने वादी ब्रिस्सा में अपना अभिलेख उत्कीर्ण कराया। उसपर उसने स्वयं को सिंह से लढ़ते हुए दिखाया था। उत्खनन में प्राप्त एक शिल्पांकित पाषाण पर तो ये शब्द उत्कीर्ण है "क्या यह गौरवशाली बॅबिलोन नही है जिसका निर्माण मैं ने किया है?"

नेबुचडनेसर ने उध्वस्त बॅबिलोन का पुनर्निमाण किया। मन्दिरों और राजभवनों का पुरर्निर्माण किया। बॅबिलोन को उसने दो प्राचीरों से घिरा हुआ दुर्ग और तटबन्दी युक्त नगर बनाया। भव्य सुंदर भवन बनाये जिनके रंग बिरंगे ईंटो पर उमडे चित्र उकेरे गये थे। दुर्ग से मर्दुक मंदिर तक का विस्तीर्ण मार्ग विजय मार्ग कहालाता था। ईश्वर द्वार से जाते हुए इस मार्ग पर दोनों ओर सुंदर मूर्तियाँ बनवाई गयी थी। ईश्वर द्वार के पीछे नेबुचडनेसर का प्रासाद और कार्यालय था। यही पर द्वार के पास ६५० फूट उँचा भव्य जिगुरात था। प्रासाद के निकट स्तंभोंपर बनाए हुए झूलते बाग थे। यह बाग मीडियन रानी (उवक्षत्र की पुत्री) के लिये बनाये गये थे। फरात का जल ऊपर चढाने के लिये जलयन्त्र लगे हुए थे।

कैल्डियन सत्ता भी नेबुचडनेसर के पश्चात् शीघ्र ही समाप्त हुई। ईरान के शक्तिशाली राजा कुरु और उसका उत्तराधिकारी झर्जेस इनकी महत्वाकांक्षा ने कैल्डियन सत्ता का पूर्ण विनाश किया। सुमेरियन संस्कृति की परम्परा लुप्त हो गयी।

ईरान की अधिसत्ता के पश्चात् ग्रीक नरेश अलेक्झांडर ने बॅबिलोन पर अपनी सत्ता स्थापन की। ग्रीक सत्ता के पश्चात् पार्थियन, रोमन और ससानिड सत्ताओं ने इराक को अपने अधीन रखा। कलियुगाब्द ३८ (ख्रि. ७) वी शताब्दि में मुस्लिम संप्रदाय का प्रभुत्व स्थापित हो गया। कूफा और बसरा मुस्लिम सत्ता के केंद्र बन गये। मुस्लिम सत्ता को किसी संस्कृति, की परम्परा थी ही नही। वे मूर्तिपूजा के विरोधी थे। लगभग साढ़े तीन सहस्त्र वर्षो से चलती आ रही प्राचीन इराक की संस्कृति परम्परा और इतिहास उनकी दृष्टि में महत्वहीन था। प्राचीन इराक के गौरवमय वैभवशाली मानवी संस्कृति के इतिहास की वह मृत्युघण्टा सिध्द हुई।

युरोप

इटली में राम कथा -

खुले केश कंधे पर बिखरे हुए ... मूँछ नही पर घनी दाढ़ी ... कमरतक बनियन जैसा खमीस ... कमर में छोटा कटिवस्त्र (निकर) ... पाँव में घुटने के थोडे नीचे तक चमडे का उपानह (बूट) ... बाये हाथ में लगभग तीन फूट लम्बा धनुष और दो बाण ... और दाहिना हाथ चलने का सङ्केत करता हुआ ऊपर उठाया हुआ ... कैसी निराली वेशभूषा परंतु चित्र देखतेही कोई भी भारतीय उसकी पहचान श्री राम की प्रतिमा से ही करेगा।

श्रीरामजी के पीछे चल रही है सीता जी । वस्त्र भारतीय नही लगते ... घुटने तक लम्बा खमीस जैसा वस्त्र ... नीचे कमर से पाँव तक लपेटा हुआ कटिवस्त्र ... दाहिने हाथ में एक वृक्ष की टहनी... संभवतः तुलसी का पौधा मात्र केशभूषा भारतीय नारी के समान दिखती है। सीताजी के पीछे लक्ष्मण भय्या दिखाई देते है। श्रीरामजी के समान ही वेशभूषा ... दाहिना हाथ कुहनी में मोडकर उपर किया हुआ... जैसे कि कह रहे है ..."आप दोनो निश्चिन्त होकर चले, मै हूँ आप के पीछे"। लक्ष्मण भय्या के बायें हाथ में धनुष्य नही है ... लगभग छः फूट लंबा शूल (भाला) है।

इटली के सर्वेतेरी से प्राप्त पटियापर यह राम,सीता, लक्ष्मण के वनगमन का चित्र है। रामायण के अरण्यकाण्ड में वर्णन है कि वन में चलते समय प्रभुरामचन्द्र, उन के पीछे सीता जी और पीछे लक्ष्मण जी चल रहे थे। इटली में कलियुगाब्द २००० (ख्रि.पू. १०००) के लगभग टायबर नदी की घाटी में एत्रुस्कन संस्कृति विद्यमान थी। संभवतः यह इटली की प्रथम समृध्द सभ्यता थी जो पाँच सौ वर्षों तक प्रभावशाली रही। उसके पश्चात् रोमन संस्कृति को भी इस एत्रुस्कन संस्कृति ने प्रभावित किया। रामायण के कतिपय घटनाओं के चित्र इटली के तर्किनिया और सर्वेतेरी प्रदेश में पटियों पर, दीवारों पर, कास्यदर्पण, फूलदान आदिपर प्राप्त हुए है। ये सभी चित्र एत्रुस्कन कला का अविष्कार है।

कितनी आश्चर्यजनक बात है कि ढाई हजार वर्ष पूर्व सुदूर युरोप में रामायण कथा पहूँच चुकी थी। मध्य एवं पश्चिम एशिया में तो उस काल में भारतीय उपनिवेश थे ही। ईरान, इराक, तुर्कस्तान की प्राचीन सभ्यताओं पर भारतीय संस्कृति का प्रभाव था। युरोप में भारतीय संस्कृति के जो पदचिन्ह प्राप्त होते है वे संभवतः पश्चिम एशिया की सभ्यताओं के माध्यम से संक्रमित हुए।

एत्रुस्कन सभ्यता -

एत्रुस्कन्स एशिया मायनर (लिडिया - वर्तमान तुर्कस्तान) से जलमार्ग से एटुरिया (इटली) में आये ऐसा माना जाता है। कलियुगाब्द २००० (ख्रि. पू. ११००) के लगभग मिनोनिअस नामक लिडियन्स के मूलपुरुष ने फ्रिजियन सत्ता को पराजित करके एशिया मायनर में लिडियन वंश की सत्ता स्थापित की। वे सूर्य पूजक थे। शिवपूजक थे। देवताओं के मंदिर में प्रतिदिन पूजा अर्चा चलती थी। एशिया मायनर पर सत्ता स्थापित हुई उसके पश्चात् कुछ कारणवश लिडियन्स के जनसमूह जलमार्ग से इटली के पश्चिमी सागरतट पर पहुँचे जो इत्रुस्कन कहलाये गये। हो सकता है लिडियन्स की एक शाखा जो एत्रुस्की कहलाती थी, अकाल सदृश नैसर्गिक आपत्ति के कारण इटली में चली गयी।

इटली में प्रवेश के पूर्व एत्रुस्कन्स भारतीय संस्कृति से प्रभावित थे। वाणिज्य में कुशल थे। साहसी योध्दा भी थे। व्यापार के कारण निष्कासन के पूर्व भी कई पीढियों से इटली के स्थानिक लोगों से वे परिचित थे। वर्तमान रोम के आसपास जो स्थानिक इटालियन जातियाँ थी वे एत्रुस्कन भाषा बोलने लगी थी। टायबर नदी के दक्षिणी तट पर एत्रुस्कन्स ने अपने बारह उपनिवेश स्थापित किये जो नगरराज्य बन गये। उनमें तारकिन्या, शिंरी, कोर्तोना, वोल्लेरा, कोसा, पेरुजा आदि महत्वपूर्ण नगर थे। कृषि एवं छोटे व्यवसाय के निमित्त अनेक ग्राम भी वसते गये। नगर में प्रमुखतः क्षत्रिय (सरंजामशहा) वणिक् (व्यापारी) तथा धर्मगुरु इनकी संख्या थी।

प्रतिवर्ष एक बार प्रमुख नगरों के प्रतिनिधी इकठ्ठे आते थे। विचार विमर्श होता था। प्रत्येक नगर का शासन स्वतंत्र होते हुए भी सुसूत्रता स्थापित करने के लिये यह सम्मेलन फलदायी सिध्द होता था। सब नगरों को जोडनेवाले मार्ग बनाये गये थे। कलियुगाब्द २५०० (ख्रि. पू. ६००) के लगभग एत्रुस्कन सत्ता प्रभावी हो गयी थी। व्यापार समृध्द हो गया था। साहसी नाविकों की परम्परा होने के कारण शीघ्र ही उन्होंने कॉर्सिका, एल्बा, सार्दीनिया, बाल्टीक द्वीप तथा स्पेन के सागरतट पर अपने उपनिवेश स्थापित किये। रोम भी उनके अधीन था।

एत्रुस्कन्स की भारतीय संस्कृति -

एत्रुस्कन्स को समाज के रुप में एक सूत्र में बाँधनेवाला उनका धर्म था। एत्रुस्कन भाषा में उत्कीर्ण ८००० से अधिक अभिलेख प्राप्त हुए है। कुछ धातुपत्र भी है। अभिलेख में प्रमुखतः व्यापार, व्यवसाय, आयव्यय आदि विषय है। बहुत से अभिलेखों में धार्मिक विधि, देवताओं के नाम, अर्चना विधि और पंचांग के संदर्भ में जानकारी मिल जाती है। एक मृत्पात्र पर उत्कीर्ण तीन सौ शब्दों के अभिलेख में यज्ञ के समान एक धार्मिक विधि वर्णित की है।

एत्रुस्कन निसर्ग पूजक थे। साथ ही अनेक देवताओं की मूर्तियाँ बनाकर उनकी पूजा करते थे। प्रत्येक गाँव में मन्दिर थे। गाँव का प्रमुख पथ, चौराहा देवता के नाम किया जाता था। कभी पूरा गाँव मन्दिर के नाम पर किया जाता था। प्राचीन सभ्यताओं में धार्मिक विधि में बलि चढाने की प्रथा सर्वमान्य दिखाई देती है। वृषभ और बकरी बलि चढाने के लिये पवित्र माने जाते थे। पशुओं के यकृत पवित्र माने जाते थे। एत्रुस्कन्स भी यकृत की आकृति को पवित्र व महत्वपूर्ण मानते थे। एक ब्राँझ की यकृताकृति पर देवताओं के नाम उत्कीर्ण किये हुए थे जिसमें तिनीओ, सेथलनस, मारीश, उनी, मिनर्वा आदि देवताओं का उल्लेख है।

मन्दिर में तो लोग जाते ही थे। प्रायः हर एक के घर में भी प्रतिदिन पूजा करने की प्रथा थी। प्रधान देवताओं के साथ क्षुद्र देवताओं को भी पूजाघर में स्थान दिया जाता था। एत्रुस्कन समाज में पुरोहित सन्मानित और महत्वपूर्ण व्यक्ति था। वह धर्मगुरु था। पुजारी था। अंतिम संस्कार करने का अधिकार भी उसे ही था। एत्रुस्कन्स ज्योतिष पर विश्वास करते थे और मंत्र तंत्र पर उनकी श्रध्दा थी। इस कारण पुरोहित वर्ग का समाजपर भारी प्रभाव था। मारे हुए पशुओं के यकृत की परीक्षा करके पुराहित शुभ-अशुभ घटनाओं को प्रकट करते थे। युध्द के समय सेनासञ्चालन करने का उत्तरदायित्व भी पुरोहित निभाता था। दोनो हाथोमें जलती मशाल लेकर या जीवित सर्प लेकर वह सेना के अग्रभाग में खडा रहता था। मृत्यु के पश्चात् व्यक्ति के जीवनपर पुरोहित का अधिकार रहता है यह उनकी कल्पना थी।

मृत व्यक्ति, उसका परलोक प्रवास, उसकी आत्मा इस संदर्भ में एत्रुस्कन्स संवेदनशील थे। मृत व्यक्ति के सन्मान में क्रीडा, नाट्य, संगीत आदि की स्पर्धाएँ रखी जाती थी। शवोंके दहन और दफन दोनो पध्दतियाँ प्रचलित थी। तारकिन्या और शिरी के स्मशान भूमी का अवलोकन करने पर दिखाई देता है कि मृत व्यक्ति का शरीर या अस्थियाँ जहाँ दफनाई जाती थी, उस पर उस व्यक्ति के प्रतिष्ठा योग्य इमारत खडी करते थे। दीवारों पर चित्रकारी होती थी। प्रतिदिन के व्यवहार में उपयोगी वस्तुएँ वहाँ रखी जाती थी। उसमें सुवर्ण के अलंकार, वस्त्र, रंगीत पात्र इत्यादि वस्तुओं का समावेश रहता था। सुवर्ण पात्र, शवपेटिका, कास्य दर्पण, अन्य पात्र इनपर अभिलेख प्राप्त हुए है। एत्रुस्कन संस्कृति तथा भाषा का प्रभाव इजिप्त में भी दिखाई देता है। इजिप्त में शवपेटिका में रेशम का वस्त्र प्राप्त हुआ है, जिसपर १५०० शब्दों का अभिलेख है। वस्त्र का आकार गौ के यकृतसमान है और लेख एत्रुस्कन भाषा में है।

एत्रुस्कन्स ने इटली को प्रथम रथ का परिचय कराया। कांस्य और लोह इन धातुओं का भी इटली में प्रथम प्रयोग उन्होंने किया। ग्रीक संस्कृति से संपर्क आने पर एत्रुस्कन्स ने उनकी कुछ विशेषताँए आत्मसात की। रोमन संस्कृति पर एत्रुस्कन प्रभाव दिखाई देता है। एत्रुस्कन नगररचना

शिल्प का वास्तव चित्रण, फलज्योतिष इत्यादि, रोमन्स ने एत्रुस्कन सभ्यता से प्राप्त किया। लगभग पाँच सौ वर्षो तक एत्रुस्कन सभ्यता का समुचित विकास होता रहा। एत्रुरिया (वर्तमान टस्कनी) और कार्थेज में कलियुगाब्द २५६७ (ख्रि. पू. ५३५) में एक राजकीय संधि हुई जिस के परिणाम स्वरुप एटुरिया ग्रीस और कार्थेज के बीच हुए युध्द में सम्मिलित हुआ। आगे भी ग्रीक सत्ता से संघर्ष होता रहा। उत्तर से गेलिक आक्रमण भी प्रारंभ हुए थे। जलमार्ग से व्यापार यह एत्रुस्कन्स की सत्ता का आधार था। ग्रीस के साथ संघर्ष मोल लेने पर व्यापार पर प्रतिकूल परिणाम हुआ। फिर भी तीन सौ साल तक एत्रुस्कन्स का राजकीय प्रभाव रहा। रोमन साम्राज्य का उदय हो रहा था। उनकी संघटित सत्ता प्रभावशाली हो रही थी। ऐसी स्थिति में एत्रुस्कन्स में आंतरिक संघर्ष ने भी भीषण रुप धारण किया। संकलित परिणाम यह था कि कलियुगाब्द ३०१४ (ख्रि. पू. ८८) में एत्रुस्कन्स की राजकीय सत्ता पूर्णतः नष्ट हो गयी।

रोम (राम) संस्कृति

एत्रुस्कन सत्ता तो नष्ट हो गयी परंतु उनका सांस्कृतिक प्रभाव कुछ मात्रा में अखण्डित रहा। रोम की संस्कृति का अधिष्ठान एत्रुस्कन संस्कृति था। रोमन शासक वर्ग और रोमन धर्मगुरु (पुरोहित) इनके लिये एत्रुस्कन भाषा का अध्ययन अनिवार्य था। विशेषतः धार्मिक विधि, प्रार्थना, पूजा, यज्ञविधि इनके मंत्र एत्रुस्कन भाषा में थे।

जनश्रुति के अनुसार रोम नगर और रोमन साम्राज्य की स्थापना कलियुगाब्द २३४८ (२२, एप्रिल ख्रि. पू. ७५३) में की गयी। प्रत्यक्ष रोम नगर की स्थापना के पूर्व आठ पीढियों ने राज्य किया था। लेशियम के एक प्राचीन नगर में रोमन वंश के मूल पुरुष अनिअस (अनु) का जन्म हुआ। वह अफ्रोदिती देवी का पुत्र था। अनु वंश के नौवी पीढी का राजा था नुमितार। इमिलिअस ने उसे मारकर सत्ता हासिल की। नुमित्तार की कन्या रिआ सिल्विआ भागकर जान बचाने में सफल हुई। मार्स देवता से उसके दो पुत्र हुए। रोमुलस और रेमुल -- दोनो जुडवा भाई थे। जब वे युवा हुए तो उन्हों ने लोगों को संघटित किया। इमिलिअस को युध्दभूमि पर मार डाला। रोमुलस ने टायबर नदी के मुहाने से २४ किलोमीटर दूर नदी के उत्तरी तट पर एक पहाडी पर 'रोम' नगर की स्थापना की। रोम्युलस शासक के नाते अभिषिक्त हुआ। यही महान् रोमन साम्राज्य की नींव थी। धीरे धीरे रोम पडोस की छः पहाडियों पर फैल गया और सात पहाडीयों का नगर कहलाने लगा। एक मुख्य नदी के तट पर होने के कारण और नदी द्वारा समुद्र से जुडा होने के कारण विदेशी व्यापार के लिये आदर्श स्थान था। दूसरे, पहाडियों पर बसा होने और समुद्र से हटकर स्थित होने के कारण स्थल और जलमार्गों से हो सकनेवाले आक्रमण से भी सुरक्षित था।

जनश्रुतियाँ, रोमन देवताओं और उन के धार्मिक विधि देखकर लगता है कि एत्रुस्कन संस्कृति को उन्होंने अपना लिया था। रोम, रोमुलस, रेमुस ये संज्ञाएँ राम नाम से सबंधित है। रोमन्स की भाषा लॅटिन थी। पाश्चात्य पण्डीत लॅटिन व संस्कृत दोनो भाषाओं को इंडो युरोपिअन मानते है । लॅटिन और ग्रीक भाषाएँ संस्कृत भाषा से साम्य रखती है। युरोप की वर्तमान संस्कृति रोमन और ग्रीक सभ्यता की परम्परा है।

इटली एक प्राय द्वीप है, जिसका क्षेत्र ३,०१,१९५ वर्ग किलोमीटर है। सार्डीनिया कोर्सिका और सिसिली ये द्वीप भी प्राचीन कालमें सभ्यता की दृष्टी से इटली से जुडे हुए थे। रोम की स्थापना के पश्चात् एटुरिया (वर्तमान टस्कनी, एत्रुस्कन्स का राज्य) से संघर्ष स्वाभाविक था। फिर भी एत्रुस्कन्स और रोमन्स (लॅटिन भाषी) इटली के स्थानिक समझे जाते थे, जब की ग्रीक विदेशी माने जाते थे। लगभग छः सौ वर्षों तक रोमन तथा एत्रुस्कन दोनो सत्ताएँ इटली में थी। प्रारंभिक काल में रोम गणतन्त्रवादी था। परन्तु एत्रुस्कन्स जब निष्प्रभ हुए तब सम्पूर्ण इटली पर रोम का अधिपत्य स्थापित हो गया। शीघ्र ही लगभग सारे युरोप पर रोमन साम्राज्य फैल गया। यही कारण है कि युरोप के लगभग सभी देश रोमन परम्परा से जुडे हुए है। भारत के साथ रोम के व्यापारिक संबंध थे। भारत से सुवर्ण, रजत, मोती, हीरे, तथा अन्य मूल्यवान धातु के अलंकार, रेशम के वस्त्र, कार्पेट्स, सजावट की वस्तुएँ, विविध पशुओं की चमडी, सुगंधी द्रव्य, मयुर, तोते जैसे पक्षी, इनका समावेश आयातित वस्तुओं में था। इन वस्तुओं की तुलना में रोम से निर्यात होने वाली वस्तुएँ नगण्य थी। स्वाभाविकतः रोम को उनकी सुवर्णमुद्राओं में इनका मूल्य देना पडता था। दक्षिण भारत में आंध्र एवं तामिलनाडु में सैंकडो की संख्या में रोमन साम्राज्य की सुवर्णमुद्राएँ प्राप्त हुई है। रोम से भारत के पूर्व व पश्चिमी सागरतट पर एक वर्ष में लगभग १२० व्यापारी जलपोत आते होंगे।

सूर्यपूजक रोम

रोमन धर्म में प्रांरभ में, अर्थात् ईसाई धर्म के प्रचार के पूर्व अग्निपूजा एवं सूर्यपूजा प्रचलित थी। एत्रुस्कन भाषा में जो मंत्र और प्रार्थनाएँ थी उनके उच्चार के साथ अग्नि में हवन किया जाता था। ग्रीक संस्कृति में यज्ञ होते थे। ग्रीक संस्कृति का भी प्रभाव रोम पर था। इटली में प्रथम तीन प्रकार का देवता मण्डल था। स्थल देवता, गृह देवता और भू देवता। इसके सिवा वायु, आप और तेज की उपासना भी चलती थी। 'ज्युपिटर' प्रधान देवता थी। रोम में तथा अन्य नगरों में ज्युपिटर और अन्य देवताओं के भव्य मन्दिर थे। घरघर में भी पूजा और प्रार्थना होती थी। ज्युपिटर वैदिक संस्कृत द्यौ-पितृ से उद्गत है तथा उसकी अवधारणा बृहस्पति के समान थी।

पुरोहित वर्ग प्रभावशाली था। यज्ञ, अर्चना, प्रार्थना, भविष्य कथन, शुभाशुभ मुहूर्त, और उपासना विधि के लिये पुरोहित की आवश्यकता थी। न्यायदान में दण्डविधि की व्याख्या और मार्गदर्शन करनेवाले पुरोहित ही थे। प्रमुख १२ पुरोहित होते थे जो शासक, सेनापति, अमात्य आदि महत्वपूर्ण व्यक्तियों का निर्वाचन भी करते थे। एत्रुस्कन्स के देवता और उन की उपासना को रोमन संस्कृति ने अपना लिया था।

भूमध्य सागर के पास के स्पेन, ग्रीस, सीरिया, इजिप्त आदि देश तथा इंग्लंड और जर्मनी के कुछ प्रदेश रोमन् साम्राज्य में थे। मॅसिडोनिया, थ्रेस और एशिया खण्ड में स्थित कृष्ण सागर के दक्षिण का पार्थिया तक के विशाल भू भाग पर रोमन सत्ता का अधिकार था। रोमन वास्तुकला, मूर्तिकला और चित्रकला का आविष्कार इन सारे देशों में दिखाई देता है। इटली में एक पहाडी पर स्थापित छोटा देहात तीन खण्डों के विशाल भूमीपर फैले साम्राज्य में परिवर्तित हो गया। कलियुगाब्द ३७ (ख्रि ५) वी शती में हूण और अन्य जंगली जातियों के आक्रमण हुए। आंतरिक संघर्ष, सत्तास्पर्धा, सामाजिक एवं आर्थिक अधःपतन आदि कारणों से इस महान् साम्राज्य का पतन हुआ।

इजिअन सभ्यता

"सुदूर ... गहरे नीले सागर में,
चारों ओर से सागर की लहरों से स्पर्शित
कृति द्वीप!
समृध्द और सुन्दर भूमि,
जिसे अपने नब्बे नगरों पर गर्व था,
उसी में से एक नगर में शासन करता था,
मनु!
सर्वशक्तिमान् द्यौ भी उसे मित्र का सन्मान देता था।" (ओडीसी)
(Out in the deep, dark sea there lies a land of Kriti,
A rich and lovely land, washed by the waves on every sides
And boasting ninety cities
On of these cities king Minos ruled
And enjoyed the friendship of almighty Zeus.)

भूमध्य सागर और इजियन समुद्र को पृथक करनेवाला यह द्वीप यूनान के दक्षिण में है। इस द्वीप का क्षेत्र फल है ८३३१ वर्ग किलोमीटर। अफ्रिकन सागरतट से उत्तर में २५६ किलोमीटर और ग्रीस के दक्षिण पूर्व दिशा में ग्रीस से १५६ किलोमीटर दूरी पर यह द्वीप है। तुर्कस्तान के पश्चिम किनारे पर स्थित प्राचीन ट्रॉय नगर और क्रीट के बीच का अंतर लगभग ५०० किलोमीटर है।

यद्यपि इस द्वीप को क्रीट (Crete) कहा जाता है इसका प्राचीन नामोच्चार 'कृति' (Kriti) है। युरोप की प्राचीन सभ्यता का प्रथम आविष्कार इस कृतिद्वीप (क्रीट) पर दिखाई देता है। कलियुगाब्द के प्रारंभ में क्रीट में एक महान् समृध्द संस्कृति का उद्भव हुआ। पाँच सहस्त्र वर्ष पूर्व का यह कालखण्ड मानवजाति के इतिहास में महत्वपूर्ण है। पश्चिम एशिया की सुमेरियन सभ्यता, मेसो अमेरिका (मेक्सिको) की स्थानीय सभ्यता, सिंधु संस्कृति से अपना घनिष्ठ संबंध बताती है। यही वह काल है जब भारतीय संस्कृति का प्रभाव विश्व की सभी सभ्यताओं पर छाता जा रहा था। जलमार्ग से इन सभी सभ्यताओं का परस्पर संबंध था। भूमिमार्ग से एशिया माइनर तक फैली प्राचीन सभ्यता सागर मार्ग से इजियन सागर में स्थित सभी द्वीपों पर पहुँचना स्वाभाविक लगता है। इस प्रकार युरोप की प्राचीन सभ्यता एशिया के उसकाल की संस्कृति की देन है। फिर भी कुछ पाश्चात्य विद्वान मानते है कि क्रीट की सभ्यता इजिप्त (मिश्र) के सभ्यता की शाखा मात्र थी। लेकिन बहुतांश प्राच्य विद्या पण्डितों की सहमती के अनुसार क्रीट को सभ्यता की परम्परा प्राप्त करा देनेवाले 'इन्डो युरोपियन' ही थे।

भूमध्य सागर का उत्तरी भाग इजियन समुद्र कहलाता है। इसका तट चारो ओर खाडियों के द्वारा खूब कटा-फटा हुआ है। उपयुक्त बन्दरगाहों से पूर्ण है। इस इजियन सागर में असंख्य छोटे बडे द्वीप है। चार भागों मे यह इजियन प्रदेश विभाजित किया जा सकता है। एक है यूनान अर्थात् ग्रीस, दूसरा है क्रीट, तीसरा है एशिया माइनर का पश्चिमी तट और चौथा विभाग है इजियन सागर में डेलोस द्वीप के चारो ओर स्थित द्वीप समूह जो सायक्लेड्स कहलाता है। इन सारे भूप्रदेशों की प्राचीन सभ्यता, इजियन सभ्यता कहलाती है। यूनान में थ्रेस, एपिरस (साधारणतः वर्तमान अल्बानिया), मेसोडोनिया, ग्रीस और पास के अनेक छोटे द्वीप समाविष्ट है। इजियन सभ्यता के प्रमुख केन्द्र अथेन्स, थ्रिब्ज, फोसिस (डेल्फी), मायसिनी, टिरींज, स्पार्टा यूनान में थे।

इजियन प्रदेश के प्राचीन इतिहास को प्रकाश में लाने का मुख्य श्रेय जर्मनी के एक व्यापारी हेनरिख श्लीमन को प्राप्त है। वह होमर के महाकाव्य का प्रेमी था। पुरातत्त्व की सहायता से उनकी कथा को सिध्द करना चाहता था। पेट्रोल के व्यापार में धन कमाने के उपरान्त

उसने कलियुगाब्द ४९७३ (खि.१८७१) में एशिया माइनर में ट्रॉय की खुदाई प्रारंभ की। एक वर्ष के निरन्तर परिश्रम के बाद उसे स्वर्ण और रजत का खजाना प्राप्त हुआ। इसके बाद वह एक के उपर एक दबे हुए ९ ट्रॉय नगरों को प्रकाश में लाने में सफल हुआ। दो वर्ष के उपरान्त उसने एगमेम्नान की ऐतिहासिकता सिध्द करने के लिये मायसिनी में उत्खनन किया। दस वर्ष के पश्चात् टिरींज के स्थानपर उसने प्राचीन नोसोस का स्थान अनुमानित किया था। डॉ. आर्थर इवान्स ने बाद में वहाँ पर उत्खनन किया। श्लीमान का अनुमान सही था। नोसोस के अवशेष प्राप्त हुए।

एक के बाद एक पुरात्तात्विक स्थल उत्खननित किये गये। इजियन सभ्यता प्रकाश में आयी। पूरे इजियन प्रदेश में चित्राक्षर लिपि के सेंकडो अभिलेख भी प्राप्त हुए। अभिलेख की पढाई में अभी तक विद्वानों में सहमति नही है। इजियन तिथिक्रम, राजकीय इतिहास, सभ्यता के निर्माताओं का मूल इत्यादि बाते निश्चिततासे कही नही जाती। प्रथम तो प्राचीन कवि उनके महाकाव्य, पुराण ग्रंथ इन पर भी विद्वान विश्वास नही करते थे। उनका एक स्वभाव रहता है। वैज्ञानिक निष्कर्ष पर भी सन्देह प्रकट करते है। अपने ही पूर्वज पाँच सहस्त्र वर्ष पूर्व पाँच छः माह तक सागर की लहरों से जूझते प्रवास करते थे, विश्व के नये नये भूमि पर उपनिवेश स्थापित करते थे, समृध्द सभ्यता का निर्माण करते थे ... इन बातों पर अभी भी अनेक विद्वान सन्देह प्रकट करते है।

पुरातात्विक अनुसन्धान तुलनात्मक दृष्टि से संशोधन की नवीन पध्दति है। उस की एक मर्यादा है। होमर ने काव्य की रचना की, २६०० साल तक पीढी दर पीढी इतिहास का स्मरण होता रहा। प्राचीन सभ्यता की परम्परा जीवित रही। भारत में पुराण ग्रंथों ने और महाभारत जैसे महाकाव्यों ने हजारो वर्ष का इतिहास समाजजीवन की परम्परा के साथ जोडा। द्वारका, हस्तिनापूर, कतिपय प्राचीन तीर्थ स्थलों का उत्खनन हुआ। अवशेषों ने सिध्द किया कि ये ग्रंथ मात्र मनोरंजन के नही समाज व राष्ट्र की परम्परा एवं इतिहास के साधन है। पुरातत्वीय खोज के निष्कर्ष सर्व काल सर्व स्थान पर आधार बनेंगे ऐसा नही हो सकता। सभ्यता के लिये कभी कभी कुछ बाते अनिवार्य समझकर उसका आग्रह रहता है। जैसे लोह के बिना कोई सभ्यता पूर्ण विकसित नही होती, लिपि एवं लेखनकला का विकास नही है तो संस्कृति विकसित नही होती। जो सभ्यता चक्र नही जानती, पहिया का उपयोग नही करती वह पिछडी एवं असभ्य अवस्था में रहती है। सभ्यता के साथ इस प्रकार के मत और आग्रह रहना स्वाभाविक है। परन्तु क्या इन्का सभ्यता और उनका विशाल साम्राज्य इतिहास का वास्तव नही है? उनकी कोई लिपि नही थी, न कोई ग्रंथ उपलब्ध है परंतु जिन्होंने असभ्य मार्ग से उनको जीत कर नष्ट किया उन से भी अधिक समृध्द इन्का संस्कृति थी। सम्पन्न थी। राजनैतिक दृष्टि से तो अतुलनीय थी। मय

सभ्यता में खगोलशास्त्र का पर्याप्त विकास हुआ था, धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक श्रेष्ठता के लिये पहिया उनको आवश्यक नही लगा। ब्रिटन की प्रागैतिहासिक वेधशाला (स्टोन हेंजेस) बनानेवाले लोहयुग नही जानते थे। माल्टा के प्रागैतिहाकिस भव्य मन्दिर लोहयुग के तो है नही। ईस्टर द्वीप के सभ्यता के निर्माता स्वयं नष्ट हुए परन्तु किसी साधन के बिना उन्होंने पाषाण की अजस्त्र मूतियाँ बनायी। पुरातत्व की व्याख्यामें वे अश्मयुगीन है। परंतु उन्होंने जिस लिपि में लिखा वह अभी तक पढी नही जा सकी है। कभी कभी तो एक विचित्र आग्रह दिखाई देता है। सिंधु संस्कृति के संदर्भ में कुछ पुरातत्ववेत्ताओं का मत था कि सिंधु सभ्यता के निर्माता घोडा नही जानते थे। जब तक यह सिध्द नही होता कि वे 'घोडा' जानते थे तब तक आर्य और सिन्धु लोगों का संबंध स्पष्ट नही होगा। क्या सचमुच इस प्रकार के बौध्दिक परिचर्चा (कसरत) से प्राचीन महान् सभ्यताओं का इतिहास उजागर होगा? सिंधु संस्कृति में यज्ञशालाएँ प्राप्त हुई है तो क्या सिंधु संस्कृति का यज्ञ कर्ताओं से, वैदिक लोगों से संबंध सिध्द नही होता? पुरातात्विक निष्कर्ष, मूलभूत सिध्दान्तों के लिये आधारभूत अवश्य हो सकते है परन्तु सभ्यता का सर्वंकष इतिहास नही लिख सकते।

क्रीट (कृतिद्वीप) का शासक 'मनु'

इजियन सभ्यता को पुरातात्विक साधनों ने उजागर किया। अन्य साधनों के आधार पर कुछ निष्कर्ष सामने आते है। क्रीट में सभ्यता का निर्माता था मिनोस। वह प्रथम राजा था, प्रथम नेता था, प्रथम मार्गदर्शक था, प्रथम शासक था। नब्बे नगरों पर उसका शासन था। नगरीय सभ्यता का नेता वही था। राज्य का प्रधान सेनापति और उच्चतम न्यायाधीश भी मिनोस था। उसकी प्रजा मातृशक्ति की उपासक थी। अपने सागरवेष्टित भूमि को वे मातृभूमि कहते थे।

इजियन सभ्यता में 'क्रीट' प्रथम देश था जिसने अपने नौदल का निर्माण किया। इस प्रकार मिनोस नौदल का प्रथम प्रमुख भी था। चारो ओर सागर था। अनेक द्वीप फैले हुए थे। कुछ द्वीप तो केवल एक दो दिन के प्रवास के अंतर में थे। स्वाभाविकतः व्यापार समृध्द था। व्यापारी जहाजों के बेडों के लिये सुरक्षा भी आवश्यक थी।

पाँच सहस्त्र वर्ष पूर्व का यह काल है। क्रीट का समाज प्रकृति पूजक था। सूर्य, चन्द्र, पर्वत, नदियाँ, वृक्ष पूजा होती थी। वृषभ, परशु, नाग, आदि दैवी शक्तियों के प्रतीक थे। उनकी भी पूजा की जाती थी। स्वस्तिक, पवित्र चिन्ह था। पाषाण को भी प्रतीक समझकर उसकी पूजा की जाती थी। पाषाण की प्रतिमाओं में वे शक्ति का सञ्चार देखते थे। उसके लिये प्राणप्रतिष्ठा करते थे। नागदेवता भी एक प्रमुख देवता था। माता के मन्दिर बनाये जाते थे। मन्दिरों में प्रार्थना तथा उपासना के लिये स्त्री पुरुष जाते रहते थे। उत्सव के प्रसंग पर सारा समाज मन्दिर में

एकत्रित हो जाता था। नाट्य, नृत्य, संगीत भक्ति के साधन थे। मन्दिर सांस्कृतिक केन्द्र थे।

घर में भी देवताओं की पूजा होती थी। घर के सामने धर्मस्तम्भ खडा करते थे। स्तम्भ पर सिंह, वृषभ, कपोत जैसे पशु या पक्षियों की मूर्ति स्थापित की जाती थी। वृषभ का सिंग पवित्र माना जाता था। नदी में स्नान करना भी पवित्र माना जाता था। मातृदेवता के साथ एक युवक देवता की भी स्थापना की जाती थी। यह सर्वशक्तिमान 'द्यौस्' देवता था। वह मातृदेवी का पुत्र था। मातृदेवी बालकों का पोषण करनेवाली माता थी, सिंहो से रक्षित दुर्गा थी, पुष्पाच्छादित वृक्ष के नीचे विराजमान वनदेवी थी, कभी दोनो हाथोमें नाग धारण की हुई मुकुटधारी नाग देवी थी। ऐसे कतिपय रुपों में मातृदेवी की आराधना होती थी। देवी की मूर्ति खुले मैदान में, वृक्ष के नीचे, नदियों के तट पर या पर्वतों के शिखर पर स्थापित करते थे। वही पर फिर मन्दिर बने।

मन्दिर में प्रवेश करने के पूर्व उपासकों को पाँव हाथ जल से धोकर या स्नान करके और तेल लगाकर पवित्र होना पडता था। उपासना में अर्घ्यदान, फल, पुष्प समर्पण, नैवेद्य और प्रार्थना का समावेश था। उपासना सामाजिक होती थी तब नृत्य, संगीत से देवी की अर्चना की जाती थी। पूजा विधि का अधिकार पुरुष और स्त्री दोनों को था। पुजारी और पुजारिन का वेश महत्वपूर्ण माना जाता था। उनका वेश पवित्र माना जाता था। राजा स्वयं विशेष प्रसंग पर पुजारी का पवित्र वेश धारण करके प्रधान पुजारी होता था। उपासना के अनेक सम्प्रदाय थे, उसमें बैल, भेड, बकरी आदि बलि चढानेवाला शक्ति संप्रदाय भी था।

उपासना पध्दति के निमित्त नक्षत्रविद्या और पञ्चाङ्ग विकसित हुआ। पूजा का मुहूर्त, गृह प्रवेश, जन्म तिथि और बालक का भविष्य, समुद्रयात्रा, सैनिकी अभियान, विवाह आदि प्रसंग के लिये शुभकाल इत्यादि के लिये पञ्चाङ्ग विद्या का विशेष महत्व था।

मलयुध्द, अश्वरथस्पर्धा, मनुष्य और पशु का युध्द, आखेट आदि बातों में क्रीट का समाज रस लेता था। स्त्रियाँ सभी क्षेत्रों में पुरुषों के साथ सम्मिलित होती थी। वे स्वतंत्रता एवं प्रतिष्ठा प्राप्त थी। पुरुष और स्त्रियाँ दोनो लम्बे केश रखते थे। विविध अलङ्कार धारण करते थे। पतली कमर को सौंदर्य का प्रमाण माना जाता था।

मिनोस के पश्चात् उसका नाम ही राजाओं की उपाधि बन गयी। कलियुगाब्द ११०० (ख्रि.पू. २०००) के लगभग नोसोस में मिनोस ने भव्य राजप्रासाद का निर्माण किया। राजप्रासाद की लंबाई लगभग ४७० फूट और चौडाई लगभग ४२० फूट थी। प्रासाद के मध्य का प्रांगण १८० फूट X ९० फूट आयताकर था। प्रवेश द्वार के पास भव्य स्वागत कक्ष था। सम्मुख विशाल राजसभा थी। पूर्व दिशा में तीन मंजिली वास्तु में निवास के कक्ष थे। पश्चिम में अनेक गर्भगृह थे। दीवारे सुंदर चित्रकारी से सजी हुई थीं। विविध पक्षी, पशु, वनस्पती, वृक्ष और

व्यक्तिचित्र से दीवारे सुशोभित थी। जनजीवन प्रकट करनेवाले चित्र, राजपुरोहित के कृत्य, जनयात्राएँ (जुलूस), नागदेवताओं की सामूहिक पूजा ऐसे कतिपय चित्रों से पूरा प्रासाद सुशोभित था। राजप्रासाद में स्नानगृह थे, स्वच्छता गृह थे, मनोरंजन कक्ष थे। नोसोस के उत्खनन में कतिपय मृण्मुद्राएँ प्राप्त हुई है जिस पर लेख उत्कीर्ण हैं। भूकम्प जैसे नैसर्गिक आपत्ति के द्वारा दो बार राजप्रासाद ध्वस्त हुआ था। कलियुगाब्द १७०२ (ख्रि.पू. १४००) के लगभग भयंकर आग में प्रासाद पूर्णतः जलकर नष्ट हो गया।

कलियुगाब्द के प्रारंभ से (ख्रि.पू. ३१०२) लेकर लगभग १७०० वर्षों तक यह क्रीट की सभ्यता वैभव के शिखर पर थी। प्रथम नरेश मिनोस था। मिनोस 'मनु' का अपभ्रंशित रूप है। इजिप्त की सभ्यता के प्रारंभ में भी राजा का जो नाम आता है वह मिनोस ही है। भारतीय परम्परा में 'मनु' शासक है, राजा है, प्रथम कर ग्रहणकर्ता है। भारतीय परम्परा, देवताएँ व उनकी उपासना, नीति मूल्य, कुल और कुलपरंपरा, वास्तुविद्या, दशमान पध्दति का अंकन, पुरोहित व अमात्य की राजनीति, नक्षत्र विद्या इत्यादि सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक संकल्पनाएँ सुदूर क्रीट जैसे द्वीप की प्राचीन सभ्यता में प्राप्त होती है, यह केवल संयोग की बात नही हो सकती।

अनातोलिया या एशिया माइनर (वर्तमान तुर्कस्तान) विश्व के प्राचीन सभ्यताओं का प्रेरक रहा। इजियन संस्कृति के निर्माता संभवतः वही से कृतिद्वीप अर्थात क्रीट में गये। दूसरे अन्यजन समूह जो आयोनियन (यवन) कहलाते थे और ग्रीस के उत्तर पश्चिम में थे साइक्लेड्स द्वीप समूह पर फैलते गये। वहाँ से वे अनातोलिया में गये और उसके पश्चिमी तट पर अपने यवन राज्य का निर्माण किया। उनके नाम पर अनातोलिया का यह भूप्रदेश अयोनिया कहलाया। इन्ही अनातोलियन यवनोंने कालान्तर में युनानी सभ्यता के विकास में बहुमूल्य योगदान दिया।

आयोनियन, एकीयन, डोरियन इत्यादि जातियाँ यूनान (ग्रीस) में वसती गई। क्रीट के पतन के बाद यूनान की राजनीतिक व्यवस्था टूट गयी थी। कृषिकर्म, उद्योग और व्यापार का न्हास हो गया था। जनता में अशान्ति और असुरक्षितता की भावना बढ गयी थी। ऐसी परिस्थिति में साहसी और महत्वाकांक्षी व्यक्तियों के लिये अपने बाहुबल से स्थानीय जनता को अपने अधीन कर लेना तथा युध्द और लूट पाट द्वारा यश अर्जित करना कठिन नही था। वे लोहे के कवचों और कास्य के हथियारों से सज्जित होकर अपने प्रतिस्पर्धियों से लड़ते थे और अगर उन्हें हराने में सफल हो जाते थे तो उनके कवच और हथियार अधिकृत करके उनके मृत शरीरों को रथ से बाँधकर घसीटते थे। शत्रुनगर का पतन होने पर उसके निरीह नागरिकों को मौत के घाट उतार दिया जाता था अथवा दास बना लिया जाता था। उनके इन कारनामों के आधार पर भाट और

चारण गीतों की रचना करते थे, उत्सवों में गाकर सुनाते थे। यही युरोप का प्राचीनतम साहित्य है।

होमर ने इसी प्रकारकी घटनाओं के आधारपर महाकाव्य लिखे जो इलियड और ओडेसी नाम से विख्यात है। होमर को यूनान का गुरुस्थान प्राप्त है।

यूनान के प्राचीन सभ्यता का एक वैशिष्ट्य यह था कि राजनीतिक दृष्टि से यूनान संगठित साम्राज्य नही था। नगर राज्य थे। सामन्तशाही थी। सारा यूनान छोटे छोटे राज्यों में विभाजित हो गया था। क्रीट भी पचास से अधिक नगर राज्यों में बँट चुका था। अथेन्स, स्पार्टा, थिब्ज, मेगारा, कोरिन्थ आदि नगरराज्य विशेष रुप से प्रसिध्द हुए। कलियुगाब्द २५ वी (ख्रि.पू. छठी) शती में इरान के महान् साम्राज्य का उदय हुआ। इरानी सम्राट दारयवौष (दरायस) ने अनातोलिया तक का प्रदेश जीतकर थ्रेस और मेसिडोन भी अपने अधीन कर लिया। यूनान के नगर राज्य विशेषतः अथेन्स और स्पार्टा ने कडा संघर्ष किया जिससे इरान की महत्वाकांक्षा को कुछ मात्रा में रोका गया। अन्ततः इरानी सेना को पराजित करने में ग्रीक नगर राज्य सफल हुए परन्तु आन्तरिक संघर्षो के कारण दुर्बल बनते गये। अथेन्स और स्पार्टा के संघर्ष में अथेन्स का विनाश हुआ। मेसेडोनिया के राजा फिलिप ने इसका लाभ उठाते हुए यूनान पर अपना अधिकार स्थापित किया । फिलिप का पुत्र अलेक्झांडर महान विजेता कहलाया। कलियुगाब्द २७६५ से २७७८ (ख्रि. पू. ३३६ से ३२३) तक उसने नाईल नदी से लेकर सिंधु नदी तक एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया। वह प्रतापी योध्दा और श्रेष्ठ सेनानी था परन्तु कुशल प्रशासक और राजनीतिज्ञ नही था। उस के पश्चात् उसके विशाल साम्राज्य का विघटन हो गया।

यूनानी धर्म

यूनानी धर्मपर 'मिनोअन क्रेटन' अर्थात् क्रीट द्वीप के संस्कृति का प्रभाव था। मिनोअन देवतओं को ग्रीक संस्कृति ने स्वीकार किया था। ग्रीक देवता आर्तेमिस स्थानिक मातृदेवता ही थी। ग्रीक देवता एथना कुमारी देवी थी। डिमीटर (दिमितारा) भूदेवी थी। अपोलो देवी ग्रीक देवताओं में विशेष महत्व रखती थी। डेल्फी में उसका भव्य मन्दिर था।

ग्रीक मूर्तिपूजक थे और यज्ञ भी करते थे। यज्ञ में मंत्रोच्चार सहित पशु बलि चढाते थे। अपने देवताओं के विशाल और सुन्दर मन्दिर बनाते थे। स्तम्भावली का उपयोग करके मन्दिर रचना की जाती थी। मन्दिर में देवताओं की सुंदर मूर्तियाँ स्थापित की जाती थी। स्तंभ के लिये पत्थर के साथ ब्रॉझ, चाँदी, सुवर्ण और हस्तिदन्त का भी उपयोग 'पार्थनान' के अथीनी देवी के मंदिर में किया हुआ था। दीवार पर शिल्पपट्ट उत्कीर्ण करते थे। उसमें पुराण कथा, देव राक्षसों के युध्द, शोभायात्राएँ पशु, पक्षी, वनस्पति आदि के शिल्प होते थे। पार्थनान के मन्दिर में प्राप्त

शिल्प पट्ट ५३३ फूट लंबा है। उसपर ३५० मानव प्रतिमा, २०० पशु उत्कीर्ण है। शस्त्र, अश्वों के साज इनके लिये धातुओं का उपयोग किया हुआ है। व्यक्ति चित्र ग्रीक कलाकारों की आस्था का विषय था। उसमें प्रमाणबध्दता थी। समतोल था। सुसंवाद था। ग्रीक अभिजात कला उनके परिपूर्ण विकसित सौन्दर्य शास्त्र का अविष्कार है। ग्रीक देवता झ्यूस क्रीटवासियों की आकाश देवता (द्यौस) का रुप था।

ग्रीक पुराणों में उन की देवताएँ परस्पर संघर्ष करते हुए, मानवी जीवन को अपनाते हुए तथा दया, लोभ, मत्सर, प्रतिशोध आदि मानवी भावनाओं का प्रकटन करते हुए दिखाई देते है। देवताओं के पुजारी उन्मादक अवस्था में उनसे संपर्क करते थे। यज्ञ के समय देवता नैवेद्य ग्रहण के हेतु आमंत्रित किये जाते थे। यज्ञ के माध्यम से देवताओं को हवि पहुँचाकर उन्हे प्रसन्न करा सकते है इसपर उनकी श्रध्दा थी।

ग्रीक धर्म के साथ जुडा हुआ तत्वज्ञान भारतीय विचारों के निकट दिखाई देता है। मूर्ति किसी भी देवता की हो उपासक केवल उसका सामीप्य नही, उससे एकरुपता की कामना करते हुए उस देवता में अपना समर्पण और विलय चाहता था। उन्मादक अवस्था (समाधि) साधन मात्र थी। मनुष्य की आत्मा का शुध्दीकरण उसे देवताओं के निकट ले जाता है यह उनकी श्रध्दा थी। डेल्फी के देवी का मन्दिर इसीलिये विख्यात हुआ था। आत्मा का शुध्दीकरण करा के देवत्व प्राप्त करा देनेवाली देवता का वह मन्दिर था। इस तत्व पर आधारित सम्प्रदाय 'डायोनायसस' सम्प्रदाय नाम से विख्यात हुआ।

कलियुगाब्द २४ वी (ख्रि. पू. ७) शती में डायोनायसस सम्प्रदाय को और उन्नत स्वरुप प्राप्त हुआ। उपासकों के संघ थे जो आध्यात्मिक स्तर पर सर्वकाल चिन्तन करते रहते थे। ग्रीक विद्यालयों (अकादमीज) और विचारवन्तों का भी उसमें योगदान था। पायथागोरस जैसे गणितज्ञ और चिंतक भी इस सम्प्रदाय के समर्थक एवं प्रसारक थे। पुनर्जन्म और मोक्ष की कल्पना इस सम्प्रदाय में थी। मानवी आत्मा मूलतः शुध्द और दिव्य स्वरुप होता है। अधःपतन के कारण उसे शरीर के कारागृह में बन्दी बनकर रहना पडता है। यम और नियम का पालन करते हुए शुध्द चित्त से उपासना करने से आत्मा शुध्द स्वरुप को प्राप्त होता है। इस के फलस्वरुप पुनर्जन्म से मुक्ति प्राप्त होती है। मृत्यु के पश्चात वह आत्मा देव लोक में प्रवेश करती है।

ग्रीक नगर राज्य स्वयंपूर्ण थे। पूरे नगर की प्रजा मानो एक कुटुम्ब था। कुल था। पूर्वजों के प्रति श्रध्दा थी। पितरों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने हेतु तथा उन के शान्ति प्रीत्यर्थ सामूहिक रुपमें तर्पण विधि किया जाता था। उस समय नगर के सारे कुटुंब एकत्रित आते थे। सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से यह तर्पण समारोह वार्षिक उत्सव के रुप में मनाया जाता था।

जर्मनी (शर्मन् देश)

मॅक्समुल्लर ने ऋग्वेद का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया। मुखपृष्ठपर स्वयं का परिचय देते हुए उसने लिखा -

"मया शर्मन्देश जातेन गोतीर्थ निवासिना मोक्षमूलर नाम्ना"

मॅक्समुल्लर जर्मनी का था। उसकी दृष्टि से 'जर्मन' शब्द मूलतः शर्मन् दिखाई देता है। 'मॅक्स' को उसने 'मोक्ष' शब्दका अपभ्रंशित रुप माना। वह जर्मन था परन्तु ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी का सेवक होने से ऑक्सफोर्ड नगर में रहता था। ऑक्सफोर्ड नगर का रुंपातर उसने गो-तीर्थ किया।

जर्मनी का ही एक नाम है प्रशिया। संभवतः 'प्रऋषीय' इस मूल शब्द का वह रुपांतर है। भाषा का साम्य देखकर ही पाश्चात्य पंडितों ने संस्कृत और युरोप की कतिपय भाषाओं का नाम दिया था भारोपीय भाषाकुल। ग्रीक, लॅटिन, अंग्रेजी शब्द तो संस्कृत शब्दों से अधिकतम साम्य रखते है। युरोप की अन्य अनेक भाषाएँ भी आभास देती है।

कुछ शब्दों का अपभ्रंशित रुप स्वाभाविकतः सम्मुख आ जाता है। भारत में गुलमर्ग, गुलबर्गा ऐसे कुछ नगर नाम है जहाँ मर्ग, बर्ग, बर्गा ये 'दुर्ग' शब्द के बोली भाषा में आये रुप हैं। जर्मनी में इसी प्रकारके हिन्डेन बुर्ग, हायडेल बर्ग, हम्बुर्ग आदि विशेष नाम है। हिन्डेन् बुर्ग में हिन्दु और दुर्ग इन दो मूल शब्दों का प्रत्यय प्राप्त होता है। रामस्टेन (Ramstein) यह भी जर्मनी के एक नगर का नाम है जो 'रामस्थान' शब्द का स्मरण कराता है।

कलियुगाब्द ४९७२ (ख्रि. १८७०) तक 'जर्मनी' का एक संघटित राष्ट्र के नाते, युरोप के मानचित्रपर, अस्तित्व नही था। परन्तु 'प्रशिया' का अस्तित्व था जो जर्मन वंशीयों की महत्वाकांक्षा को साकार करनेवाला सबसे बडा जर्मन संस्थान था। भारतीय संस्कृति का स्पर्श इस भू-प्रदेश को कब, किस माध्यम से और कितनी मात्रा में हुआ कह नही सकते। संभवतः एत्रुस्कन संस्कृति जो पर्याप्त मात्रा में भारतीय संस्कृति से प्रभावित थी युरोप के अनेक देशों की प्राचीन सभ्यताओं को संस्कारित करने का माध्यम बनी। इसके लिये कुछ पुरातात्विक प्रमाण उपलब्ध है।

लुडविज्बर्ग नगर के निकट वेहिंजेन (Vaihingen) नामक स्थान पर प्राचीन दफनस्थान प्राप्त हुआ है। यह एक विशाल गोलाकार भूमिगत कक्ष है। दफनाया गया शव किसी केल्टिक शासक का होगा। अर्थात वहाँ कोई अभिलेख नही मिला है इसलिये यह संभावना ही है। कक्ष की रचना में पत्थर, मिट्टी और लकडी का उपयोग किया हुआ है। कक्ष के बीच में दफन कक्ष है जिस में शासक का अस्थिपञ्जर पहियोंवाले पलंङ्गपर लिटाया हुआ था। पलंग के खुर

मानवाकृति बनाए गये थे।

शव को पीले वस्त्र में लपेटा हुआ था। उँगलियों में सोने की मुद्राएँ थी। सुवर्ण के दो सर्पाकार बाजू बन्ध भी थे। कमर में सुवर्ण का कटिबन्ध था। पैरों में चमडे के उपानह थे। साथ में बाणों से भरा हुआ तरकश था। बाणों के अग्र सुवर्ण का मुलम्मा चढ़ाये हुए लोहे के थे। पलंग के समीप घोडों का एक चाबुक, सुवर्णपात्र और सिंह की प्रतिमाओं से सुशोभित ब्रॉंझ का पात्र था। यह पात्र संभवतः मधुपर्क रखने का था। दीवारे भी संभवतः ऊनी पर्दों से सजाई हुई थी। लकडी और लोहे का बना हुआ रथ यहाँ के वस्तुओं में प्राप्त हुआ। लोहे की शृंखलाएँ, घोडे जोतने के चमडे के पट्टे आदि रथ सुसज्जित करने की सामग्री थी। चौदह थालियों का एक प्रकार का भोजन प्रबन्ध रथ में कर के रखा हुआ था।

पश्चिम जर्मनी में ही स्टटगार्ट (Stuttgardt) नगर के समीप हॉचडॉर्फ (Hochdorf) में इसी प्रकार के अवशेष प्राप्त हुए है। यहाँ पर एक टीले का उत्खनन हुआ जहाँ पर इसी प्रकार के दफन कक्ष के अवशेष मिले। ब्रॉंझ के मंच पर लिटाये हुए शव के वस्त्र भारतीय पध्दती के अर्थात् नीवी और वासस् थे। पलंग के निकट रखे पात्र में यहाँ पर मधुपर्क (मधु और दही का पेय) रखा हुआ था यह अवशेष से ज्ञात हुआ है। महत्वपूर्ण शासक जैसे व्यक्ति प्राचीन सभ्यता ओं में प्रधान पुरोहित का भी अधिकार रखते थे। उनका अत्यंसंस्कार एक विशेष घटना होती थी। वह व्यक्ति सभ्यता के राजकीय और सामाजिक एवं धार्मिक शक्ति का केंद्र था। उसकी मृत्यु से सारे क्षेत्र में कई प्रकार के परिवर्तन होते रहते थे। प्रदीर्घ काल तक का उसका नेतृत्व भविष्य में ऐतिहासिक स्मृति बनकर रहे यह इच्छा स्वाभाविक थी। मृत व्यक्ति के मुँह में गंगाजल की भाँती मधुपर्क की बूँदे डालने की प्रथा दिखाई देती है। मृत्यु के पश्चात् वह व्यक्ति स्वर्गारोहण के हेतु लंबे प्रवास के लिये निकलती है, ऐसी कुछ धारणा होगी। उसी कल्पना से रथ, अस्त्र, वस्त्र अनेक दिन का अन्न इस का प्रबंध अत्यं संस्कार में किया जाता होगा।

जर्मनी के शिफरस्टट (Schifferstadt) नामक नगर में एक सुवर्ण मण्डित शिवलिंग की प्राप्ति हुई है। जर्मनी ने उस का चित्र प्रस्तुत करनेवाला डाक टिकट निकाला। चित्र के नीचे लिखा है, 'किसी पन्थ का टोपी के आकार का चिन्ह' । इस चिन्ह की स्पष्ट पहचान शिवलिंग से ही हो सकती है। जर्मन वंशीय सूर्यपूजक थे। ख्रिस्तीसंप्रदाय के आगमन पूर्व के काल में अनेक देवताओं की पूजा प्रचलित थी।

स्कॅन्डिनेविया

"आरंभ में न रेत थी न सागर ...

न ही जल न कोई तरङ्ग...

पृथिवी भी नही थी, न कोई आकाश था।

कही घास भी नही थी ...

केवल एक असीम अंधेरा अवकाश ...

ऐसी अवस्था में परमात्मा की इच्छा हुई ...

और निराकार सा ब्रहमदण्ड निकल पडा।"

यह सृष्टि के प्रारंभ का वर्णन किसी उपनिषद का या नासदीय सूक्त का नही है। स्कॅंडिनेविया में परम्परा से जो प्राचीन साहित्य चलता आया है उस में का यह पद्यमय वर्णन है। कलियुगाब्द ४३०२ (ख्रि. १२००) में इन प्राचीन गद्य व पद्य रचनाओं का सङ्कलन हुआ। उसे एद्दा कहते है। गद्य एद्दा और पद्य एद्दा ... दो संकलन है। तो हम कह सकते है कि स्कन्दनेवीय द्विवेदी है। एद्दा स्कॅंडिनेविया के वेद है।

स्कॅंडिनेविया में युरोप के उत्तर में स्थित नॉर्वे, स्वीडन और डेन्मार्क तथा आइसलॅंड का समावेश होता है। पद्य एद्दा प्राचीन है। उसमें ३७ मण्डल है। इस में सृष्टि की व्युत्पत्ति, स्थिति और लय के संदर्भ में विवेचन है। पौराणिक कथाएँ है। वीरों की गाथाएँ है। देवताओं के वर्णन है। देवासुर संघर्षो का वर्णन है। विश्व के अन्त को रागनरोक (Ragnarok राज्य नर्क) कहा है। विश्वांत का विवेचन करते हुए कहा है, "पृथ्वी तल की सारी बाते क्षणभंगुर होती है। अन्त में भयङ्कर घटनाएँ होने लगेगी ... अनिर्बन्ध तृष्णा और कामनाओं से प्रेरित होकर लोक एक दूसरे को मारने लगेंगे ... कुलाचार भ्रष्ट हो जायेंगे ... " इत्यादि। एद्दा का संकलन सुसूत्र नही है। पूर्ण भी नही हैं। संभवत : वेदों की जो टूटी फूटी, अर्धविस्मृत परम्परा भिन्न भिन्न प्रदेशों में चलती रही ... इसाई और इस्लामी आक्रमण के झंझावत में भी अंशतः बची, उसका यह संकलन दिखाई देता है। इस स्कॅंडिनेविया के वेदमें रोचकता है, वैचारिक व्यापकता है। आध्यात्म तो उसका प्राण है।

टयूटानिक वंश के स्कॅंडिनेविअन शाखा के लोगों का यह पवित्र ग्रंथ है। उनकी शाखाओं को गोथ (गोत्र) कहा जाता है। डॅन्युब नदी की घाटी में रहनेवाले मोसो गोथ (Moesogoths) कहलाते है तो स्पेन में स्थित एक शाखा विसे गोथ (Visa-goths) कहलाती है। इटली और जर्मनी में भी उन की शाखाएँ थी। नॉर्वे (Norway) का प्राचीन नाम नॉर्गे था। और स्वीडन स्वेर्गे (sverge) था। नरक (नॉर्गे) और स्वर्ग (स्वेर्गे) यही मूल नाम होने की संभावना है। अर्थात यहाँ नरक केवल स्थलविशेष है। नॉर्वे के लोगों का नॉर्स या नोर्से (Norse) भी कहते थे जिस का अर्थ है उत्तरी लोग। नॉर् वे याने उत्तरापथ। उत्तरी ध्रुव के निकट का यह बर्फीला भूप्रदेश सचमुच उत्तरापथ है। 'नॉर्मन' नाम भी नॉर्वे वासियों को दिया गया नाम है। नॉर्वे से वे सारे युरोप में

७०. तेफ्रा, सन्तोरिनी द्वीप (ग्रीस) मनु संस्कृति (मिनोन क्रेटन) का नगर कलियुगाब्द २००० (खि.पू. १०००)

७१. कोर्सिका द्वीप - प्राचीन ग्राम शरदन सेनापतीओं के स्मृति पाषाण
[क. १५०० (ख्रि.पू. १६००) के लगभग]
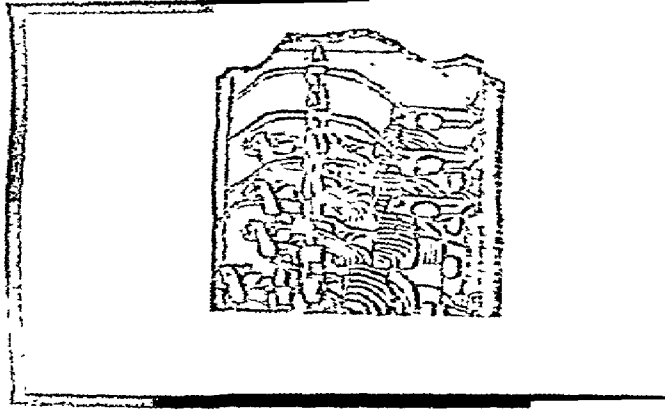
७५. भारतीय धनुर्धारी - शिल्प चित्र
थर्मोपिली (ग्रीस)
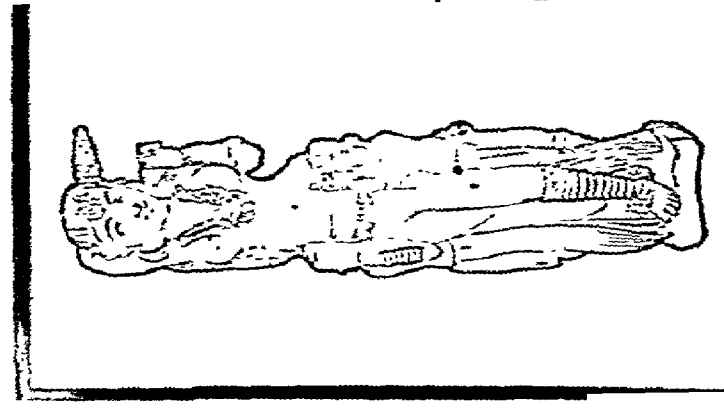
७३. 'यक्षिणी'
(इ. स. ५७) (पॉम्पे - इटली)

७४, समाधि पात्र से प्राप्त चित्र - राम, सीता, लक्ष्मण
(इटाली)

फैलकर अनेक युरोपीय वंशो में मिल गये। उन की एक जाति विकिंग थी जिन्होने कभी पूरे युरोप को त्रस्त किया था। आईस लँड में भी उन्होने अपने उपनिवेश बसाये थे।

एद्दा में ईश्वर के दो वर्ग कहे गये है। एक है असेर (ईश्वर) दूसरा है वनेर (वानर) नॉर्स देवताओं के संघ में ओथिन् सर्वशक्तिमान् देवता था। वह युध्द का देवता था। नॉर्वे की कला एवं संस्कृति का प्रेरक देवता था। फ्रिग्ग देवी उसकी शक्ति थी जो उनके पत्नी के रुप में विवाह एवं मङ्गल और शुभ कार्य की देवी थी। 'थोर' युध्द और पंचमहाभूतोंका देवता था। वह ओथिन् और फ्रिग्ग देवी का पुत्र था।

स्वीडन में 'उपशाला' नामक नगर है। वहाँ पर सुवर्ण मन्दिर था। मन्दिर में ओथिन् ' फिग्ग और थोर की मूर्तियाँ थी। इन देवताओं को हम निःसंकोच शिव, उमा और स्कंद देवताओं की श्रेणि में देख सकते है। मंदिर में प्रतिदिन पूजा की व्यवस्था थी। सेंकडो भक्त पूजा प्रार्थना के लिये और अपनी मनोकामना ईश्वर के सम्मुख प्रकट करने के लिये मन्दिर में जाते थे। कलियुगाब्द ४१७२ (ख्रि. १०७०) तक यह मन्दिर विख्यात था। फिर ईसाई प्रचारकों ने स्वीडन में अपना डेरा जमाया। स्थान स्थान के मन्दिर भ्रष्ट होने लगे। स्कँडिनेवियाई नरेश वलेफ (olef) ईसाई बन गया। उसकी सेना ने छलबल से धर्मांतर कराना आरंभ किया।

युरोप के अन्य भूप्रदेश -

युरोप के पूर्व, मध्य और उत्तरी भाग में स्लाव्ह वंशीय लोग है। रशियन, पोल्स, झेक्स, मोराविअन्स, सोर्ब, वेन्द, स्लोवाक्स, बल्गेरिअन्स, सर्बिअन्स आदि जातियाँ जो युरोप में वसती है, प्राचीन काल में उन सभी के पूर्वज सूर्य पूजक थे। निसर्ग पूजक थे। उनकी भाषा सम्भवतः संस्कृत पर आधारित ही थी। झेकोस्लावाकिया और युगोस्लावाकिया की भाषा में आज भी संस्कृत भाषा के प्रचुर शब्दों का उपयोग किया जाता है। अग्नि-अग्नि, द्वार-द्वार, स्वसा (बहन) - सेस्रा, माता (मल्लिका), सूनु (पुत्र) - सिन् , नासिका-नोस, धाम (घर) - दोम इन शब्दों से भाषा का संस्कृत से साहचर्य प्रकट हो जाता है। सम्भवतः वहाँ पर भारतीयों ने अपने उपनिवेश प्राचीन काल में स्थापित किये होंगे।

युगोस्लाविया के सोप्ते (scopte) नगर में स्थित एक जाति अपने को राम जाति कहलाती है। वे एक स्थान पर स्थिर नही रहते। उनके नाम भी सुधाकान्त, रामकली, मीनाक्षी इत्यादि पूर्ण भारतीय है। उनके पूर्वजों का देश 'बडो स्थान' था। यह मूल देश की अर्थात् भारत की स्मृति है। स्लाव लोग पञ्चमहाभूतों की उपासना करते थे। भगवान के लिये बोग (भग) शब्द का उपयोग आज भी प्रचलित है। भारत में वट वृक्ष - पवित्र माना जाता है। उसी प्रकार युरोप में ओक वृक्ष का सन्मान है। ओक वृक्ष के तले स्लाव यज्ञ करते थे। अगोन अर्थात् अग्नि निर्माण

कर उस में पवित्र धान्य का हवन करते थे। स्वरग (sworag) अर्थात् स्वर्ग में देवताओं का निवास रहता है और अग्निशिखाएँ हवन किया हुआ पवित्र धान्य उनको पहुँचाती है यह उनकी श्रध्दा थी। वरुण देव याने परण देव, सूर्य याने दिनका भगवान, दौस बोग (दिवस भग) तो स्तृबोग, वायु देव याने गतिमान् भग था।

दक्षिण पूर्व युरोप के देशों को बाल्कन देश कहा जाता है। ग्रीस, अल्बानिया, बल्गेरिया सर्बिया आदि देश उसमें आ जाते है। ग्रीक संस्कृति भारतीय संस्कृति से प्रभावित थी और ग्रीक संस्कृति का प्रभाव इन देशों पर भी था। ग्रीक साम्राज्य के पूर्व भी इन देशों में जो जातियाँ बसी वे भारतीय संस्कृति से संबंधित थी। खिश्चन बनने के पूर्व सभी वंश मूर्तिपूजक थे। उनकी भाषा में भी संस्कृत भाषा से प्रभावित शब्द प्रचुर मात्रा में प्राप्त होते है। अल्बानिया के लोग आज भी अपने को गरुड पुत्र कहलाने में गौरव का अनुभव करते है। बल्गेरिया की भाषा में ब्रात् (भ्राता) , स्मृत् (मृत), नोस (नासिका), झेम्प (जमीन) इस प्रकार के शब्द उनका भारतीय भाषा के साथ संबंध दर्शाते है।

अंग्रेजी के फादर (पितर) ब्रदर (भ्रातर) सिस्टर (स्वसा) मदर (मातर) इस प्रकार के रिश्ते के प्रमुख शब्द संस्कृत से लॅटिन में और लॅटिन से आंग्ल भाषा में आये। फ्रेंच, स्पॅनिश, पोर्तुगीज भाषा के भी कतिपय शब्द संस्कृत भाषा से उन भाषा में परिवर्तित हुए है। मैन शब्द 'मनु' (प्रथम मनुष्य) से ही बना है। मंक, मोनास्टिक, मोनेस्टरी इन शब्दों का संबंध 'मुनि' शब्द से है। फ्रान्स के गॉल वंशी अपने को दिस पेतर अर्थात् देव (स) पितर के वंशज मानते है। आयर्लंड यह नाम आर्य जाति का निवासस्थान होता है। सप्त सिंधु से और आर्यावर्त से आयर्लंड तक का यह प्रवास केवल संस्कृत भाषा का नही अपितु धार्मिक धारणाओं का भी था। गाल, केन्ट आदि वंश के लोगों का धर्म वही था जो भारतीयों का आज तक है।

ईसाई धर्म का प्रसार होने के पूर्व युरोप में जिस प्रकार के प्रार्थना स्थल थे, मन्दिर थे ... देवता थे ... धार्मिक साहित्य था वह पूरी तरह से नष्ट करने के प्रयास धर्मगुरुओं ने किये। फिर जब इस्लामी धर्म की आँधी चली तो परिस्थिती और भी बिकट हुई। दो सहस्त्र वर्षो के इन दो सम्प्रदायों के धर्मातर के प्रयासों ने मानव जाति का इतिहास खण्डित किया। उसे अपनी हजारो वर्षों की परम्परा से अलग किया। यहाँ तक की महत्वपूर्ण इतिहास के साधन, भी एक तो नष्ट किये या इस मर्यादा तक भ्रष्ट विकृत किये की उससे विपरीतार्थ दर्शन (बुध्दि भ्रंश) हो जाए।

हजारो वर्षों के मानवी सभ्यताओं के विकास में भारतीय संस्कृति का योगदान इतना

महत्वपूर्ण रहा है कि पाश्चात्य विद्वान भी उसका वर्णन करते हुए रोमाञ्चित हो जाते है। रेव्हंरड थोमस मोरिस कहते है,

"भारत के पुरोहित (हुइद-द्रहयु?) ब्राहमण एशिया के उत्तरी भाग में ही नही तो सुदूर सायबेरिया तक पहुँचे... इतनाही नही तो केल्टिक (कालतोय) जाति को साथ लेकर पश्चिम में प्रदीर्घ प्रवास करके अन्ततः युरोप में जा पहुँचे जहाँ पर प्राचीन बिटन में उन्होंने अपने अधिदैविक धर्म को प्रस्थापित किया।

मेरा विश्वास है कि इन द्वीपों पर (ब्रिटीश आयलँड्स) का यही प्रथम भारतीय उपनिवेश था।"

These priests (Druids), Brahmins of India, spread themselves widely through the northern regions of Asia, even to Siberia itself, and gradually mingling with the great body of Celtic tribes (Kalatoya people to the sourth of Kashmir) who persued their journey to the extremity of Europe and finally established the Druid that is Brahmin system of superstition in ancient Britain, This contend was the first oriented clolony settled in these islands."

(Antiquities of India - Vol. VI)

आफ्रिका - (शंख द्वीप)

मिश्र (इजिप्त)

जो धातुविद्या के ज्ञाता थे और जिनकी संस्कृति श्रेष्ठ थी ऐसे एशिया के सेमाइट वंशीय लोगों के प्रवाह ने, खि.पूर्व चौथी सहस्त्राब्दीके द्वितीयार्ध में इजिप्त में प्रवेश किया। वे प्रथम दक्षिणी भू प्रदेश में बसे, विजेता के रूप में नही, अपि तु शान्ति पूर्ण अतिथि के रूप में...ओर वहाँ पर उन्हों ने ताम्रपाषाण युग के समृध्द संस्कृति का निर्माण किया। वे सूर्य के उपासक थे। (युनेस्को हिस्टॉरी ऑफ मॅनकाइंड)

(In the second half of the 4th millenium B.C. there arrived a new wave of immigrants, semites from Asia, bringing with them a higher culture and elementary knowledge of metal. These first settled in south countries, not it would seem as conquerors but as peaceful newcomers and ushered in there the chalcolithic phase. They were the followers of Horus,")

कलियुगाब्द के लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व अर्थात् खि.पू.३४०० के लगभग उत्तरी आफ्रिका में एक महान् संस्कृति का आविर्भाव हुआ। इतिहासकार सेमाईट वंशीओं को इस सभ्यता के निर्माता मानते है। सेमाईट वंश में वे अरब, सुमेरियन, आर्मेनियन, अक्कदीयन आदि जातियों का समावेश करते है। अरब जाति का स्वभाव शान्तिपूर्ण अतिथि का कभी रहा नही है। सुमेरियन आदि सभ्यताओं के निर्माता अपने मूल पुरूषों को पूर्व दिशा से आने का संकेत करते है जो सम्भवतः भारत ही रहा होगा।

कर्नल ऑल्काट का अभिमत इस दृष्टि से अधिक स्पष्ट है। 'प्राचीन इजिप्तिअन्स निष्कासित भारतीय थे। ज्यू धर्मी मोझेस से लेकर ग्रीक तत्ववेत्ता प्लेटो तक लगभग सभी विख्यात तत्ववेत्ताओं ने इजिप्त जाकर उन से ज्ञान प्राप्त किया था।"

(थिऑसॉफिस्ट-मार्च १८८१)

जिस प्रकार भारत में प्रलयपूर्व काल की अंशतःऔर प्रलय पश्चात् काल की विस्तृत वंशावलियाँ इतिहास पुराणों में सुरक्षित रही, उसी प्रकार इजिप्त में प्राचीन राजाओं की वंशावलियाँ भी सुरक्षित रखी गयी थी। विख्यात प्राचीन इतिहासकार हिरोदोतस जब मेम्फिस

गया...वहाँ उसे प्रथम राजा मिन से ३३० राजाओं की लिखित जानकारी उपलब्ध हुई।

इजिप्त की सभ्यता में प्रथम नरेश का नाम मिन् या मिनोस है, यह कोई संयोग की बात नही है। लगभग सभी प्राचीन सभ्यताओं शासकों के साथ यही नाम जुडा होता है। भारतीय परम्परा में प्रथम शासनकर्ता 'मनु' है। भारतीय जहाँ पर भी गये, सभ्यता का निर्माण करने की प्रक्रिया में प्रथम शासनकर्ता ने उसी नाम से शासन करने में गौरव का अनुभव किया। विश्व में जहाँ पर भी मनु और राम से संबंधित नाम आते है वहाँ की सभ्यता का संबंध भारतीय संस्कृति से रहा है। इजिप्त के शासनकर्ताओं में मनु (मिनीस) है और राम (रामसेस) भी है।

उत्तरी आफ्रिका की नील नदी की घाटी में जो प्राचीन भारतीय जा बसे वे भारत से निकलने के उपरान्त कतिपय स्थानों पर कुछ काल तक स्थित रहे थे। कतिपय 'मानवजातियों से उन का संबंध आया था। कितने ही स्थानों पर दस बारह पीढियों तक वहाँ के स्थानीय जातियों के साथ नई सभ्यताओं का निर्माण उन्होने किया होगा। उन की भाषा, वेश, खानपान स्थानिक परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित होते रहे। प्रदीर्घ काल की इस प्रक्रिया में मूल भूमि का विस्मरण स्वाभाविक था। जहाँ भी गये वहाँ के जनजातिओं को उन्होंने प्रभावित अवश्य किया परन्तु उस के साथ ही वहाँ के स्थानीय जनजीवन में वे समरस हुए। वे जहाँ भी रहे, समर्थ होते हुए भी उन जातियों के सभ्यता का विनाश नही किया। उन वंशों को नष्ट करने की योजना उन की कल्पना के परे थी। उन की दृष्टि में सारी मानवजाति एक ही ईश्वर की सन्तान थी। उन की सुसंस्कृतता का वह व्यवच्छेदक लक्षण था। उन की आस्थाएँ निरन्तर वही रही परन्तु बाह्य रूप इतना परिवर्तित हुआ कि उन के मूलतःभारतीय होने के संदर्भ में इतिहासकारों में आज भी संभ्रम है। संभ्रम के साथ एक अनावश्यक संकोच भी दिखाई देता है।

प्राचीन इजिप्त (मिश्र) का प्रथम शासन कर्ता -

छः सहस्त्र वर्ष पूर्व 'मिश्र' में कतिपय उपनिवेश स्थापित हुए थे जो शीघ्र ही नगरराज्यों में परिवर्तित हुए। नील के त्रिभुज प्रदेश में तथा उत्तर में प्रथम प्रपात (कॅटरॅक्ट) तक ये राज्य फैले हुए थे। उत्तर में मेम्फिस नगर के नेतृत्व में उत्तरी मिश्र का राज्य समृध्द हुआ। नाग देवी इस राज्य की रक्षक देवता थी। लाल वर्ण इस राज्य का विशिष्ट रंग था। राजा भी लाल रंग का मुकुट धारण करता था। दक्षिण मिश्र के नगरराज्यों का भी संघटित शासन खडा हुआ। उस की राजधानी आबायडॉस में थी। उन की रक्षक देवता गृध्रदेवी नेरब्बत थी। दक्षिण मिश्र का राजा श्वेत मुकुट धारण करता था। उत्तरी मिश्र के राजचिन्ह पर पेपीरस की शाखा रहती थी तो दक्षिणी मिश्र के राजचिन्ह पर 'लिली' पौधे की शाखा थी।

आबायडॉस के निकट 'तेनी' (थिनिस) नामक स्थान पर वहाँ के सामान्य घर में मिनया

मिनीस (मनु) का जन्म हुआ। कलियुगाब्द पूर्व ३०० (खि.पू. ३४००) के लगभग मिनीस के नेतृत्व में दक्षिण और उत्तर के राज्यों का एकीकरण हुआ। एकीकृत मिश्र का वह प्रथम शासनकर्ता था। वह सूर्य का उपासक था। शासन प्रमुख होने के साथ प्रमुख पुजारी भी था। मिश्र की श्रध्दा थी कि सम्राट सूर्यपुत्र है। अभिषिक्त होते ही मिनीस ने होरस (सूर्यपुत्र) की उपाधि धारण की। दक्षिण ओर उत्तर मिश्र के प्रतीक रूप श्वेत और रक्त वर्ण का राजमुकुट धारण किया। लिली और पेपिरस दोनों की गुँफित शाखाओं को संयुक्त राज्य के प्रतीक रूप में अंकित किया गया। दोनो राज्यों की सभ्यता एक थी। धार्मिक आस्थाएँ व धारणाएँ समान थी।

मिनीस के ही काल में मेम्फिस, कोरनाक (कोनारक-कोणार्क?) थिब्स आदि प्रमुख नगरों में भव्य मन्दिरों का निर्माण हुआ। प्रमुख तथा उस के सहाय्यक पुजारी नियुक्त किये गये। 'रा' सूर्यदेवता थी। मिश्री सूर्यपूजक थे। स्वाभाविकतः प्रधान मन्दिर सूर्य देव के थे। मिश्र के मिनीस के साम्राज्य का क्षेत्रफल लगभग २६००० वर्ग किलोमीटर का था। राजधानी मेम्फिस थी। राजा ईश्वर का ही अवतार माना गया। शासनव्यवस्था में प्रधान अमात्य मिनीस की सहायता करता था। अन्य अनेक अमात्यों पर भिन्न भिन्न विभागों का उत्तरदायित्व था। राज्य का विभाजन नोम्स अर्थात् प्रांतों में किया गया। उस पर स्वयं मिनीस ने राज्यपाल नियुक्त किये। कर व्यवस्था के लिये स्वतंत्र विभाग था। प्रांतोंके राज्यपाल प्रायःराजकुमार या राजवंश से संबंधित व्यक्ति होते थे। मिनीस और एक अन्य वंश के १८ राजाओं ने कलियुगाब्द पूर्व ३९८ से कलियुगाब्द १२२ (खि.पू. ३४००-२९८०) तक शासन किया।

इस के पश्चात् जोसेर ने तृतीय वंश की स्थापना की। तब से पाँच सौ वर्षों का काल सांस्कृतिक प्रगति और भौतिक समृध्दि का महान युग था। इसी काल में मिश्र के विशाल स्मारक (पिरामिड्स) बने।

मिश्र के राम राजा -

मिश्र के १९ वें और २० वें राजवंश में ११ राजा हुए जो स्वयं को राम कहलाते थे। रामसेस उन की उपाधि रामेश (राम ईश) का मिसरी रूप दिखाई देता है। रामेसस द्वितीय इस वंश का महान् नरेश था। कलियुगाब्द १७८७ (खि.पू. १३१५) के लगभग उस का जन्म हुआ। ९० वर्ष की दीर्घ आयु के पश्चात् उस की मृत्यु हुई। वह अभिषिक्त हुआ तब उस की आयु २३ वर्ष की थी। उस का राज्यकाल ६७ वर्ष का रहा। विश्व के सर्वाधिक विलक्षण शासकों में वह गिना जाता है। वह प्रतापी था, बलवान था और स्त्र्योचित सौंदर्य का स्वामी था।

सबसे पहले उसने नुबिया की सोने की खाने खुदवाकर राजकोष समृध्द किया। एशियायी राज्य जीतकर साम्राज्य की वृध्दि की। फिलिस्तीन को अपने अधीन किया। हत्ती

(हिटाइट) साम्राज्य के साथ उस का संघर्ष दीर्घ काल तक -चलता रहा था। १५ वर्ष के संघर्ष के पश्चात् संधि हुई। हत्ती राजकुमारी के साथ उसका विवाह हुआ। उस का प्रशासन कार्यक्षम था। वह एक महान् भवन निर्माता भी था। कोरनाक के सूर्य-मन्दिर का प्रधान कक्ष उस ने बनवाया। भारत में कोणारक (कोणार्क-ओरिसा प्रांत) में सूर्यमंदिर है। मिश्र में भी कोरनाक में सूर्यमन्दिर बनवाया गया था। यह एक आश्चर्य दर्शक संयोग की बात है। लक्सोर के मन्दिर का भी उस ने विस्तार कराया। आबू-सिम्बेल में पूर्व नरेश 'सेति' प्रथम व्दारा गुहा मन्दिर के कार्य का प्रारंभ हुआ था। मन्दिर पूर्ण करके अनेक प्रसिध्द मूतियों का निर्माण उसने कराया। रामसेस की भव्य पाषाण मूर्तियाँ भी कई स्थानोंपर प्राप्त हुई हैं। मेम्फिस में उस की एक विशालकाय लेटी हुई प्रस्तर प्रतिमा उपलब्ध हुई है तथा वहाँ के संग्रहालय के बाहर उस की एक खडी प्रतिमा एवं विराट स्फिंक्स (मानवमुख और सिंह का शरीर) है।

मिश्र की सभ्यता और उस का चक्रवर्ती शासन कलियुगाब्द की २६ (ख्रि.पू.५) वी शती तक अक्षुण रहा। लगभग तीन सहस्त्र वर्षों तक मिश्र की प्राचीन सभ्यता अपना पृथक् अस्तित्व और अद्भूत विशेषताओं के साथ विश्व की सारी सभ्यताओं का सुवर्णालंकार बनके रही।

हत्तुसिलिस (हित्ताइत सम्राट) और रामसेस में जो सन्धि हुई उस से विश्व के दो समकालीन सम्राटों के उदात्त भाव और संबंध का प्रकटीकरण होता है।

"उन दोनों में शत्रुत्व की भावना अब कभी नही होगी। श्वेत (हित्ताइत) का महान् नरेश किसी भी प्राप्ति के हेतु इजिप्त पर आक्रमण नही करेगा और इजिप्त का महान राजकुमार रामसेस-मेरिअमिन किसी भी हेतु महान् खेत की भूमि पर आक्रमण नही करेगा।"

(हत्तुसिलिस तृतीय और रामसेस द्वितीय के बीच हुए संधि पत्र का एक कलम (कलियुगाब्द १८३३ ख्रि.पू.१२६९)

मिश्री धर्म

"अंतरिक्ष के क्षितिज पर तुम्हारे उषःकाल की प्रभा...
कितनी सुन्दर होती है...
हे अतोन् (सूर्य)
सारे जीव सृष्टि के जीवन का आरंभ तुम हो...
प्राची में क्षितिज पर तुम उदित होते हो...
तब धरती सुन्दरता धारण करती है...
तुम कितने दूर हो...

परन्तु तुम्हारी किरणे धरती तक बिखेर जाती है...

कितने उँचाईपर हो तुम

परन्तु तुम्हारे पदचिन्ह दिन के रूप में...

पृथिवी पर प्रकट होते है।"

मिश्र की प्राचीन ऋचाएँ इन शब्दों में सूर्य देवता की स्तुति करती है। मिश्र के पुराण सूर्य का वर्णन 'विश्वनिर्माता के रूप में करते है। 'रा' मिश्र की सूर्यदेवता थी। 'रा' की कतिपय मूर्तियाँ उपलब्ध हुई जो पशुमुखी है। वैसे तो मिश्री सभ्यता में अनेक देवता थे। देवता मण्डल में प्रधान देवता का स्थान सूर्यदेव का रहा। मिश्र के दो सूर्य मन्दिर विख्यात थे। अस्वान बाँध के पास नील नदी के तट पर अबु सिम्बल में और दूसरा विशाल मन्दिर था कोरनाक में जो प्राचीन मिश्र की राजधानी लक्सर के निकट है। मिश्रवासी उगते सूर्य को जीवन का प्रतीक और डूबते सूर्य को अवसान का प्रतीक मानते थे। गाँव या नगर की संरचना इस प्रकार की जाती थी कि उस के पूर्वी भाग में राजप्रसाद, सैन्य प्रतिष्ठान, कार्य व्यापार और जनसामान्यों का भी निवास रहता था तो पश्चिमी भाग में स्मशान, शवालय (पिरामिड्स आदि) इन की व्यवस्था की जाती थी।

ईश्वर की न्यायशीलता, मृत्यु के पश्चात् मिलनेवाले कर्मफल, पुनर्जन्म आदि सिध्दान्तों से मिश्री तत्ववेत्ता परिचित थे। उन का धर्म बहुदेववादी था परंतु सम्राट अख्नातन के काल में एकेश्वरवाद भी विकसित हुआ था। मिश्रियों के राष्ट्रीय और सांस्कृतिक जीवन के आदर्शों की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति उनके पिरामिडों में हुई। जब पिरामिड बनाए गये मिश्र उतना समृध्द देश था। मिश्रिओं ने इन विशाल पिरामिडों की रचना अपने राज्य और उस के प्रतीक फराओ (राजा) की अनश्वरता और गौरव को अभिव्यक्त करने के लिये की थी। अगर फराओ अमर थे तो उन की मृत देह की सुरक्षा और उन के निवास के हेतु उन की महत्ता के अनुरूप विशाल और स्थायी समाधियों का निर्माण उन्हें आवश्यक प्रतीत हुआ। बालसूर्य की किरणे प्रथम पिरामिडों पर पडती थी फिर नील घाटी में प्रतिबिम्बीत हो उठती थी। पिरामिडों में शवों को सुरक्षित रखा जाता था और इन शवों पर सूर्य की किरणे एक विशेष कोण से ही प्रवेश कराई जाती थी।

कलियुगाब्द के प्रारंभ में (५००० वर्ष पूर्व) प्रथम मिश्र में दीवारों के लिये पाषाण खण्डों का उपयोग किया गया। फिर 'मस्तबा' नाम से प्रख्यात समाधियाँ विकसित हुई। कलियुगाब्द १२२ (खि.पू. २९८०) के लगभग जोसेर के मंत्री इम्होतेप ने सक्कर के समीप विशाल मस्तबे के ऊपर क्रमशःलघुतर होते गये मस्तबों की पाँच मंजिले बनवाकर १९५ फूट उँचे पिरामिड का निर्माण किया। यह स्थापत्य पूर्ण विकसित होता गया। गिझे का विशाल पिरामिड १३ एकड भूमि में बना है। ४८० फूट उँचा है और ७५५ फूट लंबा है। ढाई ढाई टन भार के २३ लाख पाषाण

खण्ड इतनी चतुरता से जोडे गये है कि कही कही तो ज़ोड की चौडाई एक इंच के हजार वे अंश से भी कम है। तुतेनखामेन की उत्खननित समाधि से बहुमुल्य काष्ठ, चर्म और स्वर्ण निर्मित उपस्कर, उपकरण, आबनूस और हस्तिदन्त खचित पेटियाँ, स्वर्णमण्डित, बहुमुल्य पाषाण मण्डित रथ, स्वर्ण-पत्र मण्डित सिंहासन, श्वेत पाषाण के सुन्दर पात्र, जरी के शाही वस्त्र आदि उपलब्ध हुए है।

पिरामिड से भी विशाल थे सूर्य मन्दिर। कोरनाक का मन्दिर सम्भवतः विश्व के विशालतम मन्दिरों में एक है। यह १३०० फूट लंबा है। मध्यवर्ती कक्ष ३३८ फूट लंबा और १७० फूट चौडा है। इस की छत छःपंक्तियों में बनाए गए १३६ स्तम्भों पर टिकी है जिसके मध्य के १२ स्तम्भ ७९ फूट उँचे है। प्रत्येक स्तम्भ के शीर्ष भाग पर सौ व्यक्ति खडे हो सकते है। साम्राज्य प्रसार के साथ मूर्तियाँ भी विशाल बनती गयी। थटमोस तृतीय और रामसेस द्वितीय की पाषाण-निर्मित मूर्तियाँ तो मानो आकाश को छूती है।

मिश्र में गाय पवित्र और पूज्य थी। देवताओं में इशिस देवी पवित्र 'गो' का प्रतीक थी। इशिस देवी की प्रतिमाएँ थी। उस के मन्दिर थे। दीवारों पर उत्कीर्ण एवं चित्रित दृश्यों में गाय एवं उसके बछड़े के प्रति लोगों मे श्रध्दा एवं सद्भाव का प्रदर्शन होता है। गिझे और मेम्फिस में कुछ सुन्दर चित्र प्राप्त हुए है जहाँ गाय नील नदी को पार करती दिखाई गयी है परन्तु उसके बछडे को चरवाहे अपने कंधे पर या वक्ष में उठाये हुए ले जा रहे है।

नील नदी मिश्र की गङ्गा थी। वह जीवनदायिनी थी। मिश्र वासियों की वह देवता थी।/ नील नदी की देवी निलोस नाम से विख्यात थी। निलोस देवी के मन्दिर थे। कमण्डलू में नील का जल भरकर देवी को अभिषेक करने की प्रथा थी। बडी श्रध्दा से लोग निलोस देवी का दर्शन करने मन्दिर में जाते थे। अभिषेक, पूजा, प्रार्थना के हेतु मंत्र होते थे। पुरोहित वर्ग मन्त्र उच्चारण में और उस के उपयोग के बारे में कर्मठ थे। पिरामिड में दीवारों पर, शव पेटिकाओं पर मन्त्र लिखे जाते थे।

और एक प्राचीन मिश्री देवता था जो 'पिता' (Pitah) कहकर विख्यात था। यह भगवान पिता मिश्रिओं के परमपिता अर्थात् ब्रह्मा थे। पृथिवी, भूदेवी, चन्द्र इन की भी देवताएँ थी। हर एक ग्राम की संरक्षक ग्राम देवता होती थी। मिश्र के पुराण अपनी सभ्यता का काल अतीत में ले जाते है। पुराणों के अनुसार 'थॉथ' (देवता या व्यक्ति) ने २० सहस्त्र वर्ष पूर्व 'ज्ञान' की नींव डाली थी। उस ने पृथिवी पर ३००० वर्ष शासन किया और ३६ हजार ग्रंथों की रचना की। इस प्रकार की मिश्र की परम्पराएँ भारत के प्राचीन परम्परा का स्मरण कराती है। हेलिओपोलिस का अर्थ होता है सूर्यनगर। वह मिश्र का सांस्कृतिक केन्द्र था। सूर्योपासक सम्प्रदाय का भी वह

प्रभावी केन्द्र था। गणित, पञ्चाङ्ग, लेखन विद्या, वास्तु कला, विज्ञान आदि में प्राचीन मिश्र ने प्रगति की थी। मिश्र के निकटपूर्व सभ्यताओं की दृष्टि से इन विद्याओं का 'मिश्र' ही जन्मदाता था। मिश्र का पञ्चाङ्ग उस की परम्परा के अनुसार कलियुगाब्द पूर्व ११३९ (ख्रि.पू.४२४१) में प्रारंभ होता था। सम्भवतः यही काल होगा जब मिश्र की सभ्यता का भी प्रारंभ हुआ।

कार्थेज के फिनिशियन (पणि)

उत्तरी आफ्रिका के सागर तट पर कलियुगाब्द २००० के लगभग अर्थात ३००० वर्ष पूर्व एक समृध्द नागर संस्कृति थी। लगभग १८०० वर्षों तक इस संस्कृति का प्रभाव एजियन सागर के प्रदेशोंमें था। आफ्रिका में वर्तमान टयुनिस के निकट यह स्थान था। यह फिनिशियन उपनिवेश था।

फिनिशियन जनश्रुति के अनुसार व्यापार वृध्दि के हेतु इस कार्थेज नामक नगरी का निर्माण हुआ। कार्थेज का अर्थ होता है, 'नव-नगर'। कलियुगाब्द २२२८ (ख्रि.पू.८१४) में फिनिशिया की राजकुमारी एलिश (Elissa) अपने कुछ अनुयायीओं के साथ उत्तर आफ्रिका के सागर तट पर आयी। वहाँ के स्थानिक लोगों ने उन का स्वागत तो किया परन्तु निवास के लिये पर्याप्त भूमि देने से इन्कार किया। स्थानिक लोगों के नेता ने उन से कहा कि एक बैल की खाल (चमडे) से जितनी भूमी मर्यादित होगी उतनी हम आप के निवास के लिये देंगे। उस पर आप का अधिकार रहेगा। चतुर एलिश ने 'खाल' ले कर उस के पतले टुकडे बनाए जो जोडने बाद एक लंबी रस्सी के समान बन गयी। इस प्रकार उस चमडे की रस्सी के कारण पर्याप्त भूमि प्राप्त हुई। वहाँ उसने अपना उपनिवेश स्थापित किया।

फिनिशियन के नाम से फिनिशिया अर्थात् वर्तमान पॅलेस्टाइन (इस्रायल) पहचाना जाता था। इसी प्रदेश का दूसरा प्राचीन नाम था 'कानन' (Canan) फिनिशियन न मध्य एशिया के थे न पश्चिम एशिया के। वे मूलतःव्यापारी थे। ३००० वर्ष पूर्व भूमध्य सागर के तट पर उन्हो ने अपने व्यापारी उपनिवेश स्थापित किये। वर्तमान लेबानन में 'टायर' में उन्होने प्रथम उपनिवेश स्थापित किया। उस काल में 'टायर' छोटा द्वीप था। (आज भूमी से जुडकर प्रायद्वीप बन गया है।) पॅलेस्टाईन में ही सायडन में उन्होंने दूसरा व्यापार केंन्द्र स्थापित किया। फिनिशियन्स ने व्यापार के साथ पृथक शासन भी खडा किया। उन के व्यापार केन्द्र भी प्रभावी नगर राज्यों में परिवर्तित हुए। वर्तमान इस्रायल, लेबानन और पश्चिम सीरिया के प्रदेश का फिनिशिया नाम पडा। भूमध्य सागरपर फिनिशियन सत्ता प्रस्थापित हुई। शीघ्र ही स्पेन के दक्षिण पश्चिम भाग में भी 'कादिझ' में उन्होंने व्यापारी उपनिवेश स्थापित किये। कलियुगाब्द २३००-२४०० (ख्रि.पू.८००-७००) के काल में असीरिया के असुर सम्राट ने फिनिशियन बन्दरगाहों पर हमले शुरू किये। टायर और सायडन की

सैनिक शक्ति को तोडना असीरिया का उद्देश था, जिस से भूमध्य सागर पर सत्ता प्रस्थापित हो सकती थी। ऐसी स्थिति में फिनिशियन्स में आफ्रिका के उत्तरी प्रदेश में कार्थेज नगर में अपना केन्द्र स्थापित किया। सार्डीनिया और सिसिली द्वीप पर भी उन के उपनिवेश थे।

कार्थेज केवल समृध्द व्यापारी केन्द्र ही नही था वरन् यहाँ पर फिनिशियन्स ने अपनी सैनिक शक्ति भी वृध्दिंगत की। उन की नाविक शक्ति तो प्रबल थी ही। ग्रीक व्यापारी उनके प्रतिस्पर्धी थे। कार्थेज ने ग्रीकों को पराजित करके अपना व्यापार सुरक्षित रखा। कार्थेज के निकट का भूप्रदेश अपने अधीन करके सत्ता को विस्तारित किया। कलियुगाब्द २९५६ (खि.पू. १४६) में रोम के साथ अंतिम संघर्ष हुआ जिस को तीसरा प्युनिक युध्द कहा जाता है। इस संघर्ष में कार्थेज की सत्ता पराजित हुई। रोमन सेना ने कार्थेज को पूरी तरह नष्ट किया।

लगभग १००० वर्षों तक कार्थेज फिनिशिअन्स का शक्तिशाली केन्द्र रहा। सागरी व्यापार की दृष्टि से यह स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण था। यहाँ पर दो बन्दरगाह थे। एक व्यापारी जहाजों के लिये और दूसरा युध्दपोतों के लिये। दोनो बन्दरगाह एक नहर के माध्यम से जुडे हुए थे। २५० युध्दपोत इस बंदरगाहपर सज्जित रहते थे। नगर पाषाण की तटबन्दी से युक्त था। आयताकृति नगर में प्रमुख मार्गपर छःमंजिले पाषाण के भवन थे। भवन के माथे पर तैरते बाग बनाये हुए थे। संगमरमर के उत्तुंग और भव्य मन्दिर थे जिन के स्तम्भ सुवर्ण और रजत पत्रों से मण्डित थे। नगर में कतिपय उद्योग चलते थे जिन में वस्त्र, सुवर्ण एवं अन्य बहमूल्य धातुओं के पात्र, देवताओं की मूर्तियाँ, मृद्भाण्ड, अलंकार आदि वस्तुओं के उद्योग महत्वपूर्ण थे।

फिनिशियन्स के पूर्वज...ऋग्वेद के पणि -

प्राच्य विद्या पण्डितों की एक राय फिनिशियन्स को ऋग्वेद में उल्लेखित भारतीय पणिजनों से जोडती है। ऋग्वेद में पणि, उन का देवता 'बल' और पणियों की व्यापार में कुशलता इनके संबंधित उल्लेख है। पणन् याने व्यापार और पणि अर्थात् व्यापारी। पणि वणिक थे (पणिर्वणिक् भवति) साहसी नाविक थे। उत्कृष्ठ काश्तकार थे। तीन चार पाल के प्रबल और वेगवान् जलपोत बनाने में कुशल थे। भौतिक वस्तुओं से परिपूर्ण थे। आर्थिक दृष्टि से समृध्द थे। सम्पत्तिमान् होने के कारण अपनी सुरक्षा में उतने ही दक्ष थे। उन के पुर (नगर) प्राकारों से युक्त थे। चारो ओर खाई बनाकर उस में नहरों को खुदवा कर नदी का पानी प्रवाहित करते थे। ये पुर नदी के तटपर थे। पुर में उँचे अधिष्ठान पर निवास के भव्य भवन बनाते थे। उन का गोधन (पशु सम्पत्ति) विपुल रहता था जिस में गाये, बैल, अश्व और अन्य पशुओं का समावेश था। सुवर्ण तथा बहुमूल्य रत्नों का सञ्चय उन की विशेषता थी। उन के प्रत्येक पुर की एक रक्षक देवता थी। बल या बाल (वल या वाल) उन का नेता था।

पणि यज्ञ नही करते थे। ऋग्वेद में दास, दस्यु आदि विशेषण संभवतःपणियों के ही है। आर्य और पणि इन के संघर्ष ऋग्वेद में वर्णित है। यह संघर्ष प्रदीर्घ काल चलता रहा। संघर्ष में पणि हारते गये। संभवतःजिन्हे आर्यों की शर्ते मान्य नही थी उन्हों ने सप्तसिन्धु प्रदेश छोड़कर जाना पसंद किया। वे जलाधिपति थे। जलमार्ग के स्वामी थे। पश्चिम की दिशा में चल पडे। 'बल' की, प्रेरणा उन के साथ थी। अरेबियन सागर से और रक्त सागर से (रेड सी) वे परिचित थे। उसी मार्ग से सम्भवतः वे वर्तमान इज्रायल में पहुँचे। टायर द्वीप पर उन्होंने नये जलपोत निर्माण किये। शीघ्रही सुमेर, एशिया मायनर, इटली के निकटस्थ द्वीप और मिश्र इन सभी भूप्रदेश के व्यापार में उन का प्रभुत्त्व प्रस्थापित हुआ।

पणिओं का सारा वर्णन फिनिशियन्स की सभ्यता से साम्य ही नही एकरूपता प्रदर्शित करता है। बैल, गाय पणिओं के पूज्य पशु थे। फिनिशिअन भी उन में आस्था रखते थे। 'बाल' फिनिशिअन्स की प्रधान देवता था। प्रथम से ही जहाँ जहाँ पर उन्होने अपने नगर स्थापित किये वहाँ 'बाल' का मन्दिर बनाया। मन्दिर में प्रतिदिन पूजा, अर्चना की व्यवस्था होती थी। व्यापारी पेढ़ी का प्रारंभ हो, नये भवन की नींव डालनी हो, नये जलपोत बनाने का संकल्प हो या जलसञ्चार के लिये निकलना हो, मन्दिर में जाकर बाल का दर्शन और आशीर्वाद प्राप्त किये बिना कार्यसिध्दी नही होती थी। 'बाल' शक्ति का देवता था, नगर रक्षक था, धनसम्पत्ति का वर्धक था। इस सर्वश्रेष्ठ देवता की शक्ति थी जिसे ग्रीकोंने 'अश्तार्त' देवी का नाम दिया था। यही मातृदेवता थी। उस के भी मन्दिर थे।

मन्दिरों में स्थंडिल और स्तम्भ होते थे। उन का उपयोग यज्ञ करने के लिये और बली-चढाने के लिये किया जाता था। राष्ट्रीय आपत्ति के प्रसंग में पशुबलि और क्वचित् मनुष्य बलि चढाते थे। मन्दिर की व्यवस्था में पुरोहित, ज्योतिषी, व्यवस्थापक होते थे। अश्तार्त देवी के मन्दिर में देवदासीयाँ रहती थी। फिनिशिअन्स निसर्गपूजक थे। अग्नि, सूर्य, चन्द्र, आकाश, पर्वत, वृक्ष इन की पूजा करते थे। शङ्क्वाकृति पाषाण ईश्वर के प्रतीकरूप समझकर उन की पूजा की जाती थी। 'बाल' देवता का नाम और स्वरूप हर एक नगर में अलग अलग था। टायर के मन्दिर में स्थापित देवता 'मेलकार्त' नाम से विख्यात थी। टानिट, बाल हेमोन, ईशमोन आदि अनेक देवताओं के मन्दिर थे।

स्पेन के सागरतट पर फिनिशियन्स के उपनिवेश थे। स्पेन के जनजीवन में अनेक धार्मिक आस्थाएँ और वृषभक्रीडा जैसे उत्सव की प्रथाएँ दिखती है वे फिनिशियन्स सभ्यता की देन है। फिनिशियन की जो दण्डगोल मुद्राएँ प्राप्त हुई है उन मुद्राओं के अभिलेख की लिपी सरस्वती (सिन्धु) लिपी से साम्य रखती है।

सन्निबल (Hannibal) फिनिशिअन्स का विख्यात ऐतिहासिक महावीर है। वह कार्थेज का निवासी था। हाथियों के दल सहित उस ने आल्प्स की उत्तुंग पहाडियाँ पार करके रोम पर आक्रमण किया था। मृत्यु के पश्चात् उसे भी बाल देवता के प्रतीक रूप माना गया।

नुबिया (कुशद्वीप) का मेरू साम्राज्य -

भारत के पारम्पारिक इतिहास के अनुसार उत्तर आफ्रिका में स्थित वर्तमान इजिप्त, सहारा प्रदेश, सुदान, नुबिया और एथिओपिया मिलकर 'कुशद्वीप' था। इजिप्त के कलियुगाब्द १००२ (खि.पू.२०००) के रिकार्ड में नुबिया को कुशद्वीप कहा है। एक खरोष्ट्री अभिलेख के अनुसार 'कुश' जनसमूह मध्य एशिया का निवासी था। दारियस के हमदान अभिलेख में उत्तर पूर्व आफ्रिका का एथिओपिया तक का भूप्रदेश कुशद्वीप बताया है। वर्तमान में भी एथिओपिया के लोग स्वयं को कुशाइट कहलाने में गौरव का अनुभव करते हैं। एथिओपिया के पूर्व में सोमालिया है। वहाँ की सोमाली और गल्ल जाति कुश भाषा का उपयोग करती है। प्राचीन काल में नुबिया और वर्तमान एरित्रिया देश सुदान में समाविष्ट थे। सुदान पूर्व में छाड सरोवर (वर्तमान छाड देश में) तक फैला था। छाड सरोवर से अटलांटिक सागर के तट पर स्थित वर्तमान गिनी तक का भूप्रदेश जिस में नायगर, नायजेरिया, घाना, माली, आयव्हरी कोस्ट आदि वर्तमान देश समाविष्ट है मिश्र और कुश सभ्यता से अंशतःप्रभावित था।

नुबिया (प्राचीन सुदान का भाग) मिश्र के दक्षिण में है। वह मिश्र के साम्राज्य के बाहर था। कलियुगाब्द ११०१ (खि.पू.२०००) में मिश्र के आमेनोफिस प्रथम ने आक्रमण करके नुबिया को अपने अधीन किया। लगभग २५० वर्ष नुबिया मिश्री साम्राज्य का एक प्रांत था। वहाँ पर कुश जाति का राज्यपाल नियुक्त था। नपाता उस की राजधानी थी। कलियुगाब्द की १४ वी (खि.पू. १७ वी) शती में नपाता स्थित कुश सत्ता ने अपने स्वतंत्र राज्य की घोषणा की। यद्यपि दीर्घ काल तक नुबिया मिश्र के अधीन था फिर भी कुश अपनी संस्कृति का गौरव बचाये रखने में सफल रहे थे। मिश्र की 'अमुन' रा (सूर्य) देवता का स्वीकार उन्हों ने किया था, उस के मन्दिर बनवाये थे परन्तु पूजा-अर्चना के मन्त्र उनकी अपनी भाषा के थे। अनेक कुश देवता थे, उनमें ही 'अमुन रा' को एक स्थान प्राप्त हुआ था।

कुश साम्राज्य ने अपनी शासन व्यवस्था विकसित की। सेनाबल वृद्धिंगत किया। नुबिया में नैसर्गिक साधन सम्पत्ति विपुल मात्रा में थी। घने अरण्य एबोनाय सहित सब प्रकार के वृक्षों से समृध्द थे। महाकाय हाथियों के झुंड से भरे अरण्य कुशद्वीप के आर्थिक सम्पन्नता के आधार थे। लकडी, पशुओं की खाले, हस्तिदन्त और सुवर्ण आदि वस्तुओं के व्यापार के कारण कुश साम्राज्य शीघ्र ही सम्पन्न हो गया। कलियुगाब्द २३३२-२३८६ (खि.पू.७७०-७१६) में कष्ट

सेन और पिआङ्खी जैसे महत्त्वाकांक्षी सम्राट हुए। पिआंखी ने उत्तरी सुदान से मिश्र में प्रवेश किया। मिश्र की राजधानी थिब्ज पर अपनी सत्ता प्रस्थापित की। पुरोहित वर्ग भी पिआंखी के अनुकुल था। कुश नरेश स्वयं फरोए बन गया। इस प्रकार मिश्रके २५ वे राजवंश की स्थापना कुश नरेश ने की। एक सौ वर्षों तक इस वंश ने मिश्र पर शासन किया।

युगाब्द २५१२ (खि.पू.५९०) में मिश्र के साथ फिर से संघर्ष छिड गया था। कुश सम्राटों ने नपाता के दक्षिण में ३२० किलोमीटर दूरी पर मेरू में अपने राजधानी का स्थलांतर किया। इस वैभवसम्पन्न राजधानी मेरू के अवशेष प्राप्त हुए है। उँचे भवन, स्तम्भयुक्त विशाल मन्दिर, और प्रासादों के खण्डहर प्राप्त हुए है। मेरू के दक्षिण में नाग नगर था। नाग में भव्य नरसिंह मन्दिर था। कुश नरसिंह को अपिदेमक नाम से जानते थे। अपिदेमक चतुर्हस्त और सिंहमुखी देवता था। कुश धार्मिक दृष्टि से मिश्र से भी अधिक भारतीय थे।

कलियुगाब्द की २७ वी (खि.पू.४ थी) शती में 'नष्ट सेन' कुश सम्राट था। उस के राज्य काल में भारत से कुश साम्राज्य का संबंध प्रस्थापित हुआ था। कुश व्यापारियों के जलपोत भारत के पश्चिमी तट पर के बन्दरगाहों पर जाते थे। व्यापार के साथ स्वाभाविकतः सांस्कृतिक लेन देन भी होती होगी। अनेक भारतीय देवताओं की मूर्तियाँ मेरू के मन्दिरों की दीवारों पर उत्कीर्ण की हुई थी। नाग नगरी के उध्वस्त अवशेष प्राप्त हुए है। वहाँ पर विशाल नाग मन्दिर था। प्रवेशव्दार, गर्भगृह और विशाल मूर्तियों से उत्कीर्णित दीवारे खण्डहर स्वरूप प्राप्त हुए है। दीवार पर विशाल नागदेवता उत्कीर्ण है।

मुसावरत नामक स्थान पर सम्राट अर्नेखमणि (कलियुगाब्द २८६६-२८८३, खि.पू. २३५-२१८) ने विशाल नरसिंह मन्दिर का निर्माण किया था। इस मन्दिर के भी अवशेष प्राप्त हुए है। कलियुगाब्द की ३२ वी (खि.प्रथम) शती में मेरू के दक्षिण में 'अक्षुम' नामक स्थान पर नई सत्ता का उदय हुआ। अक्षुम राज्य की प्रजा सेमाइट और कुश वंशी थी। प्रारंभ में कुश और अक्षुम राज्य के संबंध अच्छे थे। परन्तु यह एथिओपिया की अक्षुम सत्ता जैसे ही वृध्दिंगत हुई संघर्ष छिड गये। कलियुगाब्द ३४५२ (खि.पू.३५०) में अक्षुम की सेना ने कुश सेना को परास्त करके मेरु का विनाश किया। लगभग २००० वर्ष की भारतीय संस्कृति से प्रभावित सभ्यता का अस्त हुआ।

अक्षुम भी सूर्यपूजक थे। मेरू के राजाओं की समाधियाँ पिरामिड के रूप में मेरू में नील के तटपर बनाई जाती थी। उस का अनुकरण अक्षुम राजाओं ने भी किया। अक्षुम राजाओं ने सूर्यमन्दिरों के साथ कतिपय सूर्यस्तम्भ खडे किये। अक्षुम में प्राप्त पाषाण का सूर्यस्तम्भ ८० फूट उँचा हैं। दूसरा स्तम्भ ११० फूट उँचा था जो रोमन्स रोम में ले गये थे।

ाना और माली -

माली और घाना उत्तर आफ्रिका के पश्चिम भाग में स्थित देश हैं। वैसे ये देश सुदान से श्चिम में ३००० किलोमीटर से अधिक दूरी पर हैं। फिर भी कुश साम्राज्य के साथ उन का ांबंध प्रस्थापित हुआ था। उस के फलस्वरूप आफ्रिका के इस भूप्रदेश में अनेक जनजातियों के ाज्यों का उदय हुआ था।

आफ्रिका के जनजातियों का प्राचीन इतिहास विश्व के अन्य देशों के इतिहास की तुलना ं अज्ञात ही हैं। सुदानी परम्परा के अनुसार घाना का प्रथम राज़ा 'कय मघ' था। घाना की ालिंकी भाषा में 'घाना' एक उपाधि है। घाना याने घन या गण। कयमघ शब्द का अर्थ होता है ान-मघ अर्थात् गण-इन्द्र। मालिंकी भाषा में भी मघ याने राजा अर्थात् इन्द्र। कयमघ सन्हज ाश का था। प्रजा सोनिंके जनजाति की थी। मिश्र और कुश साम्राज्यों के साथ घाना के उत्कृष्ट यापारिक संबंध थे। दक्षिण आफ्रिका की कतिपय निग्रो जनजातियाँ सुवर्ण संग्रहित करके घाना ़ राजा के पास भेजती थी। सुवर्ण के व्यापार के फलस्वरूप घाना का राज्य आर्थिक दृष्टि से ामृध्द था। उस काल में माली, आयव्हरी कोस्ट इस प्रकार के अलग नाम के भूप्रदेश नही थे। ाभी जनजातियों के अपने राजा थे। घाना के राजा ने ऐसे सभी राजाओं को अपने अधीन कर ़खा था। कलियुगाब्द ४१६९ (खि. १०६७) में घाना के राजा की सेना में ४० सहस्त्र धनुर्धारी ़ौर १० सहस्त्र अश्वारोही थे। उस समय सुशू जाति के सुमनगुरु नामक राजा ने कुछ काल ाक घाना पर अपनी सत्ता प्रस्थापित की थी। उस के पश्चात निग्रो वंशी सुंदिआता नाम का राजा ााना का शासक था। सुंदिआता ने मुस्लिम धर्म को स्वीकार किया था। इस के साथ ही घाना ़ी प्राचीन परम्परा लोप होने लगी।

माली घाना के साम्राज्य का ही विभाग था। मालिंके जाती के प्रभाव से यह प्रदेश माली ़हलाया गया। घाना और माली की लगभग सभी जनजातियाँ निसर्ग पूजक थी। मूर्तिपूजक थी। ुस्लिम धर्म का स्वीकार और अरबों के आक्रमण के कारण कतिपय जातियाँ अपनी संस्कृति खो ़ैठी। फिर अरबों ने युरोपियन साम्राज्यवाद का साथ देकर गुलामों के व्यापार में हिस्सा लिया। ़ाफ्रिका को सुसंस्कृत युरोपियन और अरब लोगों ने कृष्णखण्ड कहा परन्तु उन का स्वयं का ़तिहास अमानवीय काली करतूतों से भरा हुआ हैं।

़ूर्व आफ्रिका -

पुराणों में इतिहास के साथ विश्व का भूगोल भी विस्तार से वर्णित है। आफ्रिका खण्ड ़ंभवतःपुराणों में वर्णित शङ्खद्वीप है। आफ्रिका का मानचित्र देखते ही शंखाकृति प्रतीत होती ़ै। आफ्रिका और भारत के बीच अरब सागर (रत्नाकर) हैं। भारत में प्राचीन काल से ही

नौकानयन विज्ञान विकसित हुआ था। साहसी नाविक, व्यापारी, आचार्य, भिक्षु सागर पार करके नये नये भूप्रदेशों में जाते रहे। भारत के पश्चिमी सागरकिनारे पर अनेक प्राचीन बन्दरगाह थे। वहाँ से अनुकुल वायु का लाभ उठाकर आफ्रिका के पूर्वी सागरतट तक का प्रवास भारतीयों के लिये कोई कठिन बात नही थी। इस प्रकार के सम्बन्धों के पुरातात्त्विक आधार भी अब मिलने लगे है। ओमान की खाडी में ईसा पूर्व के भारतीय नौका के अवशेष मिले है।

पूर्वी आफ्रिका के केनिया, युगांडा, तांझानिया आदि देशों के साथ प्राचीन काल से भारतीयों का संबंध था। इसी कारण वहाँ के पर्वत, नदी, सरोवर के नाम भारतीय होने का आभास प्राप्त होता है। पूर्वी आफ्रिका में विश्व का मीठे पानी का सबसे बडा सरोवर है। उस का क्षेत्रफल लगभग ६०,००० वर्ग किलोमीटर का है। भारतीयों को यह सरोवर अमर सरोवर नाम से ज्ञात था। अमर सरोवर अर्थात् वर्तमान 'विक्टोरिया लेक' केन्या एवं युगांडा में फैला हुआ है। टांझानिया में भी टांगानिका सरोवर है जिस के दक्षिण में अमर सरोवर तक फैली पर्वत शृंखला है। यह पर्वत भारतीयों को सोम गिरी याने चन्द्र पर्वत नाम से ज्ञात था। इस पर्वत का स्थानिक भाषा में नाम है 'उन्यामुएझी'। उन्यामुएझी का भी अर्थ है चन्द्रपर्वत।

नील नदी का नाम शुध्द संस्कृत है। नील नदी की दो शाखाएँ है। एक श्वेतनील कहलाती है तो दूसरी नील नील कहलाती है। अमर सरोवर नील नदी का उद्गमस्थल है। अमर सरोवर से निकलती हुई यह नदी उत्तरवाहिनी है। ७००० किलोमीटर का लम्बा प्रवास करके वह उत्तर में भूमध्य सागर में समर्पित होती है। नील नदी के उद्गमस्थान की खोज जिस साहसी युरोपियन ने की वह था जॉन स्पीकी। कलियुगाब्द ४९६५ (खि. १८६३) में उसने अपने शोध का रोमाञ्चकारी वृत्तांत "द डिस्कवरी ऑफ द सोर्स ऑफ द नाइल" इस ग्रंथ के स्वरूप में प्रकाशित किया।

इस ग्रंथ में स्पीकी ने दावा किया है कि हिंदुओं के पुराण ग्रंथों पर आधारित आफ्रिका के एक मानचित्र के कारण इस खोज में उसे सफलता मिली। यह मानचित्र उसे कर्नल विल्फर्ड ने दिया था। कर्नल विल्फर्ड ने कलकत्ता में एक हिंदु पण्डित की सहायता से वह बनवाया था। स्पीकी ने अपने ग्रंथ में वह मानचित्र दिया है।

मेरू का अर्थ ही पर्वत है। आफ्रिका के कतिपय पर्वतों के नाम 'मेरू' है। पर्वतमय प्रदेश मेरू देश कहलाते है। घाना, माली, सुमाली, कुरू, मोंम्बासा और किसुमु (केन्या स्थित नगर), मेरु, अरूशा और किलीमार्जार (टांझानिया स्थित पर्वत), आदि नाम केवल संयोग से भारतीय मूल के नही हो सकते। पूर्वी आफ्रिका के युगाण्डा में रूआण्डा, बुरूण्डी, उरूण्डी, किशगग, कशगु आदि प्रदेश है। स्पीकी उन प्रदेशों में गया तब वहाँ का राजा था 'रूमणिक'। उस ने स्पीकी को

बताया था कि यह प्रदेश प्राचीन काल में मेरू साम्राज्य में था। दक्षिण एवं मध्य आफ्रिका में सैंकडो जनजातियाँ है। कतिपय जनजातियों के नाम भारतीय है। केन्या में एक साई (Msai) जाति है जिस के जीवनव्यवहार, नीतीमूल्य, चरितार्थ साधन और श्रध्दाएँ तथा धार्मिक विधी भारतीय संस्कृति से प्रभावित है।

पूर्वी आफ्रिका के निकट मादागास्कर (मेलागेसी रिपब्लिक) द्वीप है। उस द्वीप की सभ्यता को एक हजार वर्ष पूर्व हिन्देशिया की संस्कृति ने प्रभावित किया था। हिन्देशिया की संस्कृति भारतीय थी।

माली और सुमाली आफ्रिका खण्ड के प्रदेशों के नाम है। ये नाम रामायण में रावण के सम्बन्धियों के लिये आये है। सम्भव है उन के नाम पर ही इनका नामकरण हुआ हो। इसी प्रकार सुन्द और उपसुन्द नाम भी पुराणों में प्राप्त होते है, जिन के नामपर जातियाँ आज भी विद्यमान है। इसी प्रकार कस्साइट, कुश से तथा फिनिशिअन पणि से सम्बन्धित माने जा सकते है।

कार्थेज (पणि पत्तन)
माल्टा
कश्यप सागर
भू म ध्य सा ग र
जेरुसलेम
इरान
टयुनिशिया
(पणि स्थान)
कैरो
स हा रा म रु स्थ ल
इजिप्त
(मिश्र)
अरबस्तान
माली देश
घाना
सुमाजी
(सोमालीया)
सोकोत्रा
(सुरुधार द्वीप)
विक्टोरिया
(अमर सरोवर)
नैराबी
किलीमार्जार
अरुषा
मालिन्दी
टांझानिका
सरोवर
झांजीबार
न्यासा
सरोवर
आफ्रिका
(शाल्मलि द्वीप)
कालाहरी
मरुस्थल
मादागास्कर
हि न्दु म हा सा ग र

मानचित्र क्र. ८

१८६३ के 'जर्नल ऑफ द डिस्कवरी ऑफ द सोर्स ऑफ द नाईल' में
जॉन स्पीकी ने दिया हुआ मानचित्र
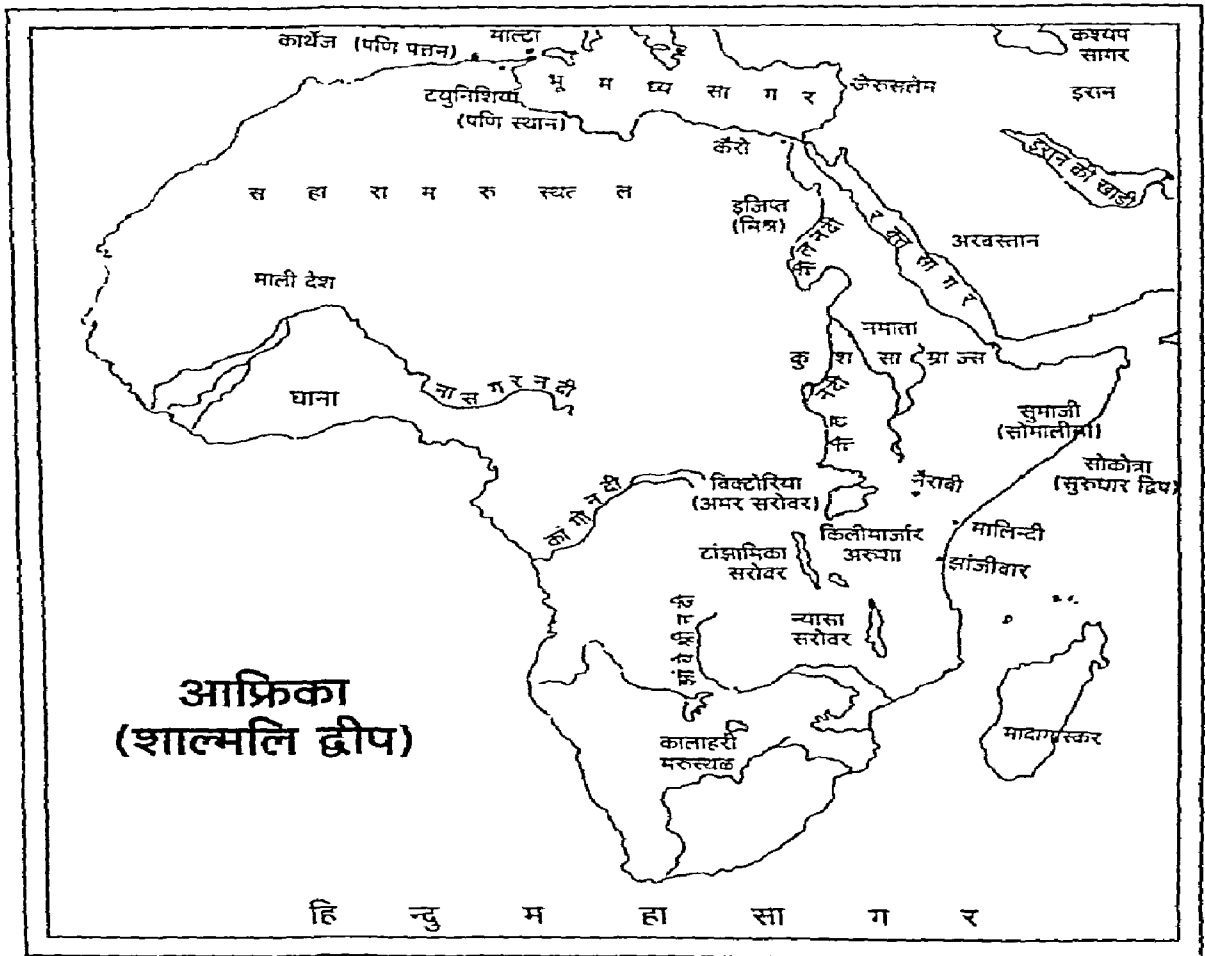
मानचित्र क्र. ९

दक्षिण अमेरिका (पेरू, बोलिविया, चिली, इक्वादोर, कोलंबिया)

विश्व का सबसे विशाल प्राचीन साम्राज्य

"अनन्त अवकाश के उच्छ्वास में उस का निवास था...
विश्व तमोमय था...सब ओर जल ही जल था
न उषःकाल की आभा थी...
न प्रकाश...
उसने सोचा...इस प्रकार तो मैं अस्तित्वहीन हो जाउँगा...
मैं अनन्त हो जाउँ...
वह तेजोमय हुआ
सब ओर प्रकाश ही प्रकाश फैला..."
(इंका सूक्त)

कलियुगाब्द की ४६ वी शती में अबसे केवल साढ़े पाँच सौ वर्ष पूर्व अमेरिका में विश्व का सबसे विशाल साम्राज्य स्थापित हुआ। युरोप का रोमन साम्राज्य, भारत का गुप्त साम्राज्य या ब्रिटन का अर्वाचीन साम्राज्य भी विशालता में इतना बडा नही था। इक्वादोर, कोलम्बिया, पेरू, ब्राझील का पश्चिमी भाग, बोलिविया, चिली और अर्जेंटिना का उत्तरी भाग ये दक्षिण अमरिका स्थित विस्तीर्ण भूप्रदेश इस साम्राज़्य में समाविष्ट था। लगभग ५००० किलोमीटर लंबा एवं ४००० किलोमीटर चौडा यह क्षेत्र विश्व के किसी भी प्राचीन, मध्ययुगीन या अर्वाचीन सम्राट के साम्राज्य से निश्चित ही विशालतर था।

धर्म, संस्कृति, परम्परा, उपासना पध्दति, और स्वभाव की कसोटी पर 'इंका' जो इस साम्राज्य के निर्माता थे, शुध्द भारतीय थे।

तिवानको...इंकाओं की मनुभूमि,

दक्षिण अमेरिका में पश्चिम किनारे पर उत्तर से दक्षिण अन्देस (Andes) पर्वत-शृंखला फैली हुई है। भारत का मेरूदण्ड हिमालय उत्तर में है, दक्षिण अमेरिका का मेरूदण्ड

'अन्देस' उस के पश्चिम में है। यह शब्दशः सुवर्ण गिरी की शृंखला है। सुवर्ण एवं अन्य धातुओं का विशाल भण्डार इस पर्वत पर है। वर्तमान पेरू और बोलिविया इन देशों की सीमा पर पर्वत की लगभग १२७०० फूट उँचाई पर एक ३०० किलोमीटर लंबा विशाल सरोवर है। यह है तितिकाका सरोवर, जिस के तट पर लगभग ४००० वर्ष पूर्व के नगर के अवशेष प्राप्त हुए हैं।

इस 'तिवानको' नगर के खण्डहर आज भी एक अत्यंत वैभवसम्पन्न प्राचीन सभ्यता को उजागर करते हैं। एक ओर तितिकाका सरोवर था। नगर की स्थापना करते समय नहर खुदवाकर चारो ओर खाई बनाकर नगर को खाई से सुरक्षित किया गया था। खाई पर पुल बनाये हुए थे। नगर का प्रवेशद्वार विशाल पाषाणखण्डों से बनाया गया था। नगर में भव्य प्रासाद थे, राजमार्ग थे विशेष व्यक्तिओं के तथा सामान्यजन के भवन थे। महत्वपूर्ण तीन वास्तुओं के खण्डहर आज भी उन की विशालता का आभास दिलाते हैं। एक है 'अकपन' जो पिरामिड के आकार का विशाल 'स्थण्डिल' है, जहाँ पर यज्ञ होते होंगे। यह वास्तु ४९६ फूट चौडी, ६५० फूट लंबी और ७० फूट उँची है। उपर शिखर तक जाने के लिये सीढियाँ बनाई हुई थी। कृत्रिम पहाडी बनाकर पाषाण खण्डों को कुशलता से जोडकर यह वास्तु बनाई गयी थी। उस के चारो ओर भी सुंदर नहरे खुदवाकर उस में सरोवर का स्वच्छ जल प्रवाहित रहे इस प्रकारका प्रबन्ध किया था।

नगर में दूसरा भाग था। 'तुंका पुंकू' जिस का अर्थ होता हे 'दशद्वार' का स्थान। यहाँ पर कतिपय मन्दिरों एवं देवताओं की मूर्तिओं के खण्डहर प्राप्त हुए है। तिवानको नगरवासी सूर्य के उपासक थे। विशाल सूर्यमन्दिर के अवशेष तिवानको में प्राप्त हुए है। इस मन्दिर का प्रवेशद्वार अखण्ड पाषाण में उत्कीर्ण है। यह द्वार १६ फूट चौडा है और १० फूट उँचा है। प्रवेशद्वार के तोरण भाग पर ४८ चौकोर शिल्प उत्कीर्णित है। अंतरिक्ष में विहार करनेवाले देवताओं के ये शिल्प हैं। तिवानको नगर के साथ एक सुंदर जनश्रुति जुडी हुई है।

आर्याना (oryana) नामक देवी ने स्वर्ग से पृथिवी पर पदार्पण किया। वह पृथिवी के माता का अपना उत्तरदायित्व निभाने अवतरित हुई थी। उस ने ७० पुत्रों को जन्म दिया और फिर वह अंतरिक्ष में चली गयी। यही अमरिका की मूल सन्तान है। विशाल सूर्यमन्दिर एवं तिवानको नगर का निर्माण पूर्वी दिशा से समुद्रपर से आये हुए देवताओं ने एक दिन में किया जिन्हे देवी आर्याना ने प्रेरित किया था ऐसी किंवदन्ती हे।

सुमेर के अभिलेखों में अनेक बार मनु की भूमि का संदर्भ आता है। जहाँ सूर्यास्त होता है, जनश्रुतियाँ सूर्यास्त की इस भूमि को मनु भूमि कहती है। यह वर्णन तितिकाका सरोवर जिस के तटपर सूर्यमन्दिर है और जो निरंतर मेघव्याप्त रहता है उसी भूमि से साम्य दर्शाता है।

दक्षिण अमेरिका की इस प्राचीन सभ्यता के निर्माता मेधावी थे। वे कहाँ से आये इस के संदर्भ में श्रुतियाँ निःसन्देहतासे कहती है कि वे पूर्वी दिशा से आये।

एशियन लोगोंका स्थलांतर

दक्षिण अमेरिका, मध्य अमेरिका एवं उत्तर अमेरिका में हज़ारो स्थानिक जनजातियाँ है। उत्तर अमेरिका के उत्तरी छोर पर अलास्का की भूमि है जिसे बेरिंग की सामुद्रधुनि रूस से अलग करती है। लगभग ४० हजार वर्ष पूर्व यह खाडी कड़क बर्फ के रूप में थी। उस समय एशिया से मनुष्यों एवं महाकाय पशुप्राणियों ने अलास्का में प्रवेश किया। २८ हजार वर्ष पूर्व फिर से इसी प्रकार की भौगोलिक स्थिति प्राप्त हुई थी। उस समय भी एशिया से मनुष्यों का निर्गमन होता रहा। दस हजार वर्ष पूर्व एशिया एवं अमेरिका का भूप्रदेश वर्तमान भौगोलिक स्थिति को प्राप्त हुआ। एशिया का मनुष्य अब उस की सभ्यता लेकर...अलास्का भूप्रदेश से हो कर उत्तरी अमेरिका के पश्चिमी किनारे पर बसता गया। वहाँ से मध्य अमेरिका और दक्षिण अमेरिका के पश्चिम किनारे पर भी वह फैलता गया। इतिहास के अभ्यासक मानते हैं कि एशियन सभ्यताओं के साथ प्राचीन अमेरिकी सभ्यताओं का जो साम्य दिखाई देता हैं उस का कारण यही है और उस के पुरातात्विक आधार भी प्राप्त हुए है। इस प्रकार के एशियायी स्थलान्तर के सिध्दान्तों को यद्यपि कतिपय विद्वान मानते है, फिर भी कुछ विद्वान सभ्यताओं का साम्य एक संयोग मात्र समझते है।

भारतीय नाविक -

मध्य अमेरिका के देश और मेक्सिको की मय सभ्यता पूर्ण रुप से भारतीय दिखाई देती है। उनके मन्दिर, देवी देवताएँ, सामाजिक प्रथाएँ नैतिक मूल्य आदि भारतीय तत्वों के साथ अपना घनिष्ठ संबंध प्रकट करते है। अमेरिका की प्राचीन सभ्यताओं पर भारतीय संस्कृति का प्रभाव केवल संयोग की बात नही तो भारत एवं दक्षिण पूर्व एशिया से जो संस्कृति प्रचारक, नाविक, व्यापारी, पण्डित सैंकडो वर्षों से प्रशान्त महासागर सन्तरण करते हुए जाते रहे वे उन सभ्यताओं के निर्माता हैं।

दो हजार वर्ष पूर्व, संभवतः उससे भी पहले भारत के पूर्व किनारे से भारतीय नाविक दक्षिण पूर्व एशिया में जाते रहे। ब्रहमदेश (म्याँमा) से विएतनाम तक पूर्व में और मलेशिया से आस्ट्रेलिया तक के दक्षिण एशिया के सभी द्वीपों पर भारतीय संस्कृति फैली हुई थी। भारत में ऐसे जहाज बनते थे, जिस में दो सौ से सात सौ की संख्या में प्रवासी तीन तीन महिने तक सागरीय प्रवास करते थे। सागरी संस्कृति की भारतीय परम्परा ऋग्वेद काल से चलती आयी है। प्रशान्त महासागर में हजारो द्वीप है, और कतिपय द्वीपवासियों की सामाजिक व सांस्कृतिक प्रथाएँ

भारतीय प्रभाव भी दर्शाती हैं। साहसी भारतीय नाविक भारत के पूर्व किनारे से प्रशान्त महासागर पार करके लगभग १८ हजार किलोमीटर की दूरी पर अमेरिका के पश्चिमी तट पर पहुँचे होंगे इसमें कोई सन्देह नही। इस सिध्दान्त की पुष्टी करने वाले पुरात्तात्विक आधार प्रचुर मात्रा में प्राप्त हो रहे है।

इंका जनश्रुतियाँ कहती है कि उनके पूर्वज चार अय्यर इंका थे जो पूर्वी दिशासे सागर पर से आये। कतिपय अमेरिकी सभ्यता के अभ्यासक यहाँ तक अपना मत प्रकट करते है कि मेक्सिको का केत्झलकोत्ल और पेरु का मंको कपश भारतीय संस्कृति के प्रचारक थे।

प्रथम राजा-मंको कपश

दक्षिण अमेरिका के महान इंका साम्राज्य का निर्माता था मंको कपश। मंको आर्य (अय्यर) इस नाम से भी वह विख्यात था। औशा आर्य, काशी आर्य और ऊहू आर्य उस के अन्य तीन भाई थे। उनकी चार बहने थी। ओक्लो अम्मा, वाको अम्मा, कोरा अम्मा और रोआ अम्मा। मंको कपश के पिता का नाम था 'अतौ'। मंको कपश का जन्म वर्तमान एक्वादोर के पास स्थित 'ग्वायो' द्वीप पर हुआ था। जनश्रुति के अनुसार मंको कपश सूर्यपुत्र था और तितिकाका सरोवर में के द्वीप पर वह अपने बहनों के साथ प्रथम प्रकट हुआ। दूसरी एक जनश्रुति के अनुसार वर्तमान कुश्को के दक्षिणपूर्व में ३० किलोमीटर दूरी पर 'पक्करी तम्पो' पहाडी में 'तम्पो तोक्को' नामक तीन गुंफाएँ है वहाँ से वे प्रकट हुए और पेरु में आये।

नवीन अनुकुल भूमि की खोज में मंको कपश अपने अनुयायिओं के साथ पेरु के किनारे पर वर्तमान 'आयका' बन्दरगाह पर आया। कुछ काल वहाँ निवास करके फिर तितिकाका सरोवर के तट पर कुछ वर्षों तक रहा। अन्ततः कुश्को में पर्वत की घाटी में उसने अपना उपनिवेश स्थापित किया। उसके भाईयों और बहनों से आठ कुल उत्पन्न हुए जो उन कुलों के गोत्र बने। मंको कपश, उसका पुत्र सिंकी रोशा और प्रपौत्र लिके उपांकी इन्होंने कुश्को के परिसर में ही शासन किया।

पाँचवी पीढ़ी का 'कपश युपांकी' प्रथम इंका राजा था जिसने इंका राज्य का विस्तार किया।

वीरकोच इंका -

आठवा राजा वीरकोच इंका महान् सम्राट बना। उसने सभी जनजातियों को साम्राज्य में समाविष्ट किया। उसके चाचा विशाकी राव और आपो मेयता उसके पराक्रमी सेनानी थे। सबसे बलवान जनजाति 'अयर्मक' थी। उसको उन्होंने पराजित करके राज्य सुरक्षित किया।

अन्य चंका और उरुबम्ब जातियों के राज्य भी जीत कर तितिकाका सरोवर तक साम्राज्य की सीमाएँ पहुँचायी। वीरकोच के कालमे अनेक जनजातियाँ कड़े संघर्ष के पश्चात साम्राज्य में विलीन हुई। अपने अंतिम दिनो में वीरकोच को आक्रमकों का सामना करना पडा।

वीरकोच का सबसे महत्वपूर्ण कार्य धार्मिक क्षेत्र में रहा। जनजातियाँ के अपने देवता थे। पूजा पध्दतियाँ थी। धर्मगुरु थे। जनजातियों के शासकीय नेताओं और धर्मगुरुओं की संसद बुलाकर एक सर्वमान्य धार्मिक एकता उसने निर्माण की। देवताओं की श्रेणि बनाकर उन के स्थान निश्चित किये। धर्मगुरुओं के अधिकार निश्चित करके उनकी प्रतिष्ठा स्थापित की। सूर्य की उपासना यह सभी सम्प्रदायों को एकसूत्र में बाँधनेवाला तत्व था।

पचकुटी इंका उपांकि (कलियुगाब्द ४५३९-४५७२ - खि. १४३८-१४७९)

वीरकोच के अंतिम काल में उसे आपसी संघर्ष का भी सामना करना पडा। आक्रमण के कारण उसने राजधानी कुशको छोडकर कालका दुर्ग में आश्रय लिया था। अपने एक पुत्र इंका उरकोन को अपना वारिस घोषित किया था। विशाकी राव और आपो मेयता दोनों को यह पसंद नही था। उन्हों ने दूसरा पुत्र कुशि इंका उपांकि को अभिषिक्त किया। पचकुटी के मृत्यु के पश्चात् उरकोन युध्द में मारा गया और कुशि इंका उपांकि की सत्ता स्थापित हो गई। उसने 'पचकुटी इंका उपांकि' की उपाधि धारण की। पचकुटी एक समर्थ और कार्यक्षम एवं युगप्रवर्तक शासक सिध्द हुआ।

विशाकी राव और आपो मेयता की सहायतासे उसने अपने साम्राज्य का विस्तार किया। दक्षिण अमरिका में स्थित वर्तमान कोलंबिया, एक्वादोर, पेरु, उत्तर चिली, बोलिविया, उत्तर अर्जेतिना, पॅराग्वे और पश्चिम ब्राझील के भूप्रदेश विशाल इंका साम्राज्य के अधीन थे। इतने विस्तीर्ण साम्राज्य का शासन सम्राट पचकुटी ने अभिनव पध्दतीसे निर्माण किया। समस्याएँ बहुत थी। हर एक जनजाति का अपना नेता और शासन था। छोटी छोटी घटनाओं से विद्रोह भडक उठते थे। महत्वाकांक्षी राजपुत्र और जनजाति के शासक षड्यन्त्र रचते थे। पचकुटी ने सभी शासकों को शासन के अधिकारियों की श्रेणि में स्थान दिया। जनजातियों के शासकों के राजनैतिक प्रशिक्षण की योजना की। उनके पुत्रों को राजधानी में रखकर उनके शिक्षा की व्यवस्था बनाई। अपने पुत्र और स्त्रियों का राजधानी में होने के कारण सभी शासकोंपर स्वाभाविक नियंत्रण प्रस्थापित हुआ। जनजातिओं की अपनी बोलियाँ थी परन्तु राज्यशासन की भाषा 'केशुआ' रखी गयी जो शासनव्यवस्था में अनिवार्य थी।

अगर किसी स्थान पर बहुसंख्यता के आधारपर जनजाति का प्रतिरोध दिखाई दिया तो उस जनजाति को स्थलांतरित करवाकर राजनिष्ठ प्रजा की बहुसंख्या स्थापित की गयी। स्थानिक

उत्पादन व आय के प्रमाण में वहाँ पर करयोजना लागू की गयी। खेती में सुधार किये गये। नहरे खुदवा कर खेती के लिये पानी का प्रबन्ध करवाया गया। विशाल साम्राज्य के शासन की दृष्टि से सभी शासकीय प्रांतो को जोडनेवाले मार्ग बनाए गये। क्विटो से चिली तक का महामार्ग लगभग ५ हजार किलोमीटर का था। इंका शासन का एक वैशिष्ट्य था। 'चक्र' सूर्य का प्रतिक होने के कारण इंका सभ्यता में चक्र का (पहियों का) उपयोग वाहन बनाने हेतु निषिध्द था। चक्र के बिना अपनी सभ्यता को विकास की चरमसीमापर ले जाने का अद्वितीय प्रयोग इंका सभ्यताने किया। दूसरी विशेषता थी, गणन क्रिया की क्विपु (Quipu) पध्दति। केवल रस्सी का उपयोग करके पूरे शासन का रिकार्ड (हिसाब-किताब) रखनेवाले कुशल और बुध्दिमान कायस्थों का विशेष वर्ग इंका शासन में महत्वपूर्ण था। अत्यंत कार्यक्षम संदेशवहन व्यवस्था बनाई गयी थी।

भौगोलिक दृष्टि से साम्राज्य का शासन चार भागों में विभाजित किया था। प्रत्येक भाग में सबसे छोटी इकाई दस परिवारों की थी। परिवार या कुल में दस से पचीस तक घटक थे। तीन पीढीयाँ एकत्रित रहती थी। पचास, एक सौ, पाँच सौ और एक हजार कुलों की इकाइयाँ बनाई गयी थी। पाँच हजार और दस हजार कुलों की सबसे बडी इकाई भी अपवाद स्वरुप थी। कुश्को सबसे बडा नगर था।

राजधानी

कुश्को राजधानी होने के नाते साम्राज्य के शासन का हृदय ही था। अपने अपने वैशिष्ठय पूर्ण जीवनपध्दति से रहनेवाली कतिपय जनजातियों से समृध्द था। प्रशस्त राजमार्गो, विशाल भवनों, शासकीय कार्यालयों, सार्वजनिक सभागृहों से युक्त था। ईंका सरदारों के विशाल भवनों में उनकी स्त्रियाँ और सरदार पुत्रों का निवास रहता था। इंका के राजपुत्र उनके भवन में उत्सवों के अवसरपर प्रीतिभोज और नृत्यादि मनोरंजन का आयोजन करते थे। राजधानी में सबसे महत्वपूर्ण आकर्षण था विशाल और धनसम्पन्न सूर्यमन्दिर। यह मन्दिर पाषाण का बना हुआ था। उसके प्राचीर की लंबाई लगभग ४०० फूट थी। पाषाण में उत्कीर्ण कतिपय द्वार थे। मन्दिर की सारी दीवारों पर ऊपर की ओर लगभग चार इंच की सुवर्णपट्टीयाँ लगाई गयी थी। गर्भगृह का तलपट्ट छत और दीवारे सुवर्ण के पत्तरों से आवृत्त की हुई थी। प्रवेश द्वार और छोटे द्वार भी सोने की पट्टियों से आवृत्त थे। मन्दिर के परिसर में ... सोने की मिट्टी, सोने के वृक्ष वनस्पती और इस प्रकार के सुवर्ण बाग में सोने के पशुपक्षी बनाए हुए थे। गर्भगृह में सुवर्ण का बडा गोल था जो सूर्यदेवता का प्रतीक था। दूसरा चाँदी का गोल था जो चंद्र का प्रतीक रुप था। मन्दिर में प्रतिदिन पूजा होती थी।

दूर दूर के प्रांतों से जनजातियों के प्रमुख राजधानी में आते रहते थे। प्रत्येक जाति के

लिये नगर में स्वतंत्र भूप्रदेश रेखांकित किया हुआ या जहाँ वे अपने भवन बनवाते थे। उत्सव के अवसर पर लाखों लोगोंसे नगर भर जाता था फिर भी अपने अपने रंग बिरंगे वस्त्रप्रावरण और जाति प्रथाओं के आचरण से हर जाती सहजता से अपनी पहचान प्रकट करती थी। नगर के पास की उत्तुंग पहाडीपर पचकुटी ने सुरक्षा हेतु दुर्ग बनवाया था जो साक्षवामन (Sacsahuaman) नाम से विख्यात हुआ।

पचकुटी के पश्चात टोप इंका उपांकि और उसके पश्चात वाना कपश इन के ५५ वर्ष के कार्य काल में इंका साम्राज्य में समृध्दि एवं शान्ति थी। वाना कपश के अंतिम राज्यकाल में स्पॅनिश आक्रमण आरंभ हुआ। उसने अपने पुत्रों को इस विदेशी आक्रमण से सावधान रहने की सूचना दी थी। परन्तु वाना कपश के पश्चात उसके पुत्रों में आपसी संघर्ष प्रारंभ हो गया। राजनिष्ठ सेनापतिओं में भी विभाजन हुआ। कलियुगाब्द ४६३३ (ख्रि. १५३२) में 'अतवाल्प' इंका साम्राज्य का शासक बना।

अतवाल्प असभ्य स्पॅनिश आक्रमण को पहचान नही सका। स्पॅनिश सेनापती फ्रान्सिस्को पिझारो ने पनामा में स्पेन का उपनिवेश स्थापित किया था और इंका साम्राज्य के समृध्दि की सुवर्ण गाथाएँ उसके कानों तक पहुँच गयी थी। जब अपने सैनिकों के साथ वह कुश्को में पहुँचा तब अतवाल्प के मन में आशंका भी नही थी कि ये विदेशी लुटेरे और अत्याचारी हो सकते है। उसने तो उनका अतिथि समझकर स्वागत किया। उनके निवास की व्यवस्था की। जब स्वयं अतवाल्प पिझारो को मिलने गया तब पिझारोने उसे बन्दी बनाया। पिझारो के साथ था स्पॅनिश मिशनरी। उस मिशनरीने इंका सम्राट से कहा कि वह अपने प्रजासहित ख्रिश्चन धर्म का स्वीकार करे। स्वाभिमानी अतवाल्प ने अपनी आँखो से अग्नि उगलते हुए कहा,

"मैं किसी के अधीन नही हो सकता, पृथिवी पर के किसी भी राजपुत्र से मैं श्रेष्ठतर हूँ। मैं देख रहा हूँ कि तुम्हारे सम्राट ने सागर पार यहाँ तक तुम्हे भेजा है, तो तुम्हारा सम्राट, तुम्हारी दृष्टि में महान हो सकता है। मैं उसे मेरा भाई मानने को तैयार हूँ। तुम अगर कहते हो कि तुम्हारे पोप ने ये हमारी भूमि तुम्हे प्रदान की है, तो निःसंशय तुम्हारा पोप अपना सन्तुलन खो बैठा होगा अन्यथा जिस देश पर उसका कोई अधिकार नही उस देश का दान वह तुम्हे नही देता। मैं मेरा धर्म नही त्याग सकता। तुम्हारे अपने ही कथन से स्पष्ट होता है कि जिन् मनुष्यों का निर्माण तुम्हारे ईश्वर ने किया उन्हों ने ही ईश्वर को शूली पर चढाकर उसे मार डाला। परन्तु मेरा ईश्वर तो स्वर्ग में अभी भी है और अपने पुत्रों की निरन्तर चिंता करता है।"

सम्राट अतवाल्प का यह उत्तर सुसंस्कृत विश्व की सर्वश्रेष्ठ भावना की अभिव्यक्ति है। अतवाल्प को बन्दी बनाने के पश्चात् स्पॅनिश सेना ने लूट और कत्ल का कहर मचा दिया। फिर

मिशनरीयों ने भी बर्बरता के साथ इंका ग्रंथों, ग्रंथालयों, सभागृहों को जलाकार राख कर दिया। समृध्द सभ्यता का देखते देखते स्मशान बन गया। स्पॅनिश सेनाने पूरा इंका वंश, इंका जाति नष्ट कर दी। सूर्यमन्दिर की लूट की। प्रासादों और भवनों की लूट करके उनको आग लगा दी। इंका स्त्रियों को भ्रष्ट किया गया यहाँ तक कि सम्राट की युवा पत्नी स्पॅनिश अधिकारियों के बलात्कार की शिकार बन गई। और यह सब हुआ सुसंस्कृत ख्रिस्ती धर्म के नाम पर।

इंका धर्म -

इंका सूर्यपुत्र थे और अपने पूर्वजों की पूजा करनेवाले थे। वीरकोच इंका संस्कृति का महानायक था। सफेद दाढी युक्त यह उनका पूर्वज तितिकाका सरोवर पर निवास करता था। उसी ने सारी सृष्टि का और प्रजा का निर्माण किया। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारका ... आदि का निर्माता वीरकोच था। वह इंका ब्रहमदेव था। 'पचममा' देवी अर्थात् पृथिवी माता उस की शक्ति थी। 'इल्लप' देवता इंका संस्कृति में पर्जन्य देवता था। उसके एक हाथ में विद्युत और दूसरे हाथ में कलश रहता था। जब इंका प्रजा वर्षा के लिये व्याकुल हो उठती तो यह वरुण देवता विद्युत् रेखा से कलशभंग करके पानी बरसाता था। 'ममाकोच' सागर देवी थी। साहस और सम्पत्ति की देवी अर्थात् लक्ष्मी थी। इंका साहसी नाविक थे। ममाकोच नाविकों की देवी थी। सूर्य के लिये इंका भाषा का शब्द है इंदि (आदित्य) । राजा को दैवी अंश माना जाता था। मृत्यु के पश्चात् उनकी मन्दिर में स्थापना की जाती थी।

इंका मानते थे कि देवताओं का साक्षात्कार होता है। वे सपने में आते है। सङ्कट काल की सूचनाऐं देकर उस समय के उपायों को बताते है। पूर्वजों की आत्माएँ भी सहायकारी होती है। इस प्रकार की आत्माओं को वे 'वाका' कहते थे। जब इंका उपांकि ने विद्रोही चंका जाति के विरुध्द अभियान करने का निश्चय किया। तब स्वयं ईश्वर ने उसके सपने में आकर सामर्थ्य और विश्वास दिया यह उनकी श्रध्दा थी। इंका समाज सद्‌गुणसम्पन्न था, नीतिमान् था। चोरी, डकैती, बलात्कार आदि के लिये उनकी विधिसंहित में दण्ड नही था, इसलिये कि ऐसी घृणास्पद बांतो की कल्पना भी वह समाज नही कर सकता था। किसी भी प्रकार के अनीति का वर्तन करनेवाला इंका व्यक्ति समाज में रह ही नही सकता था। उनके घरों को ताले नही होते थे। घर के लोग जब कभी कितने भी दिन के लिये बाहर जाते थे तब घर के दरवाजे पर छोटा झाडू या लकडी का टुकडा लटवाकर जाते थे। जिसका अर्थ होता था, 'घरका स्वामी' घरमें नही है। इंका सेना जब युध्द में विजय प्राप्त करती थी तब शत्रुओं को अकारण मृत्यु के घाट उतारना, लूटना, घरों को जलाना उनकी कल्पनाओं के परे था। इतनाही नही जो शत्रु सैनिक घायल अवस्था में पकडे जाते थे उन पर इलाज करके उनको अपनी सेना में फिर से जाने की अनुमति दी जाती

थी। युध्द के समय खेतो में, गुहाओं में स्त्रियाँ, बच्चे पकडे जाते थे। उनको अपने पति के पास या पिता के पास लौटने को कहा जाता था। उनकी दृष्टि में वे भी सूर्यपुत्र थे। उनको युध्द से अलग रहने का आवाहन करके वापस लौटने की सूचना दी जाती थी।

इंका तत्ववेत्ताओं को 'अमौतस' कहा जाता था। वे इंकाओंके मौखिक पुराणों का प्रसार करनेवाले नीतिमान् 'सूत' ही थे। उनके इतिहास को इस सूत वर्गने पीढ़ी दर पीढ़ी मौखिक परम्परा से जीवित रखा था।

इंका देवताओं की प्रार्थना के सूक्त वैदिक सूक्तों का स्मरण कराते है। सृष्टि की व्युत्पत्ति के सूक्त ऋग्वेद के सूक्त में वर्णित विज्ञान से साम्य रखते है। ईश्वर की प्राप्ति इंका भक्तों का अंतिम लक्ष्य रहता था। उसको जानने के लिये भक्त व्याकुल हो जाता था। एक प्रार्थना में वह कहता है,

"अन्तराल से या सागरतल के पाताल से ...
जहाँ भी तू है ...
हे विश्वनिर्माता, मेरी प्रार्थना सुनो,
हे देवताओं के स्वामी!
तेरे दर्शन के लिये मेरी आँखे व्याकुल हो उठी है, ...
मेरी आत्मा तुझे जानना चाहती है ..."

ईश्वर सर्वव्याप्त है। यह उनकी श्रध्दा थी। यह श्रध्दा एक प्रार्थना के रुप में प्रकट होती है।

हे वीरकोच!
विश्व के स्वामी ...
तू कौन है ... पुरुष या स्त्री ...
कोई भी है ... हे निर्माता ...
तू देवताओं का स्वामी है !
तू कहाँ नही है?
तू उपर है ... तू नीचे है ...
तेरा दिव्य सिंहासन एवं राजदण्ड
सर्व व्याप्त है।

ऋग्वेद में अग्निदेवता को अर्थात् सूर्य को अन्न और औषधि का निर्माता और रक्षणकर्ता कहा है, यही कल्पना एक इंका सूक्त में प्रकट होती है।

"हे विश्वनिर्माता ... पृथिवीपति ...

हे दयालु ...
तू सारे सृष्टि का जीवन है ...
मनुष्य तुम्हारी ही कृति है ...
तेरी कृपा से उसका जीवन है ... प्रजनन है ...
तू ने ही अन्न का निर्माण किया ...
भूख और दारिद्र्य से मनुष्य की रक्षा हेतु ...
हे प्रभो ...
सृष्टिपर के ओषधि की रक्षा कर ...
हमे सुरक्षा और शान्ति दे ..."

इंका सभ्यता केवल प्राचीन सभ्यता नही, केवल पाँच सौ वर्ष पूर्व जब युरोप की सभ्यताँए मध्ययुगीन अंधःकारसे बाहर निकलने के प्रयास में थी उस समय इंका सभ्यता अपनी चरमसीमा पर थी। इंका सभ्यता को समूल नष्ट करने की बर्बर कृति भी मध्ययुगीन युरोपीयन समाज की थी। आज दुर्भाग्य वश यह महान् संस्कृति केवल उध्वस्त अवशेष रुप में दिखाई देती है।

त्रिनिदाद
वे ने अ रे नो का न
झु ए ला
मध्य अमरिका
कोलंबिया
सुरीनाम
एक्वाडोर
अ मे झॉ न नदी
पेरु
माचू पिचू
तिया
कुस्को
ब्रा
झी
इका
ल
प्राचीन नगरी तिवानको
बो लि व्हि या
तितिकाका
(तितिक्षा
सरोवर)
पॅसिफिक महासागर
(प्रशांत महासागर)
पॅ रा ग्वा य
अर्जेंटिना
अतलान्तिक महासागर
युरुग्वाय
दक्षिण - अमरिका
इंका साम्राज्य ...
उ.

मानचित्र क्र. १०

७६. प्रवेशद्वार, माचू पिचू, इंका राज्य (दक्षिण अमेरिका)
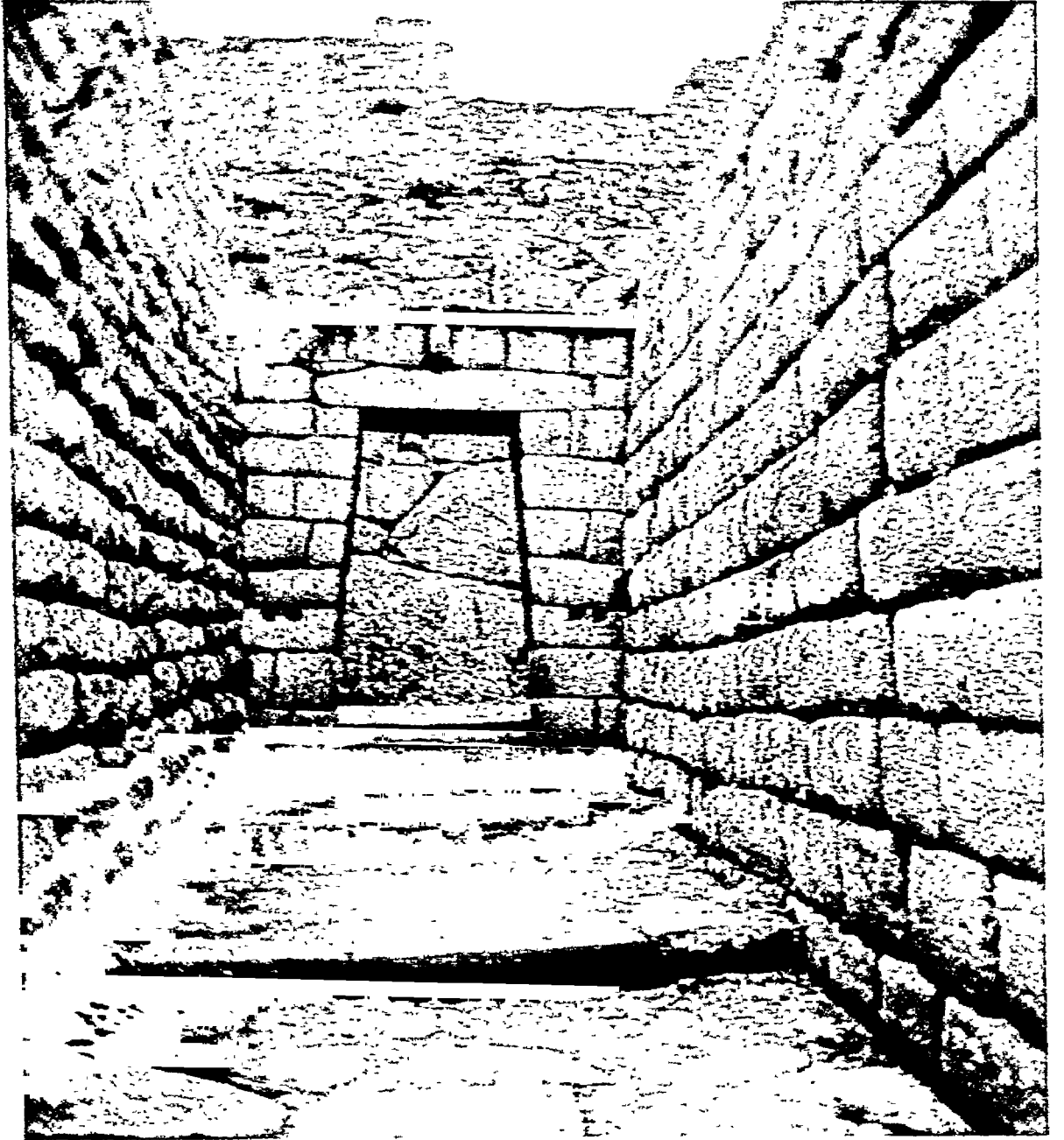
७७. जनश्रुति में विख्यात इंका राजाओं का प्रवेशस्थान, माचू पिचू, (दक्षिण अमेरिका)

७८. पिज़ाक, इंका गढ पर, सूर्य मन्दिर के अवशेष

७९. इंका सम्राट,
पचकुटी इंका उपांकी

८०. अंतिम इंका
नरेश 'अतवाल्प'

मध्य अमेरिका

(मेक्सिको, बेलिझ, ग्वातेमाला, होन्दुरास, निकारागुवा, एल् साल्वादोर)

देवलोक नगरी 'देवदिवाकान'

मध्य अमेरिका में मेक्सिको की घाटी और प्युब्ला की घाटी को जोडनेवाला वर्तमान मार्ग ... इस मार्ग पर ७६६० फूट की उँचाई पर स्थित प्राचीन मय नगरी। नाम है नगरी का देव दिवाकान (Teotihuacan) इस महानगरी का क्षेत्र लगभग ३२ वर्ग किलोमीटर का है। देव दिवाकान का अर्थ है देवलोक का नगर। दो हजार वर्ष पूर्व के इस विशाल प्राचीन महानगरी के खण्डहरों में से मानो आकाश को छूते विशाल पिरामिड सदृश मन्दिरों के शिखर झाँकते रहते है।

महानगर के उत्तरी भाग में है चन्द्रमन्दिर। मन्दिर के सम्मुख विशाल प्रांगण है जिसके तीन ओर अन्य दस मन्दिर है। प्रांगण के चौक से १५० फूट चौडा महानगर का प्रमुख पथ दक्षिण की ओर जाता है जो २ किलोमीटर से अधिक दूर तक चला गया है जहाँ केत्सलकोत्ल (Quetzalcoatl) का छः मंजिला मन्दिर है। प्रत्येक मंजिल पर त्ललोक और केत्सलकोत्ल देवताओं के मुख उत्कीर्ण है। उनकी कुल संख्या है ३६५ जो एक वर्ष के दिनों इतनी है। केत्सल एक पवित्र पक्षी है और कोत्ल याने सर्प। पक्षी सर्प महत्वपूर्ण श्रेष्ठ देवता का प्रतिक था। केत्सल नवात्ल अर्थात् स्वर्ग और आध्यात्मिक ऊर्जा का प्रतिक है तो कोत्ल पृथिवी और भौतिक शक्तिओं का प्रतिक। केत्सलकोत्ल इस प्रकार स्वर्ग एवं पृथिवी के एकत्व का और चर एवं अचर के संयोग का प्रतिक था।

प्रशस्त प्रमुख मार्ग पर केत्सलकोत्ल मंदिर और चन्द्रमन्दिर के बीच में है विशाल सूर्य मन्दिर। ७५० फूट लंबे और ७३५ फूट चौडे चौकोर अधिष्ठान पर यह चार मंजिला पिरामिड के आकार का भव्य मन्दिर २१० फूट उँचा है। इतनी उँचाई के ऊपर सूर्य का मन्दिर है। सूर्य मन्दिर के दक्षिण में केत्सलकोत्ल के मन्दिर तक मार्ग के समांतर पुरोहितों के सुन्दर भवन है। मार्ग के दूसरे और नगरवासियों के हजारो भवन योजनापूर्वक बनाए हुए थे। निवास के विभाग में ही चंद्र मन्दिर के पास था एक सुंदर प्रासाद। इस महानगर की जनसंख्या लगभग दो लाख रही रही होगी। नगर में देवताओं के उत्सव के पर्वपर लाखो लोग दूर दूर से इस देवलोक नगरी में

आ जाते थे। यात्रा होती थी। देवदिवाकान नगरी के खण्डहर आज भी अतीत के वैभवसम्पन्न मयनगरी को साकार करते है।

मय स्थापत्य -

मध्य अमेरिका के मेक्सिको, ग्वातेमाला, होंदुरास आदि देशों पर मय संस्कृति का प्रभाव रहा जो २५०० वर्ष पूर्व की 'ओल्मेक सभ्यता' नाम से जाना जाता है। इस लगभग २० लाख वर्ग किलोमीटर के विस्तीर्ण भूभाग पर हजारो पिरामिड मन्दिर है।

वेराक्रूज में तोतोनाक्स की भूमि में पहाडियों के बीच 'एल् ताजिन' का सबसे बडा पिरामिड है। ११६ फूट लंबे और चौडे चौकोर अधिष्ठान पर सात मंजिला मंदिर है यह। अधिष्ठान से ऊपर के मन्दिर के चबुतरे तक की उँचाई ८३३ फूट है। प्रत्येक मंजिल पर प्रकोष्ठों की मालिका बनाई हुई है। सब मिलकर ३६५ प्रकोष्ठ है। एक बाजूपर ऊपर जाने के लिये खडी सीढियाँ है।

वर्तमान मेक्सिको नगर के पास किकिल्को (Cuicuilco) का गोलाकार मन्दिर है जो सबसे प्राचीन ज्ञात पिरामिड है। 'तुला' तोल्तेक सभ्यता का केन्द्र था। तोल्तेक देवता त्लविश्कल्पंते चुत्ली (Tlahuicalpantechutli) का तुला में स्थित पिरामिड मन्दिर खण्डहर के रुप में प्राप्त हुआ है। तुला में ही केत्सलकोत्ल का अन्य पिरामिड मन्दिर था जिसके अवशेष मिले है। इस मन्दिर का ऊपर का गर्भगृह खण्डित अवस्था में है। आज भी उसके चौदह फूट उँचे पाषाणस्तम्भ खडे है। पाषाणस्तम्भों को योध्दाओं का आकार दिया गया है।

मय स्थपतिओं ने ये मन्दिर खगोल शास्त्रों के तत्वाधारपर बनाए थे। उनके चौकोर अधिष्ठान, ऊपर ४५° में चढते हुए पिरामिड के त्रिकोण क्षेत्र, सूर्योदय एवं सूर्यास्त के समय के सूर्यकिरणों का व्यवधान, सीढियों की, मूर्तियों की या प्रकोष्ठों की वर्ष की ३६५ दिनों से मिलती संख्या इस रचना का उद्देश्य केवल मात्र आध्यात्मिक नही था।आकाश निरीक्षण, नक्षत्रावलोकन और कालगणना से इसका संबंध दिखाई देता है। ग्वातेमाला में स्थित पेतेन के जंगल में मय संस्कृति का पवित्र नगर था। उसका नाम था 'तिकल' । भव्य प्रासादों, विस्तीर्ण भवनों आदि से युक्त इस नगर में २३३ फूट उँचा पिरामिड मन्दिर था। जनश्रुतियाँ इस मन्दिर के साथ पौराणिक कथाओं को जोडती है। प्रथम एक सामान्य झोंपडी थी। देवता उस झोपडे में निवास करने लगे तो वह पाषाण में परिवर्तित हुई। फिर अचानक वह आकाश में उठती गई और यह पिरामिड बना जिसके ऊपर मन्दिर प्रकट हुआ।

'चिचेन इत्सा' लगभग १२०० वर्ष पूर्व की मय नगरी। यहाँ का मन्दिर योध्दाओं का मन्दिर कहलाता था। इस की उँचाई ७० फूट है। चारो बाजुओं पर ९१ सीढीयाँ है। ऊपर के

मन्दिर की एक सीढी मिलाकर यहाँ पर की सीढीयों की कुल संख्या ३६५ होती हैं। इस मन्दिर पर स्वस्तिक, कमल, आदि मंगल चिन्ह भी उत्कीर्णित है। मन्दिर के ही समान मय प्रासाद भी भव्य होते थे। उकातान की राजधानी उक्षमाल में प्राप्त प्रासाद के अवशेषों से ज्ञात होता है कि इस प्रसाद का अधिष्ठान, ६०० फूट लंबा, ५०० फूट चौडा और ४० फूट उँचे चौथरे का था। अधिष्ठान पर दूसरा चौकोर अधिष्ठान ३७० x ८० x१४ फूट का था। और उसपर ३३३ x ४० फूट क्षेत्र पर ३० फूट उँचा प्रासाद बना था।

मय मन्दिरों की उँचाई बढती जाती थी। इस का कारण यह था कि पुराने मंदिर पर ही प्रत्येक ५२ वर्ष के बाद नई मंजिल का निर्माण होता रहता था। परंतु पुराने मन्दिर के उत्कीर्णित शिल्प और नक्काशी को नष्ट न करते हुए मन्दिर का विस्तार होता था। इन मन्दिरों में विष्णु, शिव, लक्ष्मी, दुर्गा आदि देवताओं के सदृश मूर्तियाँ प्राप्त हुई है। होन्दुरास में स्थित 'कोपन' के *मन्दिर पर हाथीपर सवार इन्द्र, महिष के मुख को रौंदती देवी, और हनुमान की मूर्तियों के शिल्प* मिले है। ग्वातेमाला के मन्दिरों में शिव और विष्णु के सदृश मूर्तियाँ प्राप्त हुई है। कोपन में एक शिवमूर्ति के मस्तक पर हाथी युक्त मुकुट है तो ग्वातेमाला में प्राप्त शिव हाथ में त्रिशुल लेकर असुर के पीठ पर खडे हैं।

सप्तपाताल -

मध्य अमेरिका की सभ्यता के प्रथम संकेत कलियुगाब्द ३५१ (खि. पूर्व २७५०) के है। यह काल भारत के प्राचीन इतिहास में उत्तर वेद काल है जब सरस्वती सिन्धु संस्कृति अपने उत्कर्ष की चरमसीमा पर थी। वेराकूज (मेक्सिको) में पोपोकेतीपेत्ल (Popocateapetl) पर्वत की उपत्यका में उत्खनन में जो वस्तुएँ प्राप्त हुई है वे सरस्वती संस्कृति में प्राप्त वस्तुओं से मिलती है। संभवतः उसी काल से अर्थात् पाँच हजार वर्ष पूर्वसेही मध्य अमेरिका की संस्कृति और भारतीय संस्कृति का संबंध था।

भारतीय परम्परा मानती है कि अमेरिका ही पौराणिक पाताल देश था। सुर और असुर दोनो कश्यप की सन्तान थी। असुर प्रतापी थे, मेधावी थे, कर्तृत्वसंपन्न थे। महान् स्थपति मयासुर महाभारत के समय अर्थात लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्व भारत से निष्कासित हुआ था वह भी असुर ही था। मध्य अमेरिका के मय संस्कृति की स्थापत्य में ख्याति थी। मयासुर निष्कासित होने के उपरान्त वहाँ पर अपने अनुयायीओं सहित गया होगा यह कल्पना असंभव नही लगती। भारत के प्राचीन भूगोल तज्ञों और खगोल तज्ञों ने सप्तपाताल का सिध्दांत रखा है। डॉ. चक्रवर्ती ने इन सात पातालों की पहचान अमेरिकी भूप्रदेश से की हैं। अतलांतिक महासागर का किनारा (अतल), वेराकूज (वितल), ग्वातेमाला (सुतल), उकतान (तलातल), मोक्सिको (महातल) एक्वादोर

(रसातल) और पेरु (पाताल) ये सप्तपाताल के प्रदेश थे। भारतीय नाविक प्रशांत महासागर पार करके दक्षिण और मध्य अमेरिका के पश्चिमी लट पर स्थित बन्दरगाहों में जाते थे। यह तो पृथिवी की लंबी प्रदक्षिणा ही थी। इस प्रदीर्घ प्रवास के निरंतर अनुभव के आधार पर ही सूर्य के और पृथिवी के भ्रमण के सिध्दांतो पर आधारित आकाश में सूर्य स्थिति सिध्द हो सकती थी। सूयसिध्दांत में कहा गया है कि जब लंका (भारत वर्ष) में सूर्योदय होता था तब यमकोटीपुर (भद्राश्व) में मध्यान्ह होता था। रोमक (केतुमाल) में मध्यरात्र होती थी और सिध्दपुर (कुरुवर्ष) में उसी समय संधिप्रकाश होता था। वर्तमान कालीन खगोलीय सिध्दान्त इस वर्णन की पुष्टि करते है।

प्राचीन मेक्सिको का ब्राह्मी अभिलेख -

मेक्सिको के उकतान प्रांत में थोसुडे के पास ब्राह्मी लिपि में एक अभिलेख प्राप्त हुआ है। इस की भाषा कवि भाषा है जिसका उपयोग इन्दोनेशिया में किया जाता था। इस अभिलेख में महानाविक वसुलुण के साहसी सागर प्रवास की जानकारी है। वह व्यापारी था मेक्सिको के पश्चिम किनारे पर उसका जहाज किसी बन्दरगाह पर ठहरा होगा। अभिलेख के अनुसार उस ने संपूर्ण किनारेपर प्रवास करके व्यापार किया। उसे इस व्यापार में लाभ भी अधिक हुआ होगा। उसने इस समृध्द प्रदेश का नामकरण 'लक्षभूमि' करके किया। अभिलेख के अनुसार यह घटना शकाब्द ८४५ के आषाढ मास की है, अर्थात् कलियुगाब्द ४०२४ (ख्रि. जुलै ९२३) की है।

यह अभिलेख मध्य एवं दक्षिण अमेरिका के साथ भारतीय संबंधों को प्रस्थापित करता है। अमेरिका में और भी अभिलेख प्राप्त हो रहे है। दक्षिण अमेरिका के चिली के किनारे से ३६०० किलोमीटर पर 'ईस्टर आयलंड' यह एक छोटा द्वीप है। इस का क्षेत्र फल है १६३ वर्ग किलोमीटर यहाँ पर पाषाण की विशाल मनुष्याकृतियाँ प्राप्त हुई है। अनेक अभिलेखयुक्त तक्तियाँ मिली है। इन अभिलेखों की लिपि सरस्वती हराप्पा की मुद्राओं पर प्राप्त लिपि से साम्य रखती है। भारत से सुंद द्वीप समूह मार्ग से चिली तक जानेवाले भारतीय नाविकों के मार्ग पर ही यह ईस्टर आयलँड है।

पचास वर्ष पूर्व थोर हायर्डल नामक नॉर्वेजिअन वैज्ञानिक ने चिली से ताहिती द्वीप तक का प्रवास किया था। यह प्रवास उसने चिली के स्थानिक लकडी का उपयोग करके बनाये हुए प्राचीन पध्दति के नौका में किया। आठ हजार किलोमीटर के उसके साहसी सागरीय प्रवास ने यह सिध्द कर दिया है कि प्राचीन काल के नाविक प्रशांत महासागर के इस जलमार्ग का प्रयोग उतनीही कुशलता से करते थे जितना कि आज के यांत्रिक जहाज करते है।

भारतीय संस्कृति का प्रवाह -

मध्य अमरिका की मय संस्कृति भारतीयों की देन है इस में सन्देह नही। मेक्सिको शासन के द्वारा प्रकाशित अधिकृत इतिहास में कहा गया है।

"जिसे अमेरिका की खोज कहा जाता है वह दो मानवी वंशो के महान् प्रवाहों का मिलन है। सैंकडो वर्षो के वियोग के बाद पृथिवी की परिकम्मा करके फिर से उनका मिलन हुआ। एशिया में उदित सभ्यताएँ पश्चिम में फैली जहाँ उन्होंने वर्तमान पश्चिमी सभ्यता का निर्माण किया, जिसे ग्रीको लॅटिन या युरोपीय सभ्यता कहते है। भारत के पूर्व में और दक्षिण में वही एशिया की सभ्यता विस्तारित हुई।

जिसे अमेरिका कहा जाता है उस खण्ड प्रदेश पर, भारत के पूर्व किनारे से निकले मानव समूहों ने अपने प्रभावी संस्कृति के साथ प्रथम प्रवेश किया।"

(Those who first arrived on the continent later to be known as America, were groups of men driven by that mighty current that set out from India towards the east.")

मेक्सिको की वर्तमान परम्परा अपने इतिहास का स्रोत भारतीय संस्कृति को मानती है। मध्य अमेरिका के ग्वातेमाला, होन्दुरास, एल् साल्वादोर, बेलीझ, निकारागुवा, कोस्टा, रिका एवं पनामा ये सारे वर्तमान प्रजासत्तामक देश भी अपनी सांस्कृतिक परम्परा का स्रोत भारत को मानते है।

भारतीय संस्कृति के वाहक भारत से अमेरिका कब गये इसके भी धुँधले संकेत प्राप्त होते है। मय संस्कृति की कालगणना का प्रारंभ कलियुगाब्द २४८८ (ख्रि.पू. ६१३) में हुआ। इस वर्ष का कुछ विशेष महत्व हो सकता है। उसके बाद एक सौ वर्ष के अनन्तर सबसे प्राचीन मन्दिरों के अवशेष प्राप्त हो जाते है। उसके तीन सौं वर्षो के बाद मय सभ्यता के अभिलेख प्राप्त होते जाते है। कलियुगाब्द २८०० से लेकर ४३०० तक (ख्रि. पू. ३०० से ख्रि. १२०० तक) का एक हजार पाँच सौ वर्षो का प्रदीर्घ कालखण्ड मय संस्कृति के सम्पन्नताका महत्वपूर्ण कालखण्ड है। यही कालखण्ड है जब भारत से स्थानांतरित संस्कृति वाहकों ने दक्षिण पूर्व एशिया के सभी देशों में प्रशान्त महासागरीय द्वीपों में अपने संस्कृति का प्रभाव उत्पन्न किया। साहसी व्यापारी, नाविक, संन्यासी, बौध्द भिक्षु भारी संख्या में हिंद महासागर, चीनी समुद्र और प्रशान्त महासागर पर सञ्चार करते थे। मलेशिया से मेक्सिको तक उनका सञ्चार था। मलेशिया में बंगाल के रंगामाटीके महानाविक बुधगुप्त का अभिलेख प्राप्त हुआ है तो मेक्सिको में महानाविक वसुलुण का। मयों का स्थापत्य, गणित, पञ्चांग, इस पर भारतीय विज्ञान का प्रभाव है, उस का भी कारण यही है।

मय वर्ष १८ मास का था। २० दिन का एक मास था। इस प्रकार वर्ष ३६० दिन का होता था। उसमें पाँच अशुभ दिन मिलाकर ३६५ दिन बनते थे। ८५४ दिन का शुक्र वर्ष उन्हें ज्ञात था। एक वर्ष का कालावधि मय पञ्चाङ्ग के अनुसार ३६५.२४२० दिनों का था। वर्तमान वैज्ञानिक काल और मय वर्ष के काल में केवल .०००२ (दो दशसहस्त्रांश) का अन्तर है। चिचेन इत्सा का मन्दिर मय वेधशाला ही थी।

मय देवता

वानाब कु (Huanab Ku) सर्वश्रेष्ठ मय देवता था। वह विश्वनिर्माता था। इत्सना (Itzamna) वानाब पुत्र था और देवतागणों का नेता था। आकाश का और अहोरात्र का वह प्रमुख था। किनिक आवा (Kinich Ahau) अर्थात सूर्य देव और इक्षेल (Ixchel) अर्थात् चन्द्रदेवता उस के ही रुप माने जाते थे। मय परम्परा के अनुसार लिपि का शोध उसीने दिया। मय ग्रंथों का निर्माता वही था।

चक (Chac) देवता पर्जन्य की देवता था। उसकी आकृति गणेश के समान थी। वह स्वस्तिकासन पर विरजित था। उसके दो शूँड थे। चक देवता के सन्मान में उत्सर्व पर्व मनाया जाता था। मय संस्कृति के उत्तर काल में चक देवता को मनुष्य बलि देने की प्रथा प्रारंभ हुई। अह मुन् (Ah Mun) खेती की, समृध्दि की देवी थी। अह पुच् (Ah Puch) मृत्युदेवता थी। वायुदेवता को कुकुल्कन (Kukulcan) कहा जाता था। मय परम्परा के अनुसार कुकुल्कन श्वेत देवता था जो सागर पार से आया था।

कलियुगाब्द ४००० (ख्रि. ९००) के लगभग मय संस्कृति का अधःपतन हुआ। तिकल, कोपन, किरिगा आदि प्रभावी केंद्र निर्जन हुए। मय संस्कृति का स्थान अस्तेक (Aztec) सभ्यता ने लिया।

अस्तेक जाति का स्थलांतर -

मेक्सिको की घाटी का प्राचीन नाम अनवाक (Anahuak) था। पोपोकेतपेत्ल (Popocatepetl) और इष्टक्कीवात्ल (Ixtaccihuatl) ये बर्फ से आच्छादित पर्वत पवित्र माने जाते थे। पर्वतों के मध्य भाग में तेक्षकोको (Texcoco) सरोवर है। सरोवर के तट पर तेक्षकोको, अस्कपोत्सल्को (Atzcapotzalco), इष्टपलपन (Ixtapalpan), कोयोकान (Coyoacan) और तकुबा (Tacuba) ये नगर है जिनका प्राचीन इतिहास है। तक्षकोको के दलदली द्वीप पर अस्तेकों ने तेनोक्तितित्लान (Tenoctititlan) यह उनकी अस्तेक साम्राज्य की राजधानी स्थापन की।

पारंपारिक इतिहास के अनुसार अस्तेक, अस्तलन नामक उनके मूल प्रदेश से आये। जब स्थलांतर के सायास में वे कोल्वाकान (Colhuacan) में आये तो उन्हे उनका देवता वित्सिलोपोकत्ली (Huitzilopochtli) ने दर्शन देकर कहा,

"चलते रहो, नयी भूमि की खोज करो, बडे संघर्ष टालते रहो। कुछ लोगों को आगे भेजकर कृषि निर्माण का कार्य दो। जब फसल काटने योग्य होगी तब आगे बढो। मुझे अपने साथ रखो। विजयपताका के रुप में मैं साथ रहूँगा। मानव बलि चढाकर उसके हृदय का प्रसाद मेरे लिये रखो।"

अपने नरहृदयभक्षी देवता को लेकर अस्तेक तक्षकोको सरोवर के परिसर में आकर स्थायिक हुए। केत्सलकोत्ल (Quetzalcoatl) को अस्तेक अपना पूर्वज मानते थे। अस्तेक परम्परा के अनुसार केत्सलकोत्ल का जन्म कुमारी से हुआ था। कुमारी एक बार मन्दिर में गयी थी जहाँ उसने तेजस्वी अग्निगोल देखा। उसने उसे ग्रहण किया। उसके उदर में उस से गर्भ का निर्माण हुआ। जब बच्चे का जन्म हुआ तब उसके एक हाथ में शूल था और दूसरे हाथ में ढाल थी। केत्सलकोत्ल के जन्म की कथाएँ भारतीय परम्परा के नहुष, कर्ण और अगस्ति ऋषि के जीवन से साम्य रखती हैं।

अस्तेक जाति तोल्तेक सभ्यता की वारिस थी। तोल्तेक वंश का कहलाने में उन्हे गर्व लगता था। ऐसे लोग उच्च माने जाते थे। तोल्तेक सभ्यता कभी संपन्न और समृध्द रही थी। तुला, चिचेन इत्सा आदि सांस्कृतिक केन्द्रों के निर्माता तोल्तेक ही थे।

अस्तेक इतिहास -

अस्तेकों का वैभसम्पन्न इतिहास स्पॅनिश आक्रमण के बाद दो सौ वर्षों तक अज्ञात ही रहा। स्पॅनिश आक्रमक कोर्तेस के साथ आक्रमण के समय बर्नार्डिनो शहगन था जिसने अस्तेकों का इतिहास लिखा था। ईसाई धर्मीयों को मूर्तिपूजा करनेवाली सभ्यता से चाहे कितनीही वह संस्कृति श्रेष्ठ क्यूं न हो नफरत थी। उसका ग्रंथ प्रकाशित नही किया गया। बर्नार्डिनो के मृत्यु के २०० वर्ष पश्चात यह इतिहास विश्व को मालूम हो सका। स्पॅनिअर्ड्स ने अस्तेकों की समृध्द राजधानी नष्ट कर दी थी, उन के मन्दिर जला दिये थे। जो धोखा इंका संस्कृति के साथ हुआ वही अस्तेकों के साथ हुआ। कलियुगाब्द ४८७५ (खि. १७७३) के बाद मय संस्कृति के पलेंके का केत्सलकोत्ल का मन्दिर प्राप्त हुआ। उसके १७ वर्ष बाद मेक्सिको के पुराने चर्च के नींव की दुरुस्ती करते समय मय पञ्चाङ्ग से उत्कीर्ण विशाल पाषाणचक्र प्राप्त हुआ। इस पञ्चाङ्ग चक्र को आक्रमण के बाद चर्च के नीव में गाड दिया गया था।

अस्तेक अभिलेख और पुरातत्वीय अवशेषों ने अस्तेक मौखिक परम्परा की भी पुष्टि की। संभवतः कलियुगाब्द ४४७५ (ख्रि - १३७४) में अस्तेक नायक 'अकम्पिक्तली' ने तक्षकोको के परिसर में अस्तेक राज्य की नींव डाली। उससे लेकर क्रमसे ९ राजाओं के नाम प्राप्त हुए है जिन्हों ने १४५ वर्ष राज्य किया। अस्तेक साम्राज्य पूरे वर्तमान मेक्सिको पर फैला हुआ था। जब स्पॅनिश आक्रमण हुवा तब मोक्तेझूमा द्वितीय (Moctezuma II) अस्तेक शासक था। कलियुगाब्द ४६२१ (ख्रि. १५१९) में कोर्तेस अपनी सेना के साथ मेक्सिको में गया तब मोक्तेझूमा ने उसका स्वागत किया। अस्तेक सुसंस्कृत थे परंतु भोले थे। उनकी श्रध्दा थी कि केत्सलकोत्ल कभी प्रत्यक्ष वापस आयेगा। प्रथम तो कोर्तेस जैसे आक्रमक का उन्होंने देवता समझकर सन्मान किया। अस्तेक वस्तुतः प्रतापी योध्दा थे। प्रथम युध्द में उन्होंने स्पॅनिश सेना को पराजित भी किया। परन्तु शत्रु की कुटिल नीति आधुनिक शस्त्र और अस्तेकों के आपसी संघर्ष इनके कारण अस्तेक सेना परास्त हो गयी।

मोक्तेझूमा के पश्चात क्वातेमोक (cuahtemoc) राजा बना। कोर्तेस ने उसके साथ बडा निर्दयताका व्यवहार किया। उससे सुवर्ण प्राप्त करने के लिये उसके पाँवपर तेल डालकर आग लगाते थे और छुपाये हुए सम्पत्ति के बारेमें पूछते रहते थे। आँखो मे आँसू लेकर उस दुर्भागी अस्तेक राजपुत्रने कोर्तेस को कहा था,

"हे सेनापती, मैं ने सारी शक्ति लगाकर इस साम्राज्य की रक्षा का प्रयास किया। मेरे भाग्य ने मेरा साथ नही दिया। अब तुम मेरी जान ले लो यही उचित होगा क्यूं कि ऐसा करनेसे ही मेक्सिको राज्य नष्ट होगा। मेरी प्रजा का सर्वनाश तो तुम पहले ही कर चुके हो।"

राजधानी -

अस्तेक राजधानी तेनोक्तित्लान एक सुंदर जलनगरी थी। सारे भवन एक दूसरे से पृथक थे। लोग छोटी नौकाओं का उपयोग करते थे। स्थान स्थान पर पुल बने हुए थे। बीच बीच में पिरामीड मन्दिरों के शिखर झाँकते थे। आपस में विशालता एवं सुंदरता की स्पर्धा करते हुए अस्तेक सरदारों के भवन जगमग करते थे। राजमार्ग के दोनों बाजू में सुवर्ण, रजत, हीरे, बहुमूल्य पत्थर, पवित्र पक्षिओं के पंख, चमडे के चमचमाते वस्त्र, रंगबिरंगे वस्त्र प्रावरण, खाने के विविध पदार्थ इनके दुकान लगते थे। कई छोटे बाजार थे जहाँ कारीगर अपने व्यवहारोपयोगी उत्पादन करते हुए बिकते हुए नजर आते थे। कभी प्रासाद की ओर जानेवाले योध्दा सैनिक अपने अपने जाति के वेश में हाथ में पकडे शूल उंचे करते हुए जाते दिखाई देते थे। मन्दिरों के पास पुरोहितों के निवास थे। राजा भी पुराहितों को आदर करता था। विधि, न्याय, शिक्षा, शासन, स्थापत्य सारे क्षेत्र में अस्तेक प्रगत थे, विश्व की समकालीन सभ्यताओं से आगे थे। राष्ट्रीय

ऐतिहासिक और पारम्पारिक जानकारी की रचनाएँ बनती थी। राजाओं और सरदारों की वंशावलियाँ रखी जाती थी। विधि संहिता, जमीन जायदाद के कागजात हर एक प्रांत से ग्राम की ईकाई तक का रिकार्ड, धार्मिक उत्सव और मंदिर व्यवस्था प्रशासन, सामाजिक प्रथाएँ और नीति धर्म के नियम आदि सभी का लिखित रिकार्ड रखा जाता था। अत्यंत कार्यक्षम संदेश वहन व्यवस्था भी एक विशेष बात थी।

अस्तेक धर्म

धर्म अस्तेक जाति के जीवन का केन्द्रबिन्दु था। वे बहुदेवतावादी थे। ओमदेवत्ल (Ometeotl) सर्वश्रेष्ठ देवता था। वह पुरुष और प्रकृति का एकत्व था। विश्वनिर्माता था। वित्सिलोपोत्कत्ली (Huitzilopotchtli) युध्द का देवता था। तेसकत्लीपोक (Tezacatlipoca) सृष्टि निर्माता था। त्ललोक (Tlaloc) सृष्टि का सर्जन करनेवाला देवता था।

अस्तेक अपने को सूर्यपुत्र मानते थे। सूर्य मन्दिरों की संख्या अधिक रहती थी। उनके देवता को नरबलि चढाए बिना वह प्रसन्न नही होता यह उनकी श्रध्दा थी। आत्मा की अमरता पर उनका विश्वास था। मृत्यु के पश्चात् आत्मा दूसरा रुप धारण करता है यह उनकी कल्पना थी। उनकी काल की कल्पना शास्त्रशुध्द थी। चतुर्युग सिध्दांत वे मानते थे। हर एक युग का पृथक देवता था।

अस्तेक पञ्चाङ्ग को व्यक्त करने वाला पाषाण का चक्र एक अखण्ड पाषाण से बनाया गया है। उसका व्यास बारह फूट का है और वजन २५ टन का है। कलियुगाब्द ४५८९ (ख्रि. १४८७) में उसे तैयार करने का काम प्रारंभ हुआ और पूर्ण करने ९२ वर्ष लगे। यह कालचक्र है। मध्य भाग में तोनातिउ (Tonatiuh) अर्थात सूर्य देवता उत्कीर्ण है। उस के साथ 'ओलिन' (भूकम्प दर्शानेवाला चिन्ह) उत्कीर्ण है। अस्तेक मानते थे कि भूकम्प से सृष्टि का विनाश होता है। विनाश के पश्चात् फिर सृष्टि निर्माण होता है।

नवीन सूर्य जन्म लेता है। अभी तक चार सूर्य अर्थात् ४ युग हुए। युगचक्र इस पाषाण पर उत्कीर्ण किया है। मध्य में वर्तमान युग का सूर्यदेवता पाँचवा सूर्य है।

प्रथम युग का अंत पशु के द्वारा हुआ था। उसके लिये 'शेर' (Ocelotl - केलोत्ल) का प्रतिक उत्कीर्णित किया है। दूसरे सूर्य का विनाश झंझावात से (एकत्ल - Ehecatl) हुआ था। तीसरा सूर्य, अग्नि द्वारा (किवित्ल - Quiahuitl) नष्ट हुआ। चौथे सूर्य का विनाश अत्ल (Atl) अर्थात जल द्वारा या प्रलय के कारण हुआ। युगचक्र की परिधि के बाहर २० अस्तेक दिवसों के चिन्ह है। उस के बाहर सर्प देवता उत्कीर्णित है। अस्तेक खगोलज्ञ 'ध्रुव तारा' को जानते थे। एक उत्कीर्ण अभिलेख में उस का संकेत मिलता है।

"अचलता और स्थिरता में
अन्तरिक्ष में उसका कोई साथी नही ...
अनगिनत ताराओं से अन्तरिक्ष भरा है ...
वे है अग्निगोल जो चमकते रहते है ...
परन्तु उसका (ध्रुव का) स्थान कोई नही ले सकता

यद्यपि मय और अस्तेक सभ्यताएँ नष्ट तो की गयी, परन्तु वे अपने कतिपय पदचिन्ह पीछे छोडकर गयी है। इन सभ्यताओं की प्रेरणा भारतीय संस्कृति थी और उनके निर्माता भी भारत से निर्गत हुए थे। कोलंबस पूर्व की अमेरिका सांस्कृतिक दृष्टि से शुध्द भारतीय थी। मध्य अमेरिका के भारतीय संस्कृति ने उत्तर अमेरिका (युनायटेड स्टेट्स, कॅनडा) के जनजातियों को भी प्रभावित किया था। जिस प्रकार इंकाओ के पूर्वज भारत से आये यह उनकी श्रध्दा थी, उसी प्रकार 'मय' भी मानते थे कि उन के पुरखे भारत से आये। मेक्सिको के एक लोकगीत में यह भावना व्यक्त होती है,

"सागर पर से ... नौकाओ में ... आयी अनेक जनजातियाँ ...
जहाँ वे किनारे पर उतरे ...
वह स्थान था पनुत्ल
सागरतट से चले उत्तर की ओर ...
सिएरानेवदा पर्वत की उपत्यका में
और ज्वालामुखी (पोपोकेतपेत्ल) के परिसर में वे वसे
फिर किनारे से आये ग्वातेमाला तक ....
वहाँ वे प्रदीर्घ काल तक रहे ...
अन्ततः वे पहुँचे तमोङ्खन
जहाँ उन्हे अपनी भूमि प्राप्त हुई ...."

(Over the water in ships came numerious tribes,
To the coast they came, to the coast situate in the North,
And where with ships they landed...
That was called Panutl ...
Then they followed the coast ....
They beheld the mountains... Sierra Nevada and the Volcano
And came still following the coast to Guatemala...
Thereafter they reached...
The place called Tamoanchan ....

And there they tarried long".)

केत्सलकोत्ल देवता और सर्प देव का प्रतिक संभवतः चीन से अमरिका में पहुँचा। कतिपय विद्वान् केत्सलकोत्ल को गौतमबुध्द मानते है। अमरिका का गौतमबुध्द। कोपन के मन्दिर में एक शिल्प उत्कीर्णित है जहाँ केत्सलकोत्ल बुध्द की भूमिका में अपने अनुयायियों को उपदेश देता हुआ दिखाई देता है। केत्सलकोत्ल देवता के पुजारी भिक्षुओं के समान सन्यस्त वृत्ति धारण करते थे। अहिंसा पर उनकी श्रध्दा थी। चीन के बौध्द भिक्षु जपान, कोरिया, विएतनाम आदि देशों में धर्मप्रसार के हेतु जाते रहते थे।

अमेरिका में धर्मचक्रप्रवर्तन हेतु जाना उनके लिये कोई असंभव बात नही थी। चीन के प्राचीन इतिहास के रिकार्ड में हुई शान (Hwui Shan) नाम के भिक्षु का उल्लेख आता है। वह अमरिका में संभवतः मेक्सिको में धर्मप्रसार के हेतु गया था। कुछ पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार केत्सलकोत्ल मेक्सिको का बौध्द धर्म प्रचारक था और मंको कपश पेरु का हिन्दु प्रचारक था।

उपसंहार

संस्कृति का अर्थ

संस्कृति एक आधारभूत अवधारणा (concept) है। अंग्रेजी में Civilization और Culture दो समानार्थी शब्द प्रयुक्त किये जाते हैं, किन्तु संस्कृति की अवधारणा का विचार करते हुए ये दोनों शब्द इसके अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए अपर्याप्त लगते हैं। संस्कृति का सम्बन्ध मुख्यतः संस्कारों से है। संस्कार शब्द 'सम' उपसर्ग के साथ 'कृ' धातु से बना है। उसमें भी 'सम' का अर्थ 'भूषण' है। पाणिनि ने कहा है, 'सम् = करोति भूषणे'। अर्थात् 'सम्यक् करोति इति संस्कारः' भूषणास्पद कृति ही संस्कार है। संस्कार का यह अभिप्राय ध्यान में रखकर संस्कृति शब्द का विचार किया जाता है। संस्कार माने मूल अवस्था में किया गया इष्ट परिवर्तन। यह इष्ट परिवर्तन है 'सम्यक् कृति'। 'दोषापनोदपूर्वक गुणाधानं संस्कारः'। संस्कृति में सम्यक् कृति अन्तर्निहित है।

संस्कृति का उद्देश्य यदि मानव-जीवन को संस्कारित करना माना जाय तो मनुष्य की जीवन-पध्दति और धर्म के आधार पर उस जीवन-पध्दति का विकास भी संस्कृति शब्द से प्रकट होने वाला अर्थ है। 'गुणानाम् आधानं दोषानाम् अपनोदं करोति सा संस्कृतिः' - जो गुणों की वृध्दि और दोषों का क्षय करे वह संस्कृति। इस अर्थ में राष्ट्र, उसका पुत्ररुप समाज, उस समाज का धर्म, इतिहास एवं परम्परा आदि सभी बातों का आधार संस्कृति है।

अनादि अनन्त संस्कृति

भारतीय संस्कृति को वैदिक संस्कृति, सनातन संस्कृति, हिन्दु संस्कृति आदि विविध नामों से जाना जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो इस संस्कृति का मूल वेदों में है। भाषा की दृष्टि से समृध्द, विचारों से परिपक्व, मानवीय मूल्यों का मूलभूत विचार करनेवाला, समाज-रचना और जीवन-पध्दति का समुचित मार्गदर्शन करने वाला यह वेद-वाङ्मय गुरु-शिष्य परम्परा की असाधारण प्रणाली से उसके मूल स्वरुप में आज तक यथावत् चलता आया है। इतिहास की दृष्टि से वेदों का काल निर्धारित करना हो तो 'इस पृथ्वी' पर वेद सर्वप्रथम उद्भुत हुए इतना ही कहा जा सकता है। वेद जिस संस्कृति के मूल हैं, वह संस्कृति स्वाभाविकतया

सर्वप्रथम उदित हुई। उसका निश्चित काल बताना सम्भव नहीं, इस अर्थ में वह 'अनादि' है।

पृथ्वीतल पर रोम, यूनान, मिश्र सुमेरिया आदि की अनेक संस्कृतियाँ उदित हुई और अस्त भी हो गयीं। भारतीय संस्कृति के विद्यमान रुप का नाता सीधे प्राचीन संस्कृति से है। यह उसकी विशेषता है। उसके 'अनन्त' होने का प्रमाण है। इस अनादि एवं अनन्त संस्कृति की अनेक विशेषताएँ हैं । भारतीय संस्कृति ने केवल भारतीय ही नहीं, अपितु संसार के अनेक मानवों का समाज-जीवन गठित किया है।

प्राचीन इतिहास

भारत का इतिहास माने भारतीय संस्कृति का इतिहास। इतिहास का एक भाग है राजनीतिक घटनाएँ - कब क्या हुआ, इसका वर्णन। इस दृष्टि से इतिहास में राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, वैज्ञानिक प्रगति और तदर्थ कृत प्रयोगों का समावेश होता है। भारत देश आकार में विस्तृत, परम्परा से समृध्द, विपुल प्राचीन साहित्य से भरपूर, सहस्त्रावधि वर्षा के सन्तत इतिहास और अनादि अनन्त संस्कृति से परिपूर्ण है। सहस्त्रों वर्ष तक राजनीतिक और धार्मिक आक्रमणों से टक्कर लेते हुए भारतीय संस्कृति टिकी रही। हजारों वर्ष पूर्व जिन्होंने इस जीवन प्रणाली का महान प्रयोग आरम्भ किया, वे इस संस्कृति को यथार्थ दृढ आधारयुक्त स्वरुप प्रदान करने में सफल हुए।

आध्यात्मिक प्रवृत्ति

भारतीय संस्कृति की प्रवृत्ति आध्यात्मिक है। मनुष्य को केवल आवश्यकताओं की गठरी न मानकर उसके मूलभूत सुखों का विचार इस संस्कृति ने किया है। भौतिक जीवन की सम्पन्नता को गौण स्थान देकर इस संस्कृति में 'मोक्ष' को मानव का चरम लक्ष्य माना। केवल शरीर का विचार न कर देह धारण करने वाले अविनाशी आत्मा का विचार किया। प्राणिमात्र के अन्दर वास करनेवाला आत्मा एक है, इस उदात्त कल्पना के कारण मानव का चराचर से नाता निर्मित हुआ। आत्मा के सर्वव्यापी स्वरुप की योग्य कल्पना होने से चराचर के प्रति आत्मीय भाव प्रस्थापित करने वाला भारतीय स्वभावतः विशाल अन्तःकरण का चैतन्यमय स्त्रोत बना। भारतीय मनीषियों ने अपनी उत्कट आकांक्षा निम्न शब्दों में अभिव्यक्त की -

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात् ।।

विशाल अन्तःकरण की यह विराट् अभिव्यक्ति! चराचर के सुख, आरोग्य और कल्याण की तीव्र लगम (मानव का कल्याण उससे अलग नहीं) उनमें जाग्रत हुई और इसी लगन में से

समाघोष गूँज उठा - "कृण्वन्तो विश्वमार्यम् ।" समग्र विश्व को हम सुसंस्कृत, श्रेष्ठ अर्थात् आर्य बनायेंगे। समस्त मानव जाति को सुखी, समृद्ध बनाना हमारा कर्तव्य है।'

मानव धर्म

प्राचीन ऋषियों ने सृष्टि क्या है, मूलतत्व कौन से हैं, सृष्टि का निर्माता कौन, ईश्वर का स्वरुप क्या आदि सभी बातों को उद्घाटित किया। ईश्वर के स्वरुप को उन्होंने देखा-जाना, प्रत्यक्ष अनुभव किया। उसी अनुभूति से मानव के जीवन को बनाने वाले धर्म तत्व उन्होंने रुढ़ किये। मानव का नाता प्रत्यक्ष ईश्वर से जोड़ा। इस कारण जीवन केवल इहलोक तक सीमित नहीं रहा। ऐहिक जीवन का उपभोग भी त्याग भावना से करने का सन्देश उपनिषदों ने दिया। अखिल चराचर का लक्ष्य 'परमात्म प्राप्ति' है, ऐसा मानने से उस लक्ष्य की ओर ले जोन वाली जीवन-प्रणाली ही धर्म है, ऐसी धर्म की व्याख्या बनी। इसी दृष्टि से 'धारणाद् धर्म इत्याहुः - - जो समाज की धारणा करता है वही धर्म, यह योग्य धारणा रुढ़ हुई। उन्होंने समग्र जीवन का आधार धर्म को माना। उसी का परिणाम दिखाई देता है कि शासन अथवा राज्य किसी का हो, जीवन की रचना धर्माधिष्ठित होने से प्राचीन काल से अद्यावधि अनेक आघात होकर भी वह जीवन अक्षुण्ण रहा। आज जिसे हिन्दू, वैदिक अथवा सनातन धर्म कहा जाता है, उस धर्म का स्वरुप मूलतः ऐसा विश्वव्यापी है।

धर्म का सर्व-समावेशक स्वरुप

इतिहास की अनेक घटनाँए इस विश्वव्यापी स्वरुप के प्रमाण हैं। शक, हूण, यूनानी, कुशान, मुगल आदि के आक्रमणों से संसार के अनेक राष्ट्रों की संस्कृतियाँ या तो नष्ट हो गयीं या ऐसी बदल गयीं कि अब उन्हें पहचानना कठिन है। परन्तु भारत का इतिहास निराली कथा सुनाता है। यूनानी, शक, हूण, कुशान आक्रमक तो भारतीय संस्कृति को स्वीकार कर यहाँ के समाज और संस्कृति में पूर्णतया विलीन हो गये। अन्य जिन्होंने भी इस राष्ट्र के धर्म, परम्परा, इतिहास को नष्ट करने या बदलने का प्रयास किया, वे असफल रहे।

इतिहास में अनेक राष्ट्रों के बारे में ऐसा तो हुआ है कि राष्ट्र और उनकी संस्कृति की रक्षा करने वाले वीर महापुरुषों की सन्तत मालिका सैकड़ों वर्षों तक निर्मित होती रही और अन्ततोगत्वा संघर्ष में राष्ट्र की विजय हुई, परन्तु विजयी राष्ट्र की परम्पराएँ, संस्कृति और धर्म का अभंग रहाना और तद्द्वारा उस संस्कृति का ओज अथवा जीवन्तता प्रमाणित होने का उदाहरण संसार में बिरला होता है। भारतीय संस्कृति इस कसौटी पर खरी उतरी है। भारत में आनेवालों और भारतेतर अनेक देशों के लोगों द्वारा इस संस्कृति का स्वीकार इसके ओज को प्रमाणित करता है।

इसके दो कारण प्रमुखतया सामने आते है। एक तो इस संस्कृति के प्रसारक केवल साम्राज्यवाद अथवा व्यापार आदि तात्कालिक हेतु से गये नही थे। इसलिए जिन्होंने भी इस संस्कृति को अंगीकार किया, वह शस्त्र-भय से नहीं अपितु तत्व और मानवता के उदात्त स्वरुप का उन्हें जो दर्शन हुआ उसके चिरन्तन आकर्षण से अंगीकार किया। दूसरी बात यह दिखाई दती है कि इस संस्कृति का स्वरुप ही मूलतः सर्व-समावेशक है।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।

तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ।। (भगवद्‌गीता ९.२३)

ऐसा हैं इस संस्कृति का स्वभाव। अतः किसी की उपासना -पध्दति कोई हो, सबका लक्ष्य एक है, 'एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति' वाली धारणा के कारण अनेकविध उपासना-पध्दतियों का सुन्दर समन्वय इस संस्कृति ने सिध्द किया।

सर्व-संग्राहकता

भारतीय संस्कृति के इस सर्व-समावेशक स्वरुप के कारण वह सर्वसंग्राहक बन गयी। अखिल मानव जाति के कल्याण का लक्ष्य सामने होने के कारण अनेक उपासना-पन्थों, अनेक समाजों की लक्षणीय, ग्राह्य विशेषताओं, अनेक आदर्श तत्वों और विचारों का संग्रह होता गया। इस संग्राहक एवं समन्वयक रुप में से सहिष्णुता का भाव निर्मिल हुआ। तथापि इतने मात्र से संस्कृति चिरस्थायी नहीं बनती। उसके आधारभूत तत्त्वों को स्थिर रखकर उसके बाह्यरुप में काल एवं परिस्थिति के अनुसार समय-समय पर परिवर्तन भी होते रहना चाहिए, तभी काल के प्रवाह में संस्कृति की अखण्ड धारा बहती रहती है।

प्रगतिशीलता एवं परिवर्तनशीलता

भारतीय संस्कृति प्रगतिशील और परिवर्तनशील रही। वेद-वाङ्मय के अनन्तर निर्मित ब्राम्हण, आरण्यक और उपनिषद् के द्वारा भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिक प्रगति का दर्शन होता है। इसके अनन्तर के काल में सर्वसाधारण मनुष्य तक धर्म एवं परम्परा को पहुँचाने वाले पुराणों का महत्त्व ध्यान में आता है। द्वैत-अद्वैत, आस्तिक-नास्तिक, सगुण-निर्गुण उपासना, ज्ञान-कर्म-भक्ति मार्ग आदि अनेकानेक प्रयोग यहाँ होते ही रहे। इस प्रयोगशीलता में से परिवर्तन भी होता रहा। केवल मोक्षमार्ग के क्षेत्र तक यह सीमित नहीं था, अपितु समाज-रचना, शासन-तंत्र, स्मृति, नीति-नियम, आचार-विचार आदि सभी क्षेत्रों में ऐसे प्रयोग होते रहे और उनमें से इष्ट परिवर्तन होता गया।

आदर्श

भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता यह रही कि समाज, शासन और व्यक्ति जैसे होने चाहिए, वैसे आदर्श यहाँ निर्मित हुए और उन्हें विधिवत् संवर्धित-सम्पोषित किया गया। शासन-तंत्र, मानव-कर्तव्य, परम्परा, समाज, राष्ट्र एवं धर्म-कल्पना, समाज की धारणा, जीवन-प्रणाली, विविध प्रकृति और प्रवृत्ति के मानवों के परस्पर व्यवहार आदि अगणित विषयों में व्यक्ति और समाज के लिए अनन्त काल तक समान रुप से आदर्श प्रस्तुत करने वाले महाभारत सदृश अलौकिक ग्रन्थ की रचना केवल इतिहास के ही नहीं, अपितु एक मार्गदर्शक नीतिग्रन्थ के रुप में हुई। रामायण के सभी आदर्श चरित्र आज की शती में भी भारतीयों के लिए उतने ही आदर्श हैं, जितने वे साढ़े तीन हजार वर्ष पूर्व थे। दान, आतिथ्य, प्रेम, दया, अहिंसा, कर्तव्य, सहिष्णुता आदि मूलभूत जीवन-मूल्यों के असंख्य आदर्श यहाँ निरन्तर विकसित किये गये। इन्हीं आदर्शों के माध्यम से समाज के सभी स्तरों के लोगों के जीवन गठित हुए।

संस्कार-तंत्र और समाज-रचना

इस प्रकार केवल आदर्श सामने रखने मात्र से जीवन का गठन नहीं होता। प्राचीन भारतीयों ने प्रत्येक बात का मंत्र बताया, तो उसके तंत्र का भी निर्माण किया। व्यक्ति के जीवन का गहन विचार कर उन्होंने उसे चार आश्रमों में विभाजित करके नियमों से आबद्ध किया। मनुष्य लौकिक प्रभाव और कुसंस्कारवश पशुता की और झुकता है। इसलिए जन्म के पूर्व से लेकर मृत्यु के बाद तक उसे देवत्व की ओर ले जाने वाले संस्कारों की एक अद्वितीय प्रणाली उन्होंने सिध्द की। समाज-रचना में उन्होंने परिवार-व्यवस्था, प्रत्येक घटक का कर्तव्य, व्यक्ति और समाज का परस्पर सम्बन्ध आदि का जो शास्त्रशुद्ध विचार किया, उसीके परिणामस्वरुप आज भी पृथ्वी-तल पर विद्यमान समाजों में इस प्राचीनतम भारतीय समाज का स्थान अटल पाया जाता है।

समाज की धारणा करने वाला वर्ग

वानप्रस्थ एवं संन्यास, दोनों आश्रम समाज की धारणा करने वाले हुए। विद्वान वानप्रस्थी ऋषियों के चिन्तन में से ही ब्राम्हण और आरण्यक ग्रन्थ निर्मित हुए, उपनिषदों का तत्वज्ञान उदित हुआ। सर्व प्रकार के मोह से दूर केवल समाज हित की चिन्ता करने वाले संन्यासियों की परम्परा जब कभी निर्मित हुई, तब इन वानप्रस्थियों एवं संन्यासियों के प्रति समाज-मन में आदर और भक्ति का स्थान था। उनके आश्रम मानव का मार्गदर्शन करने वाली प्रयोगशालाएँ थीं। समाज से दूर अरण्य में रहकर केवल ज्ञान की उपासना करने वाले तपस्वी लोगों का एक बहुत बड़ा वर्ग इस प्राचीन देश में अध्ययन-अध्यापन करता था। गुरु-शिष्य

परम्परा से युक्त शिक्षा-प्रणाली और समाज के सभी लोगों के लिए गुरु-स्थान पर अधिष्ठित ऋषि-मुनियों के वर्ग ने प्राचीन संस्कृति एवं समाज का गठन किया।

भौतिक प्रगति की आध्यात्मिक प्रेरणा

यही विस्मयजनक भारतीय संस्कृति इस देश की भौतिक प्रगति के पीछे थी। केवल वैज्ञानिक विकास द्वारा भौतिक प्रगति की प्रेरणा आसुरी वृत्ति का संवर्धन करने वाली होती है, किन्तु भारतीयों की भौतिक प्रगति के मूल में भी प्रेरणा आध्यात्मिक ही थी। वास्तव में संसार के सभी देश भारत को गुरु मानते थे। भारत के विद्यापीठ संसार के अनेक देशों के छात्रों से भरे रहते थे। यह वस्तुस्थिती है कि उस काल मे भौतिक और आध्यात्मिक, दोनों क्षेत्रों में भारत ही समस्त संसार का मार्गदर्शक था। इसलिए भगवान मनु बड़े आत्मविश्वास से घोषणा करते हैं:

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशाद् अग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।।

(इस देश में जन्मे ज्येष्ठ जनों के पास अपने चरित्र-निर्माण की शिक्षा लेने हेतु संसार के सब मानव आते हैं।)

वैज्ञानिक प्रगति

विज्ञान के विषय में इन दिनों मिश्र और बैबिलोनिया की संस्कृति का ऋण माना जाता रहा है। परन्तु जैसे-जैसे भारत के प्राचीन इतिहास का अन्वेषण और उद्घाटन होता जा रहा है, एक विलक्षण अनुभव आता जा रहा है। बैबिलोनी संस्कृति ने प्रकृति के नियमों का विचार आधिभौतिकता के सन्दर्भ में किया। यूनानियों ने भी उसी आदर्श का अनुसरण कर चिन्तन किया और मानव को सुख की प्राप्ति करा देने तथा उसकी जीवन-प्रणाली को दिशा देने वाले निति-नियमों का निर्माण कर उन्हें विधि-विधान (कायदे-कानून) का नाम दिया। परन्तु इस पद्धति के यूनानी और अन्य दर्शन अधिक प्रभावी नहीं सिद्ध हो सके। इसके विपरीत उससे बहुत पूर्व काल में मानव के भौतिक जीवन एवं आध्यात्मिक सम्बोध के सन्दर्भ में नीति-नियमों, प्राकृतिक नियामों आदि का मूलभूत एवं पूर्णतया व्यावहारिक विचार वैदिक साहित्य में 'ऋत' के सन्दर्भ में किया हुआ पाया जाता है। विज्ञान के गणित, ज्योतिष, रसायन आदि विषयों पर लिखित संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद बाद के काल में लैटिन और अरबी भाषा में हुए। तब तक ज्ञान की इन शाखाओं में पाश्चात्यों की जानकारी सीमित थी। इसके विपरीत ऐसा दिखता है कि भारत में वैज्ञानिकों की पीढ़ियों पर पीढ़ियाँ इस क्षेत्र में कार्य कर रही थीं।

गणित

गणित और संख्याशास्त्र के विषय में भारतीयों की प्रगति विस्मयकारी है। 'शून्य' की संख्या और उसके उपयोग की जानकारी बहुत पहले से होने के कारण इस क्षेत्र में अत्यन्त वेगवान प्रगति हुई है। विल ड्यूरैण्ट (Will Durant) अपने ग्रन्थ 'सभ्यता का इतिहास' (History of Civilization) में कहते है, "It is India that gave us ingeneous method of expressing all numbers by ten symbols, each possessing a position value as well as an absolute value." (वह भारत है जिसने हमें सभी संख्याओं को केवल दस अंकों से व्यक्त करने की अभिनव विधि बतायी, जिसमें प्रत्येक अंक का निरपेक्ष मूल्य भी है और स्थानीय मूल्य भी।)

यजुर्वेद-संहिता में दस घात बारह (१०^{१२}) तक की संख्याओं के नाम दिये हैं। एक १०^{०}, दस १०^{१}, शत १०^{२}, सहस्र १०^{३} इस क्रम से १०^{१२} तक संख्या लिखने का ज्ञान उस काल में था। दो हजार वर्ष पूर्व १०^{५३} (दस घात तिरेपन) तक संख्या लिखने का ज्ञान भारतीयों को था, जबकि यूनानी और रोम के गणितज्ञों को शून्य के अविष्कार का पता न होने से वे अधिकतम १०^{४} तक की संख्याएँ लिख सकते थे।

पूर्णांक के साथ अपुर्णांक (भिन्न) को व्यक्त करने के लिए दशमलव के प्रयोग द्वारा गणित के विकास का क्रान्तिकारी आधार प्रस्तुत करने वाली दशमिक प्रणाली, जो मूलतः भारत में निर्मित हुई, केवल एक हजार वर्ष पूर्व संस्कृत से अरबी और लैटिन में हुए अनुवाद-ग्रन्थों के माध्यम से संसार भर में प्रचलित हुई।

वर्गमूल ओर घनमूल (square and cube roots) निकालने की पध्दति, त्रिभुज, चतुर्भुज तथा वृत्त की परिधि एवं क्षेत्रफल निकालने के सूत्र, चक्रीय (cyclic) चतुर्भुजों के परस्पर छेदने वाले विकर्ण (diagonals) और उनका उपयोग, समान्तर श्रेढी (Arithmetical progression), गुणोत्तर श्रेढी (Gemetrical progression) तथा उनका समाकलन (Summation of series), आदि का ज्ञान आर्यभट्ट को था। इतना ही नहीं, वृत्तपरिध एवं व्यास के अनुपास दर्श सुप्रसिध्द नियतांक 'पाइ' (p) का चार दशमलव स्थान तक यथार्थ मान (exact value) ३.१४१६ भी उन्हें ज्ञात था। १३ सौ वर्ष पूर्व में आर्यभट्ट के चार ग्रन्थों के लैटिन में अनुवाद हुए हैं।

बह्मगुप्त ने (क ± ख) के वर्ग, घन, चतुर्घात से लेकर (क ± ख) स अर्थात् किसी भी घात (power) के विस्तार का सूत्र खोज निकाला, जिसका आज भी गणित में प्रयोग होता है।

वर्ग समीकरण, चक्रीय समीकरण, अनिर्धृत समीकरण (quadratic, cyclic and indeterminate equations) के भी सूत्र उसने सिध्द किये थे।

भास्कराचार्य के 'लीलावती' एवं 'सिद्धान्त शिरोमणि' दोनों ग्रन्थ वास्तव में संसार की अमूल्य निधि हैं। उनके 'शून्यलब्धि' में आधुनिक प्रगत कलन गणित (calculus) का उद्भव (origin) प्रतीत होता है। अनिर्धृत द्विघात समीकरण हल करने की चक्रीय रीति (cyclic method of solving indeterminate quadratic equations) भास्कराचार्य को ज्ञात थी। घनात्मक संख्या को शून्य से भाग देने पर भागफल 'अनन्त' (¥, infinity) होता है, इसका भी आकलन उन्हें था। अंकगणित, बीजगणित के साथ-साथ रेखागणित का भी विकास हुआ था। बोधायन का 'शुल्ब-सूत्र' २८०० वर्ष पूर्व का है। उसमें त्रिभुज, चतुर्भुज, वृत्त आदि के प्रकार, उनकी रचना और क्षेत्रफल के सूत्र आदि की जानकारी है।

समकोण त्रिभुज के कर्ण का वर्ग शेष दोनों भुजाओं के वर्गों के योग के समान होता है (The square on the hypotenuse of a right-angled triangle is equal to the sum of the squares on the remaining two sides)", रेखागणित का यह सिद्धान्त 'चिति-प्रमेय' के नाम से जाना जाता था। सत्ताईस सौ वर्ष पूर्व बोधायन ने उसका प्रतिपादन किया है। पाइथागोरस ने उसे भारत से प्राप्त किया। $३^२ + ४^२ = ५^२$ से लेकर $१५^२ + ३६^२ = ३९^२$ तक के कर्ण - सूत्र प्रतिपादित किये है। कात्यायन ने वृत्त के चाप को नापने की विधि बतायी। उसने प्रतिपादन किया कि "समकोण त्रिभुज की भुजाएँ यदि 'अ Ö२' हों तो उसका कर्ण 'अ Ö३' होगा' । आश्चर्य की बात है कि जिस 'घन पूर्ण-घातांक द्विपद प्रमेय (Binomial theorem for positive integral Exponent) का आविष्कार यूरोप में चार सौ वर्ष पूर्व हुआ, उसकी चर्चा पिंगल ने अपने 'छन्द-सूत्र' में की है।

खगोल शास्त्र, ज्योतिष

मात्र निरीक्षण-शक्ति के बल पर अपनी बुध्दिमत्ता से प्राचीन भारतीय अन्वेषकों ने अन्तरिक्ष, ग्रह, तारे, बम्हाण्ड आदि के विषय में जो ज्ञान प्राप्त किया और शास्त्रीय ग्रन्थों के रूप में संसार के समक्ष प्रस्तुत किया, वह अद्भुत है। पृथ्वी का आकार और भ्रमण, चन्द्र - उपग्रहों एवं तारों की गति, सत्ताईस नक्षत्र, सूर्य और चन्द्र के ग्रहण आदि के विषय में उनका विचार और गणना कितनी अचूक है, यह उस भारतीय पंचांग-प्रणाली से प्रकट है, जो आज भी अत्याधुनिक शास्त्रों के युग में प्रचार में हैं। पृथ्वी चपटी है या गोल, इसकी जानकारी जब संसार के अन्य मानवों को नहीं थी, तब यहाँ आर्यभट्ट ने पृथ्वी के भ्रमण का सिद्धान्त प्रतिपादित किया था।

शास्त्रशुद्ध ब्रह्माण्ड-चक्र का सम्बोध (concept of cosmic cycle) इतना प्राचीन है कि उसका उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में पाया जाता है। ग्रह और तारों की गति का उनको सूक्ष्म ज्ञान था। 'विषुव-बिन्दु एवं अयनान्त बिन्दु स्थिर नहीं होते' (Equinoctial and solstitial points are not stationary) यह प्रतिपादन कर प्रत्यगति एवं प्रागति, ऐसी दो गतियों का उन्होंने विचार किया। चन्द्र का पृथ्वी के चारों ओर और पृथ्वी का अपने अक्ष पर भ्रमण देखकर बारह राशियाँ सत्ताईस नक्षत्र, तीस दिन का चान्द्रमास, बारह मास का वर्ष, चान्द्र और सौर वर्ष के अन्तर को समन्वित करने हेतु प्रति तीसरे वर्ष पुरुषोत्तम मास (अधिक मास) द्वारा समायोजन आदि जो निर्दोष, शास्त्रशुध्द, मूलगामी खगोल-सिद्धान्त प्राचीन ज्योतिर्विदों ने प्रतिपादित किये, वे अद्यावधि यथावत् चल रहे हैं, यह बात अभिलक्षणीय है।

भौतिकी एवं रसायन विज्ञान

कणाद के वैशेषिक दर्शन से भौतिक विज्ञान में प्राचीन भारत की प्रगति का निदर्शन होता है। पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश के पंचमहाभूतों का मूल भारतीय विचार ही, सम्भवतः आकाशतत्व का समुचित सम्बोध न होने के कारण पाश्चात्य विज्ञान में Air, Earth, Fire, Water, इन चार मूलतत्वों (fundamental elements) के रूप में प्रचारित हुआ। कणाद ने पदार्थ, उसके संघटक तत्व और उनके अणु (atmos) का सिध्दान्त प्रतिपादित किया। अणुओं के संयोजन से द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि व्यूहाणूओं (diatomic and triatomic molecules) की रचना की विशद धारणा उन्हें थी। पदार्थ (matter), कार्यशक्ति (Power), गति (motion) वेग (velocity) आदि के विषय में मौलिक सिध्दान्त प्राचीन शास्त्रज्ञों ने प्रस्तुत किये। यूरोप में केवल ६०० वर्ष पूर्व भौतिकी के जो सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये, वे प्रशस्तपाद के 'पदार्थ-धर्म-संग्रह' और व्योमशिवाचार्य के 'व्योमवती' ग्रन्थों में पाये जाते हैं।

अत्यन्त प्राचीनकाल से रसायन विज्ञान की ओर अन्वेषकों का ध्यान था। वनस्पति और उनके गुणधर्मों का औषध-निर्माण में बहुत पूर्वकाल से प्रयोग होता आया है। रस-विद्या एक स्वतंत्र ज्ञान-शाखा थी। स्वर्ण, रजत, ताम्र, लोह आदि धातुओं को पिघलाकर दो या अधिक धातुओं के संकर (alloy) बनाने की विधि और उसके व्यावहारिक उपयोग के प्राचीन उल्लेख उपलब्ध हैं। नागार्जुन जैसे रसायनज्ञों (Chemists) ने इस पर अन्वेषण कर ग्रन्थ लेखन किया।

चिकित्सा शास्त्र

विज्ञान की कसौटी पर खरा उतरा हुआ और आज भी उतना ही उपयुक्त और श्रेष्ठ प्राचीन चिकित्सा-शास्त्र आयुर्वेद के नाम से हमें ज्ञात है। इस प्राचीन शास्त्र में केवल मनुष्य ही

नहीं, अपितु अन्य प्राणि एवं उद्भिद (वनस्पति) सृष्टि (animal and vegetable kingdom) के जीवन का भी परिपूर्ण विचार हुआ है। आयुर्वेद के त्रिधातु सिध्दान्त, पंचभौतिक देह एवं उसका पुरुष-प्रकृति सम्बन्ध, वैशेषिक दर्शन का द्रव्यगुण विज्ञान, सांख्य दर्शन का सप्तधातु सिध्दान्त, आदि विविध शास्त्रीय विचार-प्रणालियाँ आज भी अचूक, मूलभूत एवं व्यवहारोपयोगी मानी जाती हैं।

सुश्रुत-प्रणीत चिकित्सा में शल्य (surgery), शालाक्य, काय-चिकित्सा, भूत-विद्या, कौमारभृत्य (pediatrics), अगद (toxicology), रसायन एवं वाजीकरण (virilification) इन अष्टांगों का विचार किया गया है। शल्य-कर्म का वैज्ञानिक विवरण, उसके लिए प्रयुक्त साधन, उपकरण आदि सभी का उसमें विचार हैं। चरक में देह-औषधियों का ऊहापोह है। चरक एवं सुश्रुत ग्रन्थों के अनेक भाषाओं में अनुवाद हुए हैं और वे विशाल परिमाण में प्रकाशित हुए हैं। आज इन ग्रन्थों को प्रमाणभूत मानने वाला चिकित्सा-विज्ञान रूस, जर्मनी आदि देशों में मान्यता प्राप्त है।

वाग्भट ने 'अष्टांग-हृदय संहिता' में आयुर्वेद का ज्ञान व्यवस्थित कर संगृहीत किया। पदार्थों को खनिज, प्राणिज एवं उद्भिज्ज में वर्गीकृत कर विविध प्रकार की औषधियों को सिध्द करने की विधाएँ (processes) निश्चित कीं। ज्वर, अम्लपित्त, कास, राजयक्ष्मा, पण्डुरोग, उदर, गुल्म, उन्माद, अपस्मार, मूत्राघात, नेत्ररोग, कुष्ठ रोग आदि विविध रोगों उनके लक्षणों और उपायों का उसे ज्ञान था। माधवकर, वृन्द, धन्वन्तरि, चक्रपाणिदत्त आदि आयुर्वेदज्ञों ने अनन्तर इस ज्ञान में बढ़ोत्तरी की।

भाषा एवं लिपि

सुगठित भाषा, शास्त्रशुध्द लिपि एवं इनके माध्यम से निर्मित श्रेष्ठ वाङ्मय संस्कृति का वैभव होता है। संसार के प्राचीनतम वेद-वाङ्मय की निर्मिति का बहुमान भारत को मिला है। वही बात भाषा के बारे में है। संस्कृत जैसी परिपूर्ण भाषा संसार में कोई अन्य नहीं। उसका व्याकरण तीन सहस्त्र वर्ष पूर्व जो लिखा गया, वह इतना वैज्ञानिक है कि आज की अधिसंख्य भाषाओं का व्याकरण संस्कृत भाषा के व्याकरण पर आधारित है। भारत के प्राचीन विद्यापीठों में भाषाशास्त्र और लिपिशास्त्र एक पूर्ण - विकसित ज्ञानशाखा थी। प्राचीन काल में संस्कृत भाषा में समस्त विषयों का जो विशाल एवं उत्कृष्ट साहित्य सृजित हुआ, वैसा संसार की किसी अन्य भाषा में नही हुआ। यह विशेष बात है कि इन सभी प्राचीन ग्रन्थों की व्यावहारिक उपयोगिता एवं महत्व जितना उस काल में था, आज भी उतना ही है।

लिपि के विकास का उदाहरण है ब्राह्मी लिपि। 'संस्कृत साहित्य का इतिहास (History of Sanskrit Literature) नामक अपनी पुस्तक में मैकडोनाल्ड कहते है, "The complex alphabet, evidently worked out by learned Bramins, must have existed by 500 B.C. This is the alphabet which is recognized in Panini's great grammer. We Europeans, on the other hand, twenty-five hundred years later and in a scientific age, still employ an alphabet which is not only inadequate to represent all the sounds of our language but also preserves the random order in which vowels and consonants are jumbled up as they were in Greek". (विद्वान ब्राह्मणों द्वारा रचित यह जटिल वर्णमाला ईसा के पाँच सौ वर्ष पूर्व विद्यमान थी। पाणिनि ने अपने महान व्याकरण में इसी वर्णमाला को मान्य ठहराया है। फिर भी हम यूरोपीय लोग आज ढाई हजार वर्ष बाद एवं विज्ञान के युग में भी एक ऐसी वर्णमाला से चिपके हुए हैं, जो हमारी भाषा की ही सब ध्वनियों को व्यक्त करने के लिए अपर्याप्त है और जिसमें यूनानी लिपि का स्वर-व्यंजनों के ऊटपटांग क्रम का गोलमाल वैसा ही बना हुआ है।)

समाज एवं शासन व्यवस्था

भारतीयों के द्वारा आग्नेय (दक्षिण-पूर्वी) एवं मध्य एशिया के विभिन्न देशों में स्थापित राज्य सहस्त्र वर्ष पर्यन्त टिके रहे। इन राज्यों ने अपने सम्बध्द राष्ट्रों की आज की संस्कृति को जन्म दिया। इन राज्यों के दीर्घकाल तक टिकने एवं विकास करने के जो अनेक कारण हैं, उनमें से समाज-व्यवस्था एवं राज्यतंत्र के सन्दर्भ मे कतिपय कारण भी महत्वपूर्ण हैं।

देशीय समाज से एकरूपता

भारत से विभिन्न देशों में गये भारतीय उन देशों के लोगों से एकरूप हुए। संस्कृति एवं सामर्थ्य में स्वयं श्रेष्ठ होते हुए भी वहाँ के परिवेश में उन्होंने स्थानीय जनों को समानता का स्थान दिया। उनकी देवी-देवताओं का आदर किया। अपनी परम्पराओं से उनका परिचय होने और उनके द्वारा इन्हें ग्रहण करने तक धैर्य रखा। कौण्डिन्य ने नागकन्या सोमा से विवाह कर वहाँ के आदिवासियों से सम्बन्ध की निकटता निर्मित की। भारत से गये सभी ने इस स्वाभाविक रोटी-बेटी व्यवहार से आत्मीयता और सामंजस्य स्थापित किया।

भारत में प्रचलित समाज रचना जैसी रचना सर्वत्र करने का प्रयास भारतीयों ने किया। उसमें चातुर्वर्ण्य एवं जाति-व्यवस्था का कुशलतापूर्वक उपयोग किया। बृहद् भारत में वर्ण गुण-कर्म-विभागशः थे। जाति-व्यवस्था व्यवसाय के अनुरूप एवं यथेष्ट परिवर्तनीय लचीली थी। भारत में भी मूलतः वह ऐसी ही थी। शुक्र नीति का प्रभाव इन देशों में दिखाई देता है।

नैव जातिं न च कुलं केवलं लक्षयेदपि।
कर्मशील गुणाः पूज्यास्तथा जातिकुलेन च।।
न जात्या न कुलेनैव श्रेष्ठत्वं प्रतिपद्यते।।

- शुक्रनीति

इस प्रक्रिया में जाति और कुल को प्रधानता नहीं थी। पराक्रम एवं ज्ञान से श्रेष्ठ पुरुष को अपना कर्तुत्व दिखाने का पूर्ण अवसर उपलब्ध था। ऐसे योग्य व्यक्ति को जाति का विचार न करते हुए महत्वपूर्ण पद पर नियुक्त किया जाता था।

राजा-प्रजा सम्बन्ध

'ना विष्णुः पृथिवीपतिः' - राजा परमेश्वर का अंश है, ऐसी श्रध्दा प्रजा के अन्तःकरण में थी। कृतनगर जैसे राजाओं की विष्णु के और बौध्द राजाओं की अवलोकितेश्वर के रूप में मूर्ति बनाकर मन्दिर स्थापित किये गये। ऐसा श्रध्दा भाव निर्मित होने के लिए वैसे कर्तृत्वशाली राजाओं की दीर्घ परम्परा का होना आवश्यक है। भारत में राज्य-व्यवस्था के अनुभवसिध्द प्रयोग सामने होने से ये बाहर गये हुए भारतीय इस कार्य में सफल हुए। मुनस्मृति, शुक्रनीति, कामन्दक नीति एवं कौटिलीय अर्थशास्त्र जैसे शास्त्रशुध्द ग्रन्थ साथ लेकर ही भारतीय इन देशों में गये। सहज ही इन राजाओं ने इन्हीं विधाओं का प्रयोग राजतंत्र में किया।

प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानांच हिते हितम् ।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम् ।।

- (अर्थ ०१, १९)

अर्थशास्त्र - प्रणीत इस राजधर्म की अनुभूति भारतीयों को थी। इसीलिए प्रजा के साथ उत्सव-समारोहों में सम्मिलित होने वाले, न्याय की पुकार के लिए राजप्रासाद पर घण्टा टांगने वाले, प्रजा के मत-मतान्तरों को समझने वाले और प्रजा के सुख में अपना सुख मानने वाले अनेक नृपति हुए।

शासन - तंत्र

ये राज्य आकार से विस्तीर्ण, समुद्रवलयांकित, नग-काननो से सुशोभित थे। राज्य-व्यवस्था का पूर्ण विचार करते हुए शासन-तंत्र खड़ा किया गया था। शैलेन्द्र, फूनान, मजपहित आदि साम्राज्य प्रबन्ध-सुविधा की दृष्टि से अनेक विभागों में विभाजित थे। समीपवर्ती द्वीपों अथवा अन्य छोटे भागों पर राज-प्रतिनिधि अधिकारी नियुक्त थे। प्रायः वे छोटे-बड़े राजकुलों के होते थे। छोटे-छोटे गाँवों के समूह और उनके शासकीय अधिकारी रहते थे।

ग्रामस्याधिपतिं कुर्याद्दश ग्रामपतिं तथा।

विंशत्रिंश शतेशं च सहस्त्रपतिमेव च।।   मनु. ७/११५

प्रत्येक ग्राम के लिए एक, दस ग्रामों के लिए एक, बीस, तीस और सौ ग्रामों के समूहों पर एक, इस प्रकार अधिकारियों की शृंखला मनुस्मृति में बतायी है। कामन्दक, कौटिल्य और मनु, तीनों द्वारा राज्य-रचना का ऐसा ही विचार किया गया है।

१. परस्परोपकारीदं सप्तांगं राज्यमुच्यते। (कामन्दक)

२. स्वाम्यमात्यजनपददुर्गकोषदण्डमित्राणि प्रकृतयः।
अरिवर्जाः प्रकृतयः सप्तैताः स्व गुणोदयाः।
उक्ताः प्रत्यंगभूतास्ताः प्रकृता राज्यसम्पदः।

- (अर्थशास्त्र, अधि . ६)

३. सप्तांगस्येह राज्यस्य विष्टब्धस्य त्रिदण्डवत् ।। - मनु. अ. ९

दुर्ग, कोष, मंत्रिपरिषद् मित्र आदि विविध अंगों से बृहद् भारत के राज्य सम्पन्न थे। उनकी राजधानियाँ तटों और खाइयों के द्वारा सुरक्षित और पहाड़ी पर या उसकी तली में रहती थी। कृषि एवं वाणिज्य के कारण ये राज्य समृद्ध थे। चीन सदृश बलाढ्य देश के साथ राजदूत के माध्यम से सम्बन्ध रखने, कभी कुब्लई खान जैसे आक्रमकों के काल में संगठित प्रतिरोध-शक्ति का निर्माण करने एवं विवाह-सम्बन्धों के माध्यम से राजनीतिक मित्र राष्ट्र बनाने की शास्त्रसम्मत राजनीति ये राज्य चलाया करते थे। अमात्य एवं मंत्रिपरिषद् अथवा राजसभा के विषय में भी इन राज्यों द्वारा समुचित विचार किया हुआ पाया जाता है। गजमद के उदाहरण से प्रतीत होता है कि जावा, सुमात्रा की राजसभाएँ शुक्रनीति एवं मानव धर्मशास्त्र (मनुस्मृति) के सिद्धान्त ध्यान में रखकर कार्यरत थीं।

विना प्रकृतिसंमंत्राद्राज्यनाशो भवेद्ध्रुवम् ।

रोधनं न भवेत्तस्माद्राजस्ते स्युः सुमंत्रिणः।।   - शुक्र. , प्र. २

मंत्रियों की सहायता के बिना शासन चलाना योग्य नहीं। यही भी कहा गया है कि राजा की उपस्थिती में मंत्री परामर्श देने में संकोच करेंगे, यह सोचकर राजा को प्रत्येक का स्वतंत्र लिखित मत माँगना चाहिए।

रागाल्लोभाद्भयाद्राज्ञः स्युर्मूका श्च मंत्रिणः।
नताननुमतान्विद्यान् नृपतिः स्वार्थसिध्दये।।
पृथक् पृथक् मतं तेषां लेखयित्वा ससाधनम् ।
विमृशेत्स्त्वमतेनैव यत्कुर्याद् बहुसम्मतम् ।। (शुक्र.)

न्याय

राजा के प्रजा से सम्बन्ध एवं राज्य का स्वास्थ्य न्याय-व्यवस्था पर निर्भर होता है। राजा का न्यायी होना और स्थान-स्थान पर उसके द्वारा नियुक्त न्यायाधिकारियों का भी उतना ही निष्पक्ष और विधिवेत्ता होना आवश्यक होता है। शुक्रनीति में तो यह भी कहा गया है कि राजा और न्यायाधीश, दोनों के ही परामर्श के लिए तीन, पाँच या सात पंच होने चाहिए।

लोकवेदधर्मज्ञाः सप्त पंच त्रयोऽपि वा।

यत्रोपविष्टा विप्राः स्युः सा यज्ञसदृशी सभा।। (शुक्र.)

अन्यायपूर्वक किसी को दण्ड नहीं दिया जाना चाहिए। यदि अन्याय से दण्ड हुआ तो राजा को चाहिए कि स्वयं को तीस गुना दण्ड करा ले।

अदण्ड्य दण्डने राज्ञो दण्डास्त्रिंशद् गुणोऽम्भसि।

- अर्थ. अ. ४

मनुस्मृति में राजा और अमात्य के कार्यों का विभाजन बताया गया है। अमात्य अत्यन्त विश्वसनीय अधिकारी हो। उसे न्यायदान का भी अधिकार हो। कोष और राष्ट्रप्रमुख के नाते राजा को सर्वाधिकार हों।

अमात्ये दण्ड आयत्तो दण्डे वैनयिकी क्रिया।

नृपतौ कोषराष्ट्रे च दूते सन्धिविपर्ययौ।।

(मनु.अ. ७)

इन मार्गदर्शी तत्त्वों के अनुसार विद्वान, शास्त्रवेत्ता पण्डित एवं अमात्य आदि मंत्रियों को न्यायदान के अधिकार थे। मानवधर्मशास्त्र पर आधारित विधि नियम थे।

संसार मे भ्रमण करने वाले इन भारतीयों की कठिनाइयाँ विविध प्रकार की थीं। विशेषतः स्थानीय उपासना-पद्धति, हिन्दू विचारधारा, तत्कालीन सन्त एवं उनके सम्प्रदाय आदि का समन्वय करना और उसमें से एकराष्ट्रीयत्व का संवर्धन करना कठिन काम था। इस दृष्टि से उन्हें अनेकविध कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। प्रजा के अन्तःकरण में स्थान प्राप्त करना और वह भी बाहर से आये लोगों द्वारा बड़ा कठिन था, किन्तु उन्होंने प्रयास किया कि अपने राजा की मूलभूमि के रूप में वहाँ के लोग भारत को अपनी भूमि मानने लगें। आवश्यकतानुसार देश, काल एवं परिस्थिति के अनुरूप उन्होंने उस राष्ट्र की संस्कृति और धर्म-रचना में परिवर्तन का भी विचार किया। बौध्द और शैव पन्थानुयायियों का अद्वैतभाव निर्मित करने का चमत्कार

किसी आचार्य ने नहीं, प्रत्युत् राजा ने कर दिखाया। शुक्रनीति में राजा को विद्वत्सभा के परामर्श से ऐसा परिवर्तन करने की अनुमति दी गयी है।

वर्तमानाश्च प्राचीना धर्माः के लोकसंश्रिताः।
शास्त्रेषु के समुद्दिष्टा विरुध्यन्ते च केऽघुना।।
लोकशास्त्रविरुद्धाः के पण्डितस्तान्विचिन्त्य च।
नृपं सम्बोधयेत्तैश्च परत्रह सुखप्रदैः।। (शुक्र.)

रक्षा

समुद्रवलयांकित राज्यों का सामर्थ्य उनके नौसैनिक दल पर निर्भर रहता है। आग्नेय (दक्षिण-पूर्वी) एशिया के द्वीप-राज्य इस दृष्टि से समर्थ थे। फूनान साम्राज्य का नौ-कटक चीन के लिए भी अजेय था। श्रीविजय के नाविक बेड़े ने चोलों के बलाढ्य बेड़े से टक्कर ली थी। कीर्तिराज जयवर्धन ने समुद्री समर में कुब्लई खान के नाविक बेड़े को परास्त कर दिया। नौसेना के साथ-साथ स्थल सेना भी बलवती थी। राजधानी का निर्माण पूर्ण सुरक्षित किया जाता था। धनुर्धारी सैनिकों के अनुशासित गुल्मों की सहायता में गज-दल रहता था। ज्ञात इतिहास के आरम्भ से अर्थात् कम्बुज देश में कौण्डिन्य के राज्यकाल से ही गजदल का प्रयोग पाया जाता है। सेना में प्रधान सेनापति से लेकर छोटे-से-छोटे गुल्मक तक के अधिकारियों की श्रेणी होनी चाहिए। मनुस्मृति में भी रक्षा व्यवस्था, राजधानी की बनावट, गुप्तचर विभाग, राजदूत, शत्रु-मित्र व्यवहार आदि के विषय में समुपयुक्त मार्ग-दर्शन है। कौटिलीय अर्थशास्त्र एवं मनुस्मृति के अनुवाद नितान्त पूर्व से ही इन राज्यों में सम्पादित किये गये थे। अपरंच, युद्धशास्त्र, रक्षा आदि की शिक्षा के लिए छात्रों को भारत भेजकर शासन-प्रबन्ध संभालने के लिए योग्य बनाया जाता रहा होगा। शुक्रनीति कहती है कि ऐसे छात्रों को विद्या-वेतन (stipend) देकर भेजना चाहिए और शिक्षा के बाद उनकी योजना समुचित पद पर करनी चाहिए।

सर्व विद्याकलाभ्यासे शिक्षयेद् भूतिपोषितान् ।
समाप्तविद्यं तं दृष्ट्वा तत्कार्ये तं नियोजयेत् ।।

राजनीति में महिलाओं का स्थान

बृहद् भारत में हिन्दू संस्कृति के प्रसार में महिलाओं का अंशदान पर्याप्त बड़ा है। एक तो उन देशों की अनेक कन्याओं ने हिन्दू संस्कृति को अंगीकार किया, हिन्दू युवकों से विवाह किये। अपरंच, विद्वान् ब्राह्मण, वैश्य, राजपुत्र अपने स्त्री-परिवार सहित वहाँ जाकर बसे। उस काल में

हजारों कोस की समुद्री यात्रा कर अपरिचित क्षेत्र में जाकर बसने का साहस करने वाली भारतीय महिलाएँ भी वास्तव में धन्य हैं!

शिक्षा में भी स्त्री पीछे नहीं रही। प्रायः पुरुषों के समान सब प्रकार की शिक्षा महिलाएँ भी लेती होंगी। राजा के रक्षा - दल में स्त्री-दल भी होने का उल्लेख मिलता है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि कम्बुज में प्रथम प्रतिकार हुआ था नागराज-कन्या द्वारा। इससे स्त्रियों का राजनीति में स्थान लक्षित होता है। राजपुरुषों के साथ राजस्त्रियों को भी देवी का स्वरुप दिया हुआ पाया जाता है। शैलेन्द्र घराने की महिलाएँ दानी एवं समाज-कार्य में अग्रणी दिखाई देती हैं। भारतीय युवक से प्रेम करने वाली कन्या स्वयं भारत न जाकर युवक को ही सुवर्ण-द्वीप का निवासी बनाती हुई पायी जाती है। इससे प्रतीत होता है कि स्त्री जीवन संस्कारित एवं समंजस था।

विवाह की स्वयंवर प्रणाली से कन्या को वर के चयन में प्राप्त स्वतंत्रता परिलक्षित होती है। राजा और उसकी प्रेमिका राजकन्या पर राजकवि के द्वारा 'अर्जुन विवाह' जैसा काव्य लिखा जाना उस काल के नीरोग समाज-जीवन को व्यक्त करता है। शासन-तंत्र में अनेक महिलाएँ सक्रिय थीं। रानी त्रिभुवना ने बाईस वर्ष तक मजपहित साम्राज्य का संचालन किया। सिंहासन पर उसके अधिकार में पति का भी सहयोग नहीं था। उसके अमात्य गजमद के कर्तृत्वशाली होने पर भी इतने विशाल साम्राज्य की स्वामिनी के रूप में प्रदीर्घ काल तक सफल होना राजनीति में बड़ा कठिन काम है। प्राचीन भारतीय स्त्री के संस्कार-क्षम अन्तःकरण एवं कार्यक्षमता का दर्शन बृहद् भारत की स्त्री में यथावत् होता है।

मोक्सको - मय देश
अमरिका के संस्थान (यु. एस्. ए.)
चिवावा
कॅलिफोर्निया की खाड़ी
लोस मोचिस
मे क्सि को (मय देश)
मोक्सको की खाड़ी
कानकुन
युकातान द्वीपकल्प
चिचेन इत्सा
उष्माल
कॅरिबिअर सागर
मेक्सिको (तेनोजितित्लन/
तेवुतिवाकान
पोपोकेतपेत्ल
पालेंके
पॅसिफिक महासागर (प्रशांत महासागर)
अल्कापुल्को
होन्डुरास
ग्वातेमाला
उ.

मानचित्र क्र. ११
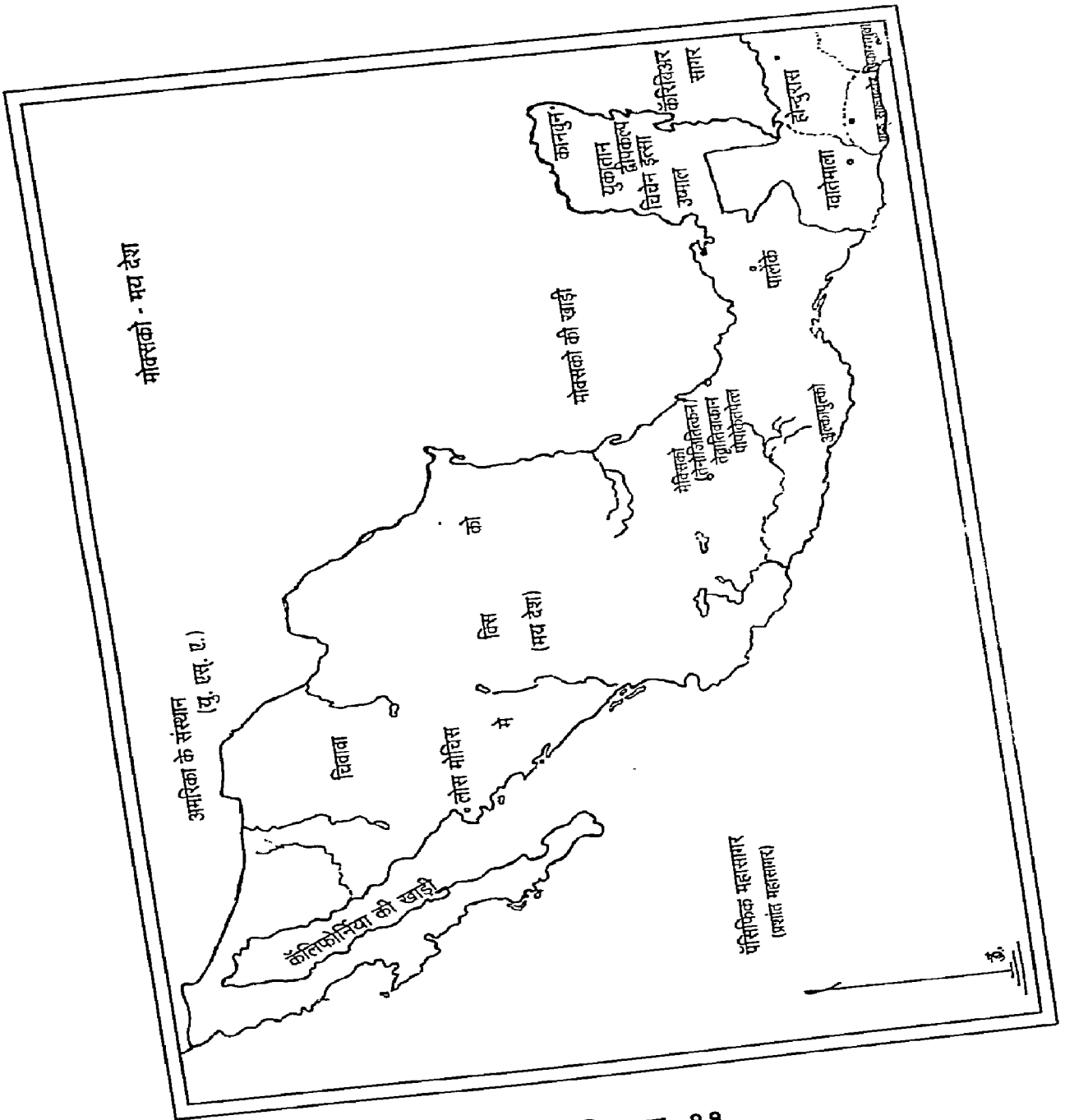
८१. मय राजप्रासाद, पलेंके (मेक्सिको)

८२. एक लक्ष जनसंख्या की प्राचीन नगरी तेवतिवाकान (मेक्सिको) [क.११०० (खि. १००) लगभग]
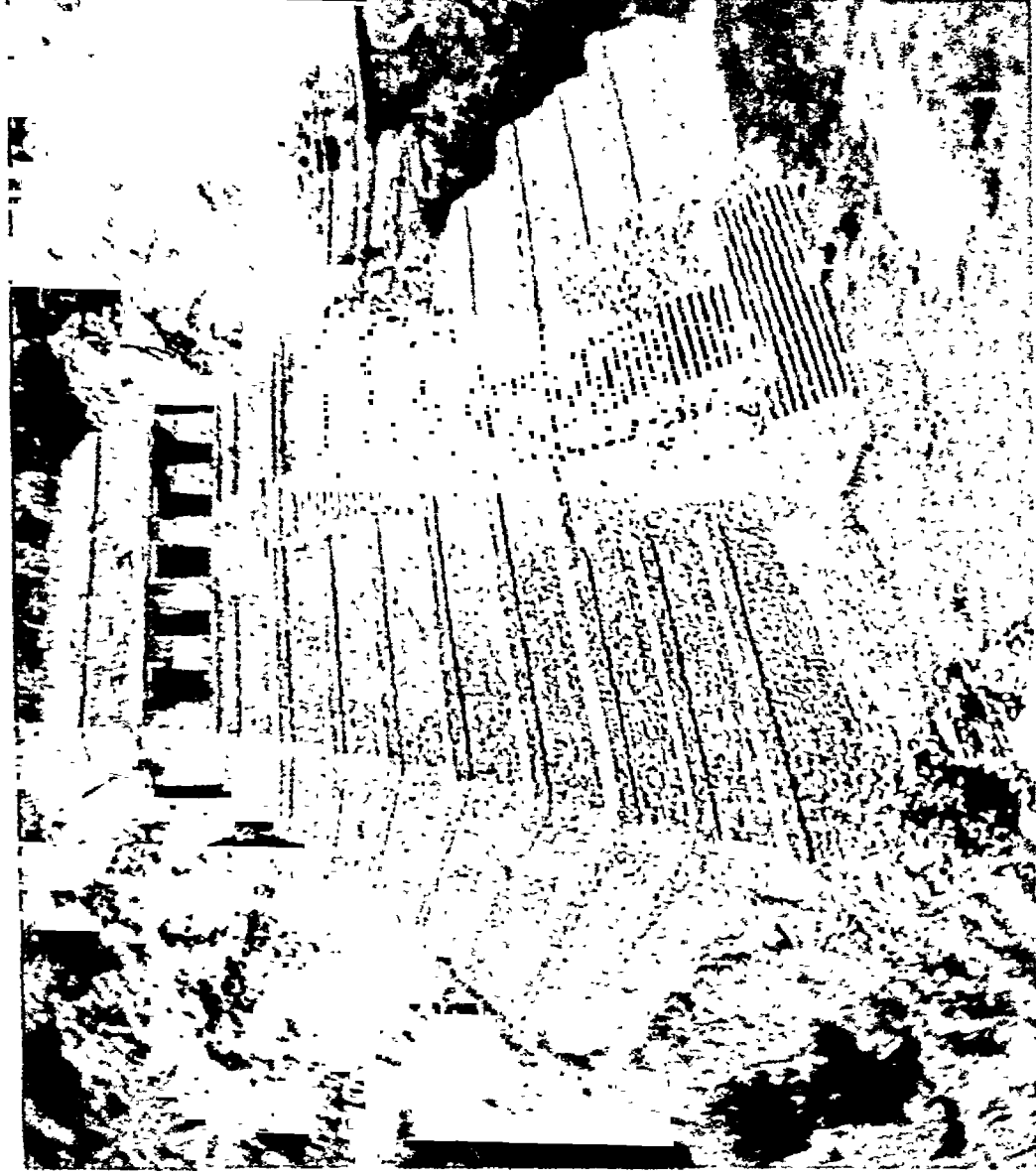
८३. मन्दिर एवं वेधशाला, पलेंके (मेक्सिको)
क. ३७ वी शती (खि. ७ वी शती)
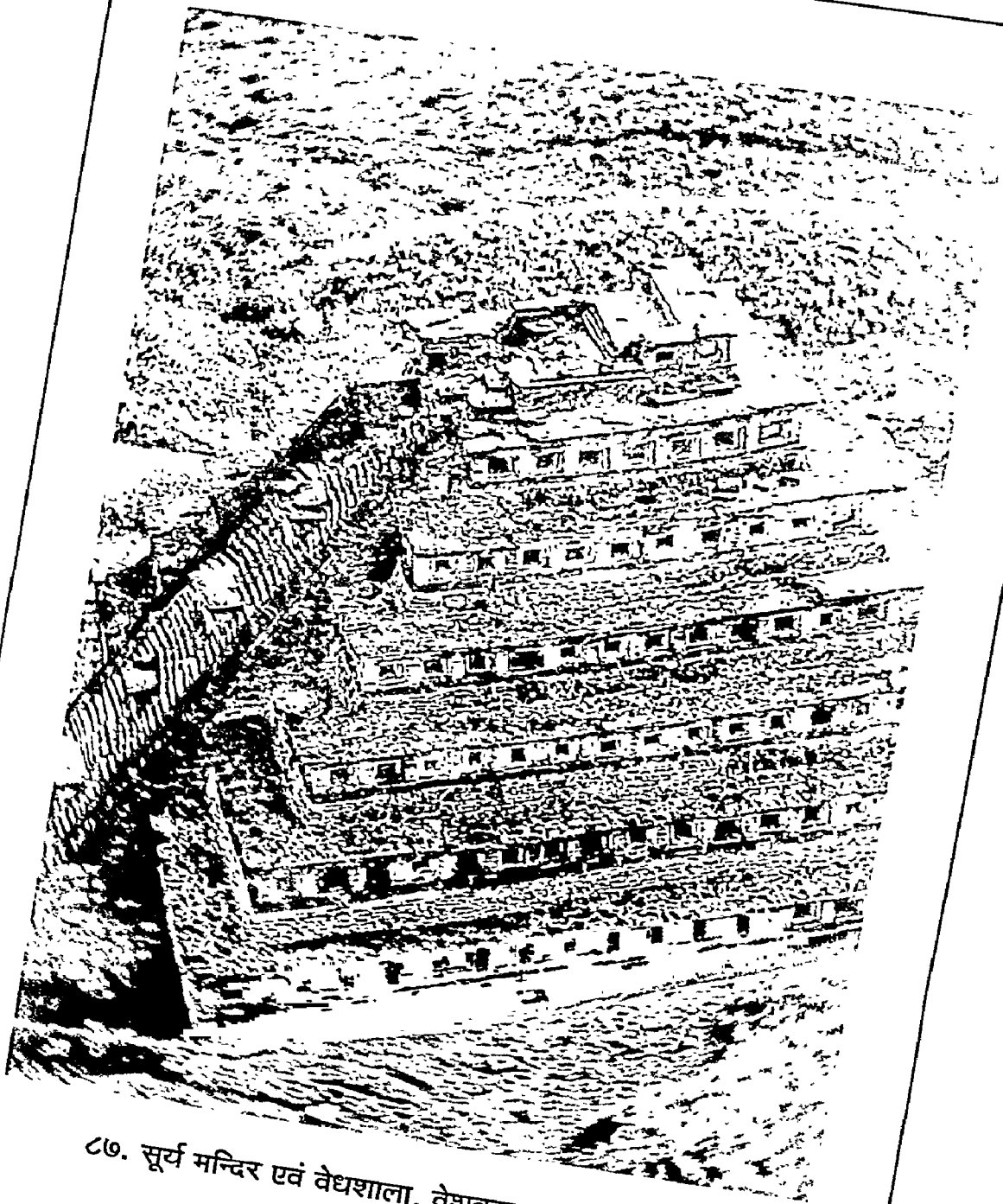
८७. सूर्य मन्दिर एवं वेधशाला, वेराक्रूज (मध्य अमेरिका)

८८. पाकाल (मेक्सिको)
अस्तेक नरेश के शवपेटिका पर चित्र
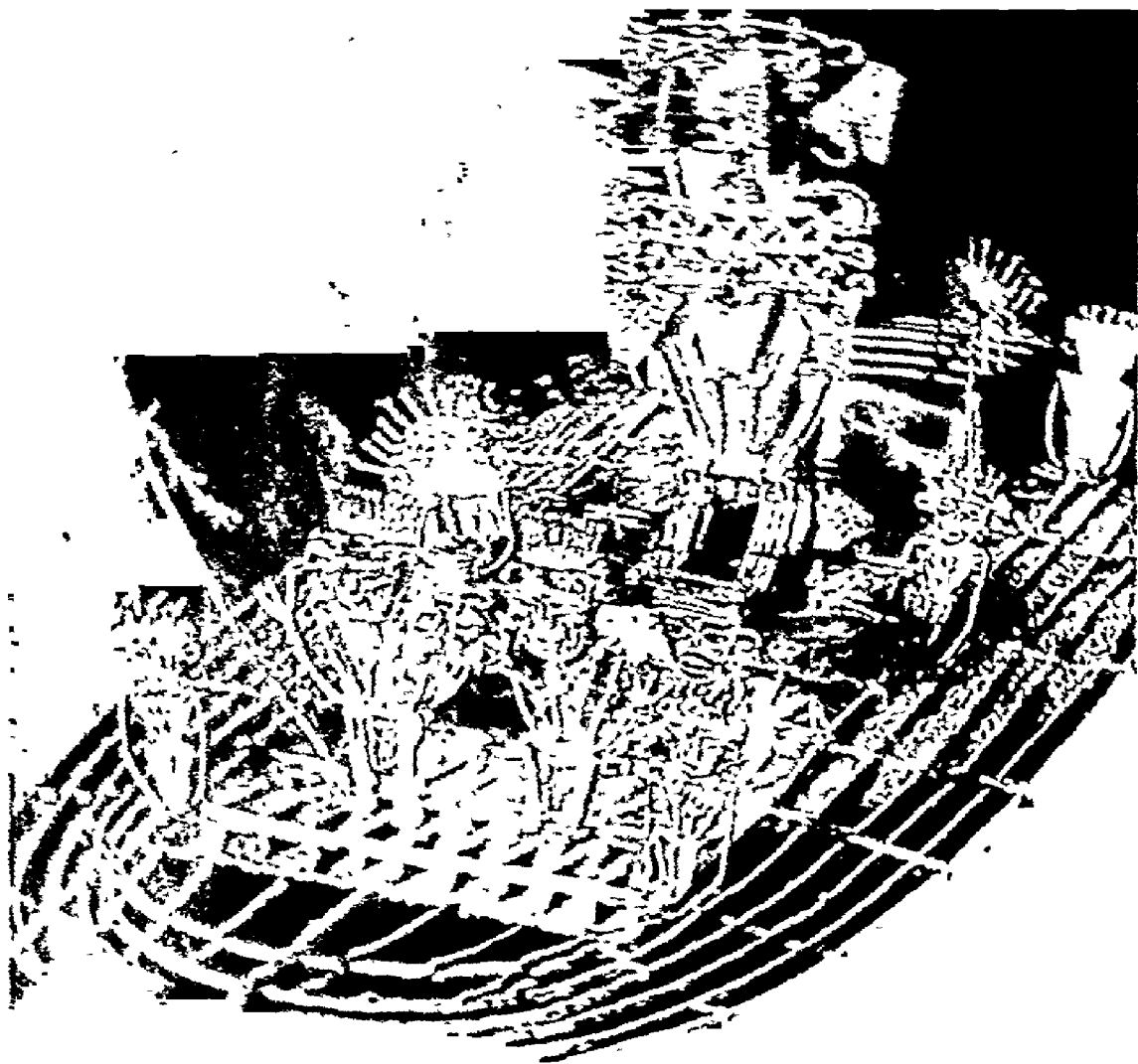
८९. नौका की पूर्ण सोने की प्रतिकृति (कोलंबिया)
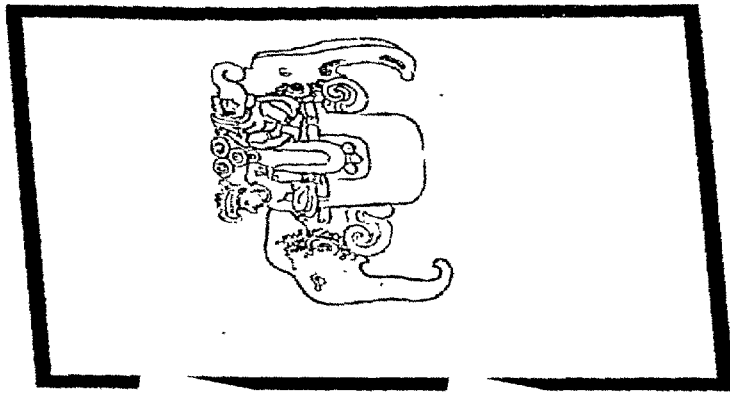
'द्वारपाल'

कोपान हाण्डुरास मध्य अमेरिका विक्रम सं. ७६२

DOORKEEPER
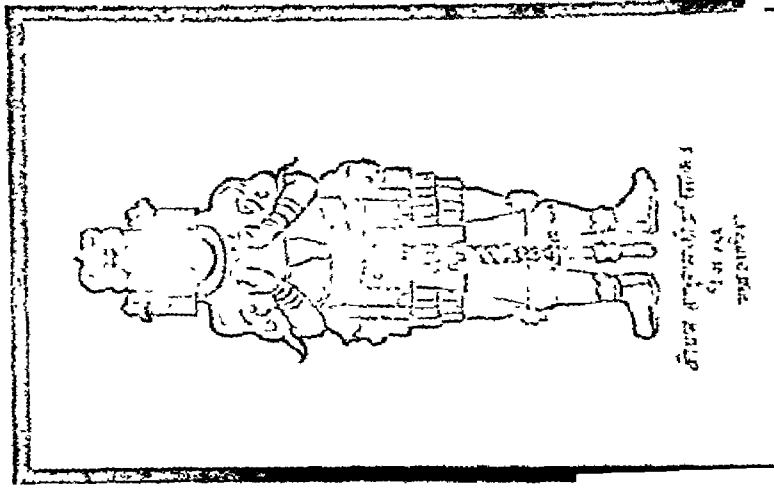
१२. 'द्वारपाल' (मध्य अमेरिका)

'हनुमान' (मध्य अमेरिका)

HANUMAN (CENTRAL AMERIKA)

१३. 'हनुमान' (मध्य अमेरिका)

संदर्भ ग्रंथ सूचि

(BIBLIOGRAPHY)

Bṛhatkathashlokasangraha - A study - Varanasi 1974.
The Geography of the Puranas sec. edn. New Delhi 1973
History of Maratha Navy and Merchantships, Bombay 1972
Hindu India from origional Sources Vol. I - II New Delhi 1977.
India and China sec. edn. Bombay 1944.
India and Central Asia Calcutta 1955.
Ancient Indonesian Art - Harvard University Press 1959.
Ed-Maritime Heritage of India - New Delhi 1999.
Expansion of Indo-Aryan Culture. Munshiram Manoharlal - Delhi 1965.
The Indians and Amerindians. Self Employment Burao - Calcutta Vol. I - 1992, II - 1997, III - 1997, Vol. IV - 2001.
Hindu America. Fifth edn. Delhi 1966.
Love, Life and Liberty Delhi 1969.
India and the Indian Ocean, New Horizons Delhi 1982.
The Indianized states of South East Asia Trans. University of Hawaii, Honolulu 1968.
The Ancient Geography of India Varanasi 1963.
Buddhist Monks and Monasteries of India. London 1962.
Africa, History of a continent. London 1972
Early Buddhist Rock Temples, A. Chronological Study, London 1972.
Geology of India, New Delhi 1968.
The Geographical Dictionary of Ancient and Medieval

India, New Delhi 1971.

Dikshikar V.R.R. - Some Aspects of Vayu Purana - Madras 1933

Fage J.D. A History of Africa - London 1978.

Ghoshal U.N. Indian culture in Afghanistan - Greater India Bombay - 1960.

Gupta P. Geography in Ancient Indian Inscriptions upto A.D. 650 Delhi 1973.

Hardgrave R.L. Boats of Bengal, Eighteenth Century Portraits by Balthazar Solvyns. New Delhi 2001.

Gibbon Edward. The decline and Fall of Roman Empire - Vol. I, II, III NewYork 1962.

Hall D.G.E. A History of South East Asia third edn. New York 1970.

Hebalkar S. P. Ancient Indian ports. Munshiram Manoharlal - Delhi 2001.

Ivor, Brown Rogets International Treasures third edn. Bombay.

Jain K.C. Pre-history and Proto-history of India Delhi 1979.

Jain K. L. The Indian Asuras colonised Europe. Delhi 1990.

James Bailey God-kings and Titans London - 1973.

James Legge The Travells of Fa-Hien - Reprint Delhi 1972

Kanakasabhai V. The Tamils 1800 years Ago Delhi 1979.

Kane V.S. Western Aryasthan Ekta Pub. Trust Pune 2001.

Kenneth Scott L. The Chinese, Their History and Culture Macmillan - USA. ninth edn. 1972.

Korovkin F. History of the Ancient world Mosco - 1985.

Law B.C. Geography of Early Buddhism - reprinted - Delhi 1979

Historical Geography of Ancient India reprinted New Delhi 1984.

Leakey L.S.B. Stone Age Cultures of Kenya Colony - London 1971

Lokesh Chandra and S.P. Gupta Edited - India's contribution to world Thought and culture, Vivekanand commemoration volume Madras - 1970.

Mac Crindle J.W. Ancient India as Described by Megasthenes and Arrian. rev. edn. Calcutta 1926 reprinted New Delhi 2000.

Ancient India as Described by Ptolemy Calcutta 1927 - reprinted New Delhi 2000.

Macdonell A History of Sanskrit Literature 1928.

Mandalik, N.V. Ed. Writings and Speeches of V.N. Mandalik Bombay 1976.
Mehta R. N. Pre-Buddhist India Bombay 1939.
Michael Grant History of Rome London 1978.
Mirashi, V.V. The History and Inscriptions of Satavahanas and western Kshatrapass, Bombay 1981.
- ed. Corpus Inscriptions Indicarum Vol. VI. New Delhi 1977.
Mookerji R. K. A History of Indian shipping - Calcutta 1912. re-printed New-Delhi 2000.
Ancient India. Allahabad 1956.
Glimpses of Ancient India Bombay 1970.
Moti Chandra, Trade and Trade Routes in Ancient India - New Delhi - 1977.
Muir, J. Origional Sanskrit Text on the Origion of History of the people of India London 1874 Vol. II third edn. Indian Reprint New Delhi 1976.
Mujumdar , A. K. Early Hindu India- Vol. I, II sec. edn. New Delhi 1981.
Mujumdar, R. C. The classical Accounts of India Calcutta 1960.
Hindu Colonies in the Far East. sec. edn. calcutta 1963.
Champa. Re-pring Delhi 1985.
ed - The history and culture of the Indian people Vol. I The Vedic Age Bombay 1971.
Nagarajalu. S. Buddhist Architecture of Western India-Delhi 1981.
Nainar S.M.H. Arab Geophaer's knowledge of Southern India Madras, 1942.
Naravane, M.S. The Meritime and Coastal Forts of India - New Delhi 1998.
Panikkar, K.M. India's contact with the world in the Pre-British period Nagpur 1964.
Phillipson D.W. The later Pre-History of Eastern and Southern Africa. London 1977.
Prasad P.C. Foreign Trade and Commerce in Ancient India-New Delhi 1977.
Pargiter F.E. Ancient Indian Historical Tradition Re-print Delhi 1972.
Punatambekar S.V. The Developing Unity of Asia Nagpur 1951.

Puri B.N.	India in the Time of Ptanjali - Bombay 1968.
Rao, S. R.	Lothal and Indus Civilzation Bombay 1979.
Rao, S.R.	Ed- Marine Archaeology of Indian Ocean countries proceedings of conference of Oct 1987 - N.I.O. Goa 1988.
	Ed. Recent Advances in Marine Archacology - Proceedings of conference of Jan - 1990 - N.I.O. Goa 1991.
Rhys Davids and S.W. Bushell	On Yuvan - Chwang's Travells in India Vol. I, II Delhi 1961.
Rawlinson, H.G.	Intercourse between India and the Western world Delhi 1977.
Samrat Gangaram	Sindhu Sauveer. Ahmedabad 1984.
Sankaranand	Hindu states of Sumeria - Calcutta 1962
Shastri, A. M.	Brihat Samhita of Varahamihira Delhi 1969.
Shastri, K.A.N.	Foreign Notices of South India. Madras 1939. History of South India - Bombay 1966.
Schoff, S. W.	The Periplus of the Erythraen sea. New Delhi. 1974.
Shridharan, K.	A Meritime History of India. New Delhi 1982
Srinivasan, R.	Harbour Dock and Tunnel Engineering. fifth edn. Anand 1976.
Subramanium, K. S.	Buddhist Remains in South India and Early Andhra History Delhi 1981.
Stephen Knapp	Proof of Vedic Cultur's Globle Existence, USA 2000
Takakasu, J.	Trans. A record of the Buddhist Religion as practised in India and Malay Archipelago by Itsing. Delhi 1966.
Thor Hyerdahl,	Sea routes to Polensia. London 1968.
Toussaint, Auguste,	History of the Indian ocean. London 1966.
Trived, D. S.	Indian chronology, Bombay 1963.
Wadia, D. N.	Geology of India. Bombay 1968.
Warmington, E. H.	The Commerce between the Roman Empire and India. reprinted - Delhi 1995.
William Durant	History of Civilization, our oriental Heritage, Vol. I London 1935.
Zimmer, H.	Art of Indian Asia. Vol. I and II. New York 1955.

UNESCO - History of Mankind. Vol. II, III, London 1975.
British Encyclopaedea - edn - 1997.
The world's lost Mysteries - Ed-Reader's Digest - Sydney - 1977.

हिन्दी, संस्कृत, मराठी ग्रंथ -

१.ओक पुरुषोत्तम नागेश, वैदिक विश्व राष्ट्र का इतिहास खण्ड १ से ४, मुम्बई, दिल्ली १९८६.
२. ओझा गौरीशङ्कर, भारतीय प्राचीन लिपिमाला - पुनर्मुद्रित - नई दिल्ली १९९३.
३. गुरु दत्त, वयं रक्षामः
४. जगन्नाथ प्रभाकर प्राचीन भारतीय विदेश यात्री, दिल्ली १९७४.
५. ठाकूर प्रसार वर्मा भारतीय संस्कृति का इतिहास दिल्ली १९६५.
६. दामोदर झा, भारतीय कालगणना की रुपरेखा जालन्धर १९८५.
७. बापट विष्णु कथासरित्सागर (मराठी) खण्ड एक से चार पुणे १९५७
८. भगवान सिंह हडप्पा सभ्यता और वैदिक साहित्य - खण्ड १, २ नई दिल्ली १९८७
९. भगवदत्त - भारतीय संस्कृति का इतिहास दिल्ली १९६५.
१०. रघुनाथ सिंह, दक्षिण पूर्व एशिया ज्ञानमण्डल वाराणसी
११. राजेन्द्र मिश्र, सुवर्णद्विपीय रामकथा दिल्ली १९६६
१२. रवि प्रकाश आर्य भारतीय कालगणना का वैज्ञानिक एवं वैश्विक स्वरुप - दिल्ली १९९७.
१३. रामजी उपाध्याय भारत की संस्कृति साधना
१४. राम प्रताप त्रिपाठी वायु पुराण (चौखाम्बा सीरीज)
१५. वासुदेव पोद्दार विश्व की कालयात्रा नई दिल्ली २०००
१६. शर्मा आचार्य श्रीराम मत्स्य पुराण बरेली १९७०, मार्कण्डेय पुराण १९६९, विष्णु पुराण १९७०.
१७. शर्मा रामबिलास पश्चिमी एशिया और ऋग्वेद - दिल्ली १९९४.
१८. शामशास्त्री आर कौटिलीय अर्थशास्त्र - म्हैसूर १९२४.
१९. शाण्डिल्य राजेश्वरी भाषा साहित्य एवं संस्कृति कानपुर १९९८.
२०. शिवाजी सिंह ऋग्वेदिक आर्य और सरस्वती-सिंधु सभ्यता वाराणसी २००४
२१. श्रीराम गोयल विश्व की प्राचीन सभ्यताएँ वाराणसी १९९४.
२२. सत्यकेतु विद्यालङ्कार दक्षिण पूर्वी और दक्षिण एशिया में भारतीय संस्कृति, मसुरी १९७७.
२३. सातवलेकर श्री. दा. ऋग्वेद संहिता, स्वाध्याय मण्डल, पारडी
२४. सुरेश सोनी भारत में विज्ञान की उज्जवल परम्परा, भोपाल २००३.
२५. हेबालकर शरद भारतीय संस्कृति का विश्वसञ्चार दिल्ली १९९२.
श्रुति एवं स्मृति वाङ्मय, रामायण, महाभारत.□

स्थलनाम सूची

व्यक्तिनाम सूची

अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना

प्रेरणा

श्री बाबासाहब (उमाकांत केशव) आपटे

(कलियुगाब्द ५००५-५०७४)

परिपूर्ति

श्री मोरेश्वर नीळकंठ पिंगळे

(क.यु. ५०२१ - ५१०५)